लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ

लेखक

देवीलाल सामर

प्रकाशक

भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर

□ भारतीय लोककला ग्रंथावली : संख्या १६
□ प्रथम संस्करण : अक्तूबर १९६८
□ मूल्य : रु० १५.००
□ प्रकाशक : भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर (राजस्थान)
□ मुद्रक : जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ

१

लोकसंगीत

१-१०२

विषय-सूची

२

लोकनृत्य

१०७–१५६

३

लोकनाट्य

१६३–२८४

भूमिका

भारतीय लोकधर्मी कलाएँ पिछले कुछ वर्षों से हमारे विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने लगी हैं। उससे पहले वे उच्चवर्गीय कलाओं के निम्नस्तरीय स्वरूप ही समझी जाती थीं और विद्वज्जन उस ओर तनिक भी आकर्षित नहीं होते थे। जिन विद्वानों ने इस दिशा में शोध आदि का कुछ भी कार्य किया, उन्होंने भी इनके साहित्य-पक्ष को ही देखा और कला-पक्ष को अछूता ही छोड़ दिया। लोकगीत संबंधी कई विद्वानों के शोधकार्य हमारे समक्ष हैं। भारत की बहुधा सभी क्षेत्रीय भाषाओं के लोकगीत-संकलन तथा तत्संबंधी विवेचन भी प्रकाशित हुए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन विद्वानों ने ऐसी मूल्यवान् संपदा की ओर हमारा ध्यान खींचा है, जिसने लोकजीवन को सर्वदा ही रसाप्लावित किया है तथा उसे यांत्रिक और नीरस होने से बचाया है। लोकगीतों की शाब्दिक एवं साहित्यिक महत्ता दर्शाने तथा लोकसाहित्य के इस विपुल भण्डार में से रत्न चुन-चुन कर भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि करने में इन विद्वानों ने कोई कमी नहीं रखी है, अतः जहाँ तक हमारे साहित्यकारों एवं चिन्तकों का प्रश्न है, उन्होंने पूरी तरह अपना कर्त्तव्य निभाया है और उन परम्परावादी विद्वानों को करारा जवाब दिया है, जिन्होंने लोकसाहित्य को साहित्यिक दर्जा देने से सदा ही इन्कार किया है।

हमें शिकायत उन कलाविदों से है, जिन्होंने सर्वदा ही लोकसंगीत, नाट्य एवं नृत्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है एवं लोकपक्षी कलाओं को अशिक्षित एवं असंस्कृत लोगों की कला मानकर उनकी खिल्ली उड़ाई है। शास्त्रीय नृत्यकारों ने लोकनृत्य को नृत्य का अत्यन्त प्राथमिक स्वरूप मानकर उसको अत्यंत हीन नृत्य बतलाया है। परन्तु सौभाग्य से इस समुदाय की संख्या हमारे देश में लोकधर्मी कलाओं के उन असंख्य प्रयोगियों की तुलना में इतनी कम है कि उनकी आवाज का आज कोई मूल्य नहीं रहा है। आज तो वह समय आया है जब हमारे देश में ऊँच-नीच का विचार, न केवल मानवीय स्तर से बल्कि साहित्य और कला के स्तर से भी प्रायः समाप्त सा हो गया है। लोककलाएँ पुनः प्रतिष्ठापित हुई हैं और भारतीय जीवन को पुनः रसप्लावित

करने लगी है। शास्त्रीय कलाओं का एकाधिपत्य प्रायः समाप्त सा होने लगा है और दोनों को अपना-अपना उचित दर्जा प्राप्त हुआ है। जहाँ शास्त्रीय कलाओं के प्रतिष्ठान हमारे देश में क़द्र पा रहे हैं, वहाँ लोककलाओं के प्रतिष्ठानों को भी आदर मिला है।

भारतीय लोककलाओं के पुनर्जागरण में पश्चिमी विद्वानों का पूरा हाथ है। ब्रिटिश शासनकाल में ग्रियर्सन, कर्नल टाड, टेसीटोरी, विलियम कुक जैसे प्रकाण्ड विद्वानों ने भारतीय लोकजीवन का मंथन करके लोकसाहित्य एवं कला के अनेक लोकपक्षीय रत्नों को खोज निकाला है तथा भारतीय विद्वानों को लोकवाङ्मय के अध्ययन की एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी कई भारतीय विद्वानों को अध्ययनार्थ विदेशों में जाने तथा वहाँ के लोकवाङ्मय-संस्थानों (Folk lore institutes) से प्रेरणा प्राप्त करने का सुअवसर मिला है। इन संस्थानों में लोकगीतों के केवल शब्द-पक्ष पर ही शोध निर्धारित नहीं किया जाता, बल्कि स्वर को शब्द से अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसके वैविध्य, संचरण, मिश्रण, मिलन, विघटन, उठाव, चढ़ाव, शब्द-स्वर-संगति, स्वर-निष्पत्ति, गायकी के प्रकार, लय-गुंफन आदि के वैज्ञानिक विचार को आधार माना जाता है। इन विविध लोकवाङ्मय शोध-संस्थाओं में अनेक संगीत-विशेषज्ञ, ताल-विशेषज्ञ, रचना-विशेषज्ञ, साहित्यवेत्ता, नृतत्वशास्त्री, नृत्य-नाट्यशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक काम करते हैं। सहस्रों गीतों का वहाँ संकलन, रेकार्डिंग,वर्गीकरण, विश्लेषण, विवेचन एवं उनके कला-पक्ष का विशद अध्ययन होता है। लोकनृत्यों की अंगभंगिमाओं का विवेचन, रेखा-करण (Notation) एवं उनकी गीत-नृत्य-नाट्य-साहित्य-संगति एवं उनके समाजीकरण पर वहाँ अत्यंत वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य होता है। नाटक के कला-पक्ष पर वहाँ जो भी शोध हुई है वह अभूतपूर्व है। लोकनाट्य की रचना-विधि से लेकर उसके अभिनय, चित्रण, प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय विवेचन, पात्र-चरित्र-विवरण, चरित्र-चित्रण, कथा एवं संवादों का व्यवहारी-करण एवं उनकी अनेक मनोवैज्ञानिक लोकदशाओं पर जो भी शोधकार्य हुआ है वह आश्चर्य में डालने वाला है।

प्रसन्नता की बात यह है कि अब इस दिशा में भारतीय विद्वानों का भी ध्यान गया है तथा केन्द्रीय एवं राजकीय संगीत नाटक अकादमियों ने भी लोकधर्मी कलाओं को महत्त्व प्रदान किया है। आकाशवाणी के लगभग सभी केन्द्रों ने लोकसंगीत एवं लोकधर्मी कलाओं के प्रायः सभी कलाकारों एवं

विद्वानों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया है। लोकगीतों के प्रसारण के लिये तो सभी केन्द्रों पर अलग से समय निर्धारित है। आकाशवाणी के केन्द्रीय कार्यालय में लोकसंगीत निदेशालय की अवस्थिति तथा उसके लिये अधिकारी विद्वानों की नियुक्तियाँ हमारे लिये बड़े महत्त्व की बात है। इस विभाग के अन्तर्गत लोकगीतों के संकलन, अध्ययन आदि का समुचित प्रबन्ध है। यत्र-तत्र हमारे देश में लोकधर्मी कलाओं संबंधी गोष्ठियाँ, सम्मेलन, समारोह आदि भी लोककलाओं के पुनर्जीवन की दिशा में बहुत ही आशाजनक एवं उन्नत कदम हैं।

सन् १९५२ में जब भारतीय लोककला मण्डल की स्थापना के साथ उसके उद्देश्य और कार्य-विधि की घोषणा हुई तो विद्वज्जगत् में काफ़ी हलचल मची थी। तब यही प्रतिक्रिया सामने आई कि लोकसंगीत, लोकनृत्य, और नाट्य विषयक एक अखिल भारतीय स्तर की संस्था की क्या आवश्यकता है? संस्था की उस प्रारम्भिक अवस्था में उस चर्चा को पचा लेने के अलावा हमारे लिये कोई चारा नहीं था। हमारी सभी घोषित योजनाएँ उस समय केवल कागज़ पर थीं और उनको पूरा प्रकाशन भी नहीं मिला था। शोध, खोज, संकलन, अध्ययन, विवेचन एवं वर्गीकरण की बात तो दूर रही, कार्यकर्ताओं के बैठने के लिए संस्था के पास कोई स्थान तक नहीं था। जब पहली बार संस्था की ओर से एक उच्चस्तरीय लोक-कलाकारों की मंडली ने समस्त देश में प्रदर्शन दिये, तो चाहे हमें धन भले ही न मिला हो, परन्तु यह उपलब्धि अवश्य हुई कि विद्वानों ने रंगमंच पर प्रदर्शित इन विशुद्ध लोकनृत्यों एवं गीतों को अत्यन्त रुचिपूर्वक देखा और उनमें बड़ी आस्था प्रकट की। उसके बाद तो गणतंत्र समारोह के उपलक्ष में अखिल भारतीय स्तर पर दिल्ली में लोकनृत्य समारोह भी होने लगे और विभिन्न राज्यों के अत्यन्त मौलिक एवं रंगीन लोकनृत्य प्रथम बार जनता के समक्ष आये। राष्ट्र की इस अत्यन्त महिमामयी थाती पर सबको गर्व का अनुभव हुआ। यह कहना नहीं होगा कि इन सब विशिष्ट घटनाओं के फलस्वरूप भारतीय लोककला मण्डल को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही जनता का प्रेम और सहयोग प्राप्त हो गया और हम केवल नृत्य-प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रहकर प्रदर्शनकारी-लोककलाओं के अध्ययन, संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, संशोधन, परीक्षण, प्रयोग एवं प्रकाशन के कार्य में संलग्न होगये।

इसी कार्य के दौरान जब हमें अपनी संस्था में एक उच्चकोटि के पुस्तकालय की आवश्यकता हुई तो हमें भारतीय भाषाओं में तत्संबंधी साहित्य

मिलना अत्यंत कठिन हो गया; जो भी लोकगीतों की पुस्तकें हमें उपलब्ध हुईं, उनमें गीतों के साहित्यिक कलेवर (Literary content) तथा उनके सामाजिक अध्ययन के अलावा कुछ भी नहीं मिला। ऋतु, जन्म, मरण, विवाह, उत्सव, त्यौहार, विरह, मिलन, शृंगार, पारिवारिक संबंध आदि विषयों पर गीतों का वर्गीकरण एवं विवेचन करके ही हमारे विद्वान् लेखक संतुष्ट हो गये, परन्तु उनकी आत्मा का निखार दर्शाने तथा उनको जन्म देने वाले स्वर-संयोजन का किसी ने दर्शन नहीं कराया। इन पुस्तकों में लोकगीतों का पाठ्य-स्वरूप हमें अवश्य दृष्टिगत हुआ, परन्तु उनका श्रव्य-स्वरूप बिन छुआ ही रह गया। लोकनाट्य संबंधी पुस्तकों में भी शास्त्रीयनाट्य-तत्वों के आधार पर नाट्य-विवेचन करने की भूलें हममें से कइयों ने की हैं। यदि इस ओर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य हमारे देश में हुआ है तो वह यह कि आज प्रचलित और अप्रचलित अनेक लोकनाट्यों के अधिकांश कलेवर (text) पुस्तकाकार उपलब्ध हो रहे हैं। उनके प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय विधान, अभिनय-शैली एवं उनकी धुनों के संबंध में दर्शकों एवं प्रदर्शकों को पूर्व जानकारी होने से इन सबका अभाव उनके प्रयोक्ताओं को तो नहीं खटकता, परन्तु उन सब अध्येताओं के लिये ये पुस्तकें अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकी हैं। फिर भी हमें इस किस्म की जितनी भी पुस्तकें मिलीं, उनका संकलन हम बराबर करते रहे। सर्वप्रथम राजस्थान से ही यह कार्य शुरू हुआ। हमारे शोध-कार्यकर्त्ता समस्त राजस्थान में बिखर गये और इन लोक-रत्नों को खोज करने लगे। उनके विविध कला-पक्षों का सर्वेक्षण किया गया, स्थिर एवं चलचित्र बनाये गये, लोकगीत-गायकों की सूचियाँ तैयार की गईं, उनके गीतों का ध्वनि-संकलन किया गया, उनकी धुनों एवं लय के आधार पर वर्गीकरण हुआ, उनमें निहित धुनों में शास्त्रीय रागों के मूल आधार खोजे गये, उनकी स्वरलिपियाँ बनाई गईं और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि उनमें से कुछ चुने हुए लोकनाट्यकारों, गायकों तथा वाद्यकारों को हमारी संस्था में स्थायी नियुक्तियाँ दी गईं।

इस सब कार्य के दौरान पिछले सोलह वर्षों में जो भी अनुभव हुआ उसको हमने आत्मसात् किया। इस बीच मुझे दो बार विदेश जाने का अवसर मिला और वहाँ के कई लोकवाङ्मय-संस्थान (Folklore institutes) देखने, विद्वानों से भेंट करने तथा उन्हें भारतीय लोककलाओं से अवगत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सन् १९६० से ही मैंने अपने ये सब अनुभव लेखबद्ध करने शुरू कर दिये तथा नवीन दृष्टि मिलने पर उनका पुनर्लेखन भी

किया। इस तरह नये-नये विचार मिलते रहे, नये अनुभव होते रहे और मेरी लिखित सामग्री में कई बार संशोधन की आवश्यकता भी हुई। इस तरह मेरी पुस्तक १९६५ में ही तैयार हो गई। उसी वर्ष मुझे पुनः विदेश जाने का अवसर मिला और अपने नवीन अनुभव के आधार पर मेरी पुस्तक में अनेक परिवर्तन आवश्यक हो गये। इसी दौरान कई भारतीय पत्रों के लिये भी मैं अपने विचारों को लेखबद्ध करता रहा। उनमें से कुछ लेख मेरी इस परिवर्धित पुस्तक के अंश भी बन गये। पहले यह विचार था कि इस पुस्तक के गीत, नृत्य एवं नाट्यपक्ष पर अलग-अलग पुस्तक लिखी जाय। यह मनोःकामना पूरी भी हो जाती, परन्तु बाद में ऐसा लगा कि इन तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व कई जगह विचारों की पुनरावृत्ति के कारण दुर्बल पड़ जायेगा। अतः इन तीनों का एक समन्वित रूप ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना ठीक समझा। ऐसा करने से दो कठिनाइयाँ अवश्य सामने आई हैं, एक है कई परिच्छेदों में विचारों की पुनरावृत्ति। मैंने जानबूझ कर इस पुनरावृत्ति को यथावत् रहने दिया है। यदि उसे दूर करने का प्रयास करता तो विचार असंबद्ध हो जाते और उनकी कड़ियाँ टूट जातीं। उदार पाठकों से क्षमा-याचना करते हुए मैं उन्हें यथावत् रखने की उनसे अनुमति चाहता हूँ। दूसरी कठिनाई जो सामने आई, वह पुस्तक के नाम की थी। सार्थकता की दृष्टि से इस पुस्तक का नाम होना चाहिये था "भारतीय लोकसंगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य—एक अध्ययन"। इतना लंबा नाम शायद पाठकों को रुचता नहीं इसलिये इसका नाम मैंने "लोक-धर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ" ही रखना उचित समझा। प्रदर्शनकारी शब्द से भी शायद कुछ महानुभावों को आपत्ति हो परन्तु यह शब्द आवश्यक इसलिये हो गया कि लोककला के अन्य अप्रदर्शनकारी स्वरूपों से उसे बचाना था। बहुधा नृत्य, गीत, नाट्य ही प्रदर्शन योग्य होते हैं, चाहे उनका उपयोग स्वान्तः-सुखाय हो या जनता के मनोरंजन के निमित्त।

इस पुस्तक में मैंने इन कलाओं के तात्त्विक पक्ष को ही प्रधानता दी है क्योंकि इस समय हमारे देश में लोकनृत्य, लोकनाट्य एवं लोकसंगीत के संबंध में अनेक मत एवं भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। हम अभी भी किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। इस पुस्तक में विवेचित अपना मत ही सर्वसम्मत मत मान लूँ, ऐसी धृष्टता भी मैं नहीं करूँगा। इसलिये मैं ईमानदारी के साथ साफ़ कह देना उचित समझता हूँ कि ये सब मत मेरे अपने हैं, जिनके पीछे भले ही अत्यन्त बोझिल और महत्त्वप्राप्त पुस्तकों के संदर्भ ही कोष्ठक में न दिये गये हों, परन्तु मेरे पिछले ३५ वर्षों का अनुभव इनमें अवश्य निहित है। मैं अपनी

बाल्यावस्था से ही रंगमंच का व्यक्ति रहा हूँ और उसी से मैंने जीवन का समस्त रस ग्रहण किया है। आज भी रंगमंच ही मेरा प्रयोग एवं अध्ययन-स्थल बना हुआ है।

मेरा यह विनम्र प्रयास यदि मेरे विद्वान् पाठकों के लिये थोड़ा भी उपयोगी सिद्ध हुआ तो मैं अपने को धन्य मानूंगा। मैं अपने प्रिय साथी श्रीयुत रूपलाल शाह को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके आग्रह से यह प्रकाशन संभव हुआ है। यदि उनका दबाव नहीं होता तो मैं अपने स्वर्गीय पुत्र गोविन्द के निधन से उत्पन्न अपनी उत्पीड़ितावस्था में इस पुस्तक को पुनः एक बार देखकर प्रेस में जाने योग्य नहीं बना सकता था। संस्था के शोधभारी डॉ० महेन्द्र भानावत का भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को अतिशीघ्र प्रकट होने में मेरी सहायता की। इस पुस्तक में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत होने वाले सभी लोकगीतों की स्वरलिपियां हमारे संगीताधिकारी श्रीयुत सम्पतकुमार शर्मा ने बनाई है। अतः मैं उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

दीपमालिका २०२५ वि०

देवीलाल सामर

१

लोकसंगीत

लोकसंगीत

साधारणतः सबकी यह मान्यता है कि वह गीत लोकगीत है, जो जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होता है और जन-साधारण की भावनाओं को व्यक्त करता है। पिछले कुछ वर्षों में लोक शब्द ग्राम के अर्थ में भी रूढ़ हो गया है, अतः लोकगीत गाँवों में गायेजानेवाले गीतों की ओर ही संकेत करता है। ये दोनों ही तात्पर्य अपूर्ण होते हुए भ्रामक भी हैं। लोकगीत जन-साधारण द्वारा भी प्रयुक्त होते हैं और जन-साधारण अधिकतर गाँवों में ही है, इसलिये यह तात्पर्य सही होते हुए भी अपूर्ण इसलिये है कि सभी जन-साधारण द्वारा गायेजानेवाले गीत लोकगीतों की परिधि में नहीं आते। वैसे तो आज के फिल्मीगीत, जितने जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होते है, उतने कोई भी नहीं, फिर भी वे लोकगीतों की श्रेणी में नहीं आते। गीतों की लोकरंजकता, उनके प्रभाव और प्रचारक्षेत्र की व्यापकता, तथा उनकी लोकग्राह्यता ही उन्हें लोकगीतों का दर्जा नहीं दे देती। अन्य कई ऐसी कसौटियाँ भी हैं, जिन पर उतरकर ही उन्हें लोकगीतों का दर्जा प्राप्त होता है।

किसी भी कलाकृति का अपना रचयिता अवश्य होता है, जो उस कृति के पीछे सूर्य के समान दैदीप्यमान रहता है। वही कृति अपने रचयिता से चमत्कृत होती है और उसका रचयिता भी उसी कृति से चमत्कृत होता है। रचयिता के व्यक्तित्व की छाप उस कृति पर स्पष्ट अंकित रहती है, परन्तु लोकगीतों में उनका रचयिता छिपा रहता है, कहीं भी उसके व्यक्तित्व का आभास नहीं मिलता। ऐसी असंख्य रचनाएँ अनादिकाल से अनेक कंठों से उद्भासित होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कुछ ही रचनाएँ प्रकाश में आती हैं और शेष पानी के बुदबुदों की तरह विलीन हो जाती हैं। कुछ रचनाएँ अपने विलक्षण गेय तत्त्वों के कारण समाज में प्रचलित रहती हैं, उन्हें लोग उनके रचयिताओं के कंठों से सुनते हैं, सराहते हैं और वे कृतियाँ रचयिता की धरोहर के रूप में उनकी प्रतिभा को प्रकाशमान करने के लिए प्रकाशित भी होती हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे लोकगीतों का दर्जा प्राप्त कर सकें। उनमें साहित्यिक एवं कलात्मक गुण होते हुए भी वे अपने सीमित दायरे में ही रहती हैं। वे समाज की धरोहर नहीं बनतीं। सामाजिक धरोहर बनने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे गुण यदि आज मानव शक्ति के अन्दर होते

तो प्रत्येक रचयिता उन गुणों के अनुसार गीत रच देता और वह लोकगीत बनाने का श्रेय प्राप्त करलेता। अतः यह जानना अत्यन्त कठिन है कि असंख्य रचेजानेवाले गीतों में से कौनसा गीत ऐसा है जो लोकगीतों की श्रेणी प्राप्त करनेवाला है अथवा जिसे समाज अपना बनाकर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित करेगा। इसका यह भी अर्थ नहीं कि जो गीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है, वह स्वर-गठन, शब्द-चयन तथा संगीत की दृष्टि से वैयक्तिक प्रभाव और रचयिता के व्यक्तित्व से जुड़े रहनेवाले वैयक्तिक गीतों से श्रेष्ठ होता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अनन्तकाल से रचेजानेवाले ये वैयक्तिक गीत किसप्रकार और किन गुणों के कारण लोकगीतों का दर्जा प्राप्त कर लेते हैं।

एकबार ऐसे वैयक्तिक गीत सामाजिक अभिरुचि की पकड़ में आ जाते हैं तो उनमें अनेक प्रक्रियाएँ होने लगती हैं और वे अनेक कसौटियों पर कस कर अन्ततोगत्वा लोकगीतों की परिधि में प्रविष्ट होते हैं और उनमें विशेष प्रकार का संचरण होने लगता है। यह प्रक्रिया किसी प्रभाव या प्रयत्न से नहीं हुआ करती। यह ऐसी अज्ञात प्रक्रिया है, जो अनादिकाल से चली आरही है और जिसके कार्य, कारण का कोई पता नहीं है। किसी भी लोकगीत का उसके रचनाकाल से लेकर उसके पूर्ण विकसित स्वरूप के क्रमिक विकास का कोई लेखा-जोखा रखना चाहे तो असंभव है और यदि किसी लोकगीत के क्रमिक विकास का क्रम जाना भी जा सके तो यह समझ लेना चाहिए कि वह लोकगीत की श्रेणी में नहीं है। अतः यह तो मान ही लेना उचित है कि कुछ गीत वैयक्तिक रचना की परिधि से बाहर निकलकर तथा सामाजिक स्तर पर विकास की चरम सीमा प्राप्त करके ही लोकगीतों का दर्जा पाते हैं।

किसी भी गीत का बहुत अधिक प्रचलन तथा उसके बोधगम्य क्षेत्र का विस्तार ही उसे लोकगीत का दर्जा प्रदान नहीं करता। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि संतों के हजारों गीत सैकड़ों वर्षों से अपने साहित्यिक, सामाजिक तथा नैन गुणों के कारण समाज में प्रचलित है, परन्तु फिर भी उन्हें लोकगीतों का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ है। अतः लोकगीतों के क्रमिक विकास में जो प्रक्रिया निहित है, वह कुछ और ही है। मोटे तौर पर हम इस संबंध में यह कह सकते हैं कि ऐसे गीत अनेक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से बनते हैं तथा उनसे प्रादुर्भूत लोकगीतों के स्वर तथा शब्द अनायास ही लोगों के मन पर असर कर जाते हैं और अज्ञात रूप से उनके स्वर-संगठन तथा शब्द-नियोजन में परिवर्तन होने लगता है। यह प्रक्रिया क्यों और किस क्रम से होती है, इसका पता लगाना

आसान नहीं है। ऐसे गीत अज्ञात रूप से ही लोगों के कंठों पर विराजते हैं तथा उनके मानस की क्रिया-प्रक्रियाओं के मुख्य विषय बन जाते हैं। गीतों के नियोजन, प्रायोजन से उनका कोई संबंध नहीं रहता। धीरे-धीरे उनका प्रभाव और प्रभावक्षेत्र बढ़ता जाता है और लोग उन्हें अनायास ही गाने लगते हैं, उन्हें विधिवत् सिखलाया नहीं जाता, वे सामाजिक संतान की तरह अपने सामाजिक परिवार में खेलते कूदते तथा विचरित होते रहते हैं। वे दीपक के प्रकाश की तरह फैल जाते हैं। प्रारम्भ में उस दीपक की लौ छोटी होती है, परन्तु लोकजीवन की सशक्त अनुभूतियों के साथ समाज का सशक्त मस्तिष्क उनमें जीवन भरता रहता है और उस दीपक की लौ अधिक प्रकाशमान और सशक्त होती जाती है। ये गीत स्वर-संयोजन, लयकारी शब्द-चातुर्य तथा अर्थ-चमत्कार की पेचीदगियों से कोसों दूर हैं, तथा स्वरों के मर्मस्पर्शी और शब्दों की अपूर्व व्यंजना-शक्ति के कारण अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। इन गीतों के मूल रचयिता की प्रतिभा में अनेकों सामाजिक प्रतिभाओं का सामंजस्य होता है, जिससे ये सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयोग से जन-जीवन में घुलमिलकर लौकिक तत्त्वों से सराबोर हो जाते हैं। इन तथ्यों के साथ दूसरा तथ्य और है, जो इन गीतों को सैकड़ों वर्षों तक सजीव और सप्राणित रखता है, वह है उनके साथ प्रयोक्ताओं की ममता। सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयोग तथा लगाव के कारण मनुष्य के दुःख-सुखों से जुड़े हुए ये गीत उनकी ममता के साथ लिपट जाते हैं तथा विवाह-शादियों, पर्व-संस्कारों, पूजा-पाठों तथा उनकी अनुष्ठानिक क्रियाओं के साथ संस्कारवत् जुड़ जाने से ये गीत लम्बे समय तक जीवित रह जाते हैं।

लोकगीतों का विकास

कभी-कभी हम भूल में यह मान लेते हैं कि लोकगीत मनुष्य की अविकसित अवस्था के द्योतक हैं। यदि इस कथन में कुछ भी तथ्य होता तो मानव की आज की अत्यन्त विकसित अवस्था में लोकगीतों का चिन्ह भी नहीं बचता, परन्तु बात यह नहीं है। लोकगीतों का प्रचलन आज भी उतना ही है, जितना मनुष्य की अविकसित अवस्था में था। वास्तव में मनुष्य की शिक्षा, दीक्षा तथा उसकी सभ्यता के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है तो उतना ही है कि मनुष्य की विकसित अवस्था के गीतों में प्रौढ़ता तथा साहित्यिक गुणों का बाहुल्य रहता है और अविकसित अवस्था के गीतों में उनका अभाव। आज की आदिम जातियों के गीतों में तथा अन्य विकसित

जातियों के लोकगीतों के गेय तत्वों में समानता रहते हुए भी उनके स्वर, शब्द तथा अर्थ के रचनाकौशल में काफी अन्तर रहता है।

उक्त दृष्टि से लोकगीतों की अनेक विकास-सीढ़ियाँ हो सकती हैं; जैसे आदिम जातियों के गीतों में शब्द तथा स्वरों का चयन अत्यन्त सरल तथा प्राथमिक अवस्था में होता है। इन जातियों का सरल संक्षिप्त जीवन तथा इनका निर्लिप्त सामाजिक गठन इनके गीतों में दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है। इनके गीत भी स्वर, शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त सरल तथा संक्षिप्त होते हैं। इसी तरह मानवी सभ्यता के प्रभावों से दूर रहनेवाली तथा शिक्षा-दीक्षा और मानवी अनुभूतियों से हीन जातियों के गीत भी आदिम जातियों के गीतों की तरह ही सरल और संक्षिप्त होते हैं। उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुरूप ही उनके गीतों का चयन होता है। यही कारण है कि जब हम शिक्षित और सभ्य कहलानेवाले प्राणी इन अविकसित जातियों के गीत सुनते हैं तो वे हमें अधिक प्रिय और रुचिकर नहीं लगते। इसका कारण यह नहीं है कि वे गीत लोकगीतों के दर्जे से नीचे हैं। कारण केवल यही है कि उन्हें सराहने और आत्मसात् करने के लिये हमारे पास संवेदना नहीं है। जो गीत उन आदिम जातियों के मन में आनन्द का संचार करते है, या जिनको वे आत्मसात् करके आत्मविभोर हो जाते हैं, उनसे हम प्रभावित नहीं होते, क्योंकि उन्हें सराहने योग्य विशिष्ट परिस्थितियों और अनुभूतियों से हम दूर हैं।

सांस्कृतिक विकास की इन अवस्थाओं के अनुसार लोकगीतों की विविध विकास-सीढ़ियों का कभी यह तात्पर्य नहीं है कि जो अशिक्षित वर्ग है, उसके गीत साहित्यिक तथा संगीतिक तत्वों से हीन होते हैं और जो शिक्षित समाज है, उसके गीत ही विकसित हैं। अविकसित समाज के गीतों में शब्द, स्वर तथा तात्पर्य की सरलता अवश्य होती है; परन्तु गीतों का स्वाभाविक सौन्दर्य तथा उनके मर्मस्पर्शी गुण विकसित समाज के गीतों से किसी तरह कम नहीं होते। यदि कोई कमी होती है तो उनके कल्पना-सौन्दर्य तथा अर्थ और शब्द वैचित्र्य में होती है, जिसका गीत के मर्म से अधिक कोई संबन्ध नहीं होता है। कभी-कभी तो सभ्यता तथा यांत्रिक जीवन की चकाचौंध में ये सभ्य तथा विकसित समाज के गीत बौद्धिक तत्त्वों से दब जाते हैं तथा ग्राम्यगीतों की तुलना में अपने मर्मस्पर्शी तत्त्वों को खो बैठते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी गाँवों में रहनेवाला पुस्तकीय ज्ञान से हीन; परन्तु मानवीय ज्ञान और अनुभूतियों से परिपक्व समाज ऐसे लोकगीतों का धनी होता है, जो गीति-तत्त्वों से भरपूर होते हैं।

लोकजीवन की अनेक ऐसी अवस्थाएँ भी हैं, जिनके अनुसार गीतों के स्वर तथा शब्दों में अंतर आता रहता है। लोकगीत जब अपनी सामाजिक सीमाओं को पार करके कुछ व्यवसायिक और विशिष्ट जातियों की धरोहर बन जाता है तो भी उसमें फर्क आ जाता है। ये जातियाँ मूल गीत की स्वर तथा शब्द-रचना को कायम रखती हुई भी उनमें वैयक्तिक स्वतंत्रता ले लेती हैं, और उन्हें अपने ढंग से गाने लगती हैं। इन जातियों को अपनी आजीविका उपार्जन हेतु तथा अन्य जातियों के साथ व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा के कारण अपनी कलाकृतियों को चमत्कृत करनी पड़ती है, जिससे ये सामाजिक लोकगीत एक विशिष्ट परिपाटी का अनुशीलन करने लगते हैं और मूल लोकगीतों से कुछ भिन्न से लगते हैं। उनकी गायन-शैली में कुछ शास्त्रीय तत्त्वों का आभास होने लगता है और गायक अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप उन पर अंकित कर देता है।

इसी तरह की दूसरी मिसाल है उन गीतों की जो शौकिया ढंग से गानेवाले कुछ शहरी लोगों के कंठ पर विराज जाते हैं। ऐसे लोग इन गीतों का अत्यधिक परिष्कार कर देते हैं, विशेष करके स्वर तथा शब्दोच्चार में, जिनमें इन गीतों के प्राण निहित रहते हैं। वे उन्हें तान, मुरकियों तथा विशिष्ट लहजों से इतना अलंकृत कर देते हैं कि वे अपना स्वाभाविक सौन्दर्य खो बैठते हैं तथा गायन की लोकशैली से काफ़ी दूर हो जाते हैं।

दूसरी अवस्था वह है, जब समस्त समाज ही सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक स्तर को प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में लोकगीतों का स्तर भी बढ़ता है। लम्बे समय से प्रचलित लोकगीत स्वयं भी लोकमानस के परिवर्धन तथा परिष्कार के साथ संशोधित एवं परिष्कृत होते रहते हैं और नवीन परिधान धारण करते रहते हैं। वे जीवन के साथ इतने घुलेमिले रहते हैं कि इस सूक्ष्म परिवर्तन का किसी को पता भी नहीं रहता। वे सैकड़ों वर्षों से पारिवारिक जन की तरह जीवन के साथ जुड़े रहते हैं। वे उन वैयक्तिक गीतों की तरह नहीं होते जो व्यक्तिगत रुचि-अरुचि पर अवलम्बित रहते हैं तथा जिनका अस्तित्व भी रचनाकार के अस्तित्व के साथ जुड़ा रहता है, परन्तु सच बात तो यह है कि लोकगीत को किसी रचयिता के अस्तित्व पर आधारित नहीं रहकर उसे स्वयं के गुणों पर ही जीवित रहना पड़ता है।

लोकगीतों की स्वर प्रधानता

गीतों में गेय गुण की प्रधानता रहने के कारण उनके स्वरों का आधिपत्य शब्दों पर सदा ही बना रहता है। यही ऐसा तत्त्व है जो उन्हें कविता से

प्रगट करता है। मणिपुर, त्रिपुरा तथा मध्यप्रदेश की आदिम जातियों के अनेक गीत ऐसे हैं जिनमें प्रायः शब्द हैं ही नहीं। उनकी लयप्रधान गूंज ही उन गीतों का कलेवर होती है। ये जातियाँ अपनी नृत्य-प्रधान मुद्राओं में इन गीतों को गाती रहती हैं। इनमें जो भी शब्द शेष रह गये हैं वे विविध परिस्थितियों में विविध तात्पर्य धारण कर लेते हैं। सामूहिक रूप से ये गीत केवल उनकी ध्वनियों के माधुर्य के कारण ही गाये जाते हैं। कुछ शब्द उनके साथ जुड़े हुए अवश्य होते हैं, परन्तु गायक का मूल आनन्दस्रोत उन गीतों की धुनों में है, शब्द-चातुर्य में नहीं। जिस तरह किसी कविता में गेय तत्त्वों का माधुर्य विद्यमान है तो उसके शब्दों का महत्त्व भी बढ़ता है, उसी तरह यदि किसी लोकगीत में गेय गुणों के साथ शब्द-चातुर्य भी है तो उसके चार चाँद लग जाते हैं। यह बात भी सही है कि जिस तरह शास्त्रीय संगीत में शब्द बिल्कुल ही गौण हो जाता है उस तरह लोकगीतों में वह बिल्कुल ही गौण नहीं होता। उसके कुछ लक्षण तो जीवित रहते ही हैं। यदि लोकगीतों में स्वरों की प्रधानता नहीं होती तो वे केवल अपने काव्य-गुणों के कारण इतने दीर्घजीवी नहीं होते। राजस्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय गीत घूमर, पणिहारी, लूर, ईंडोणी, पीपली, गोरबन्द आदि में शब्दों का महत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हुए भी वे अपने गेय गुणों के कारण ही इतने लोकप्रिय और सर्वक्षेत्रीय हो गये हैं।

लोकगीतों का प्रादुर्भाव ही स्वरों से होता है। मनुष्य अपने भावनानिष्ठ क्षणों में अज्ञातरूप से स्वरों की सृष्टि करता है तथा उन्हें गुनगुनाता रहता है। काफी लम्बी अवधिपर्यन्त ये गीत उसके एकाकी जीवन के शृंगार बने रहते हैं तथा उसकी मानसिक अवस्था के अनुरूप ही उनमें परिमार्जन होता रहता है। उसी अवस्था में वह उन्हें उपयुक्त शब्द देता है। ऐसे अनेक गीत रचनाकार के वैयक्तिक दायरे से बाहर निकलकर सामाजिक दायरे में प्रवेश करते हैं और धीरे-धीरे वे सामाजिक व्यक्तित्व धारण करके रचनाकार के व्यक्तित्व से हमेशा के लिये अलग हो जाते हैं। समाज उन्हें सजाता है, सँवारता है तथा उनके समस्त दोषों को दूर कर उन्हें सच्चे हीरे की तरह चमकाता है, उन्हें अपना पारिवारिक जन समझकर उनसे अत्यधिक लगाव का अनुभव करता है।

ऐसे ही गीतों को जब मनुष्य विकास की सीढ़ियों पर चढ़कर देखने लगता है तो साहित्यकार उन्हें साहित्य की कसौटी पर कसता है और संगीतकार उन्हें स्वर की भूमिका में परखता है। दोनों ही उनमें अपूर्व कलानिधि के

दर्शन पाते हैं, परन्तु संगीतशास्त्रियों को उनमें शास्त्र के कोई तत्त्व नज़र नहीं आते, क्योंकि राग-रागिनियों की ऊहापोह, लयकारी की गुत्थियां और तान-पलटों के चमत्कार उनमें बिल्कुल नहीं होते; परन्तु विपरीत इसके साहित्य-शास्त्रियों को उनमें अनमोल खज़ाना मिलता है, क्योंकि साहित्य के शास्त्र में और संगीत के शास्त्र में अंतर है। शास्त्रसंगत साहित्य साहित्य की परिभाषा ही में नहीं आता, जबकि शास्त्रीय संगीत का प्रधान तत्त्व ही उसका शास्त्र है। जिस शास्त्रीय संगीत का शास्त्र ही नहीं, वह शास्त्रीय संगीत की परिपाटी में नहीं आता। इसलिये लोकसंगीत की ओर शास्त्रीय संगीतकार नहीं झुकते। जिस तरह संगीत में लोकसंगीत, सुगमसंगीत तथा शास्त्रीयसंगीत आदि के भेद-विभेद हैं, उस तरह साहित्य में शास्त्रीय साहित्य, लोकसाहित्य तथा सुगम साहित्य जैसे भेद-विभेद नहीं हैं।

साहित्य के सौन्दर्य-परीक्षण में शास्त्र बहुत ही गौण भाग अदा करता है, परन्तु हमारे भारतीय संगीत में शास्त्र का तत्त्व बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र तो साहित्य तथा संगीत में सुन्दरता और प्रौढ़ता प्रदान करनेवाला तत्त्व है। यदि वह शास्त्र ही संगीत या साहित्य बन जाय तो गज़ब ही हो जाय। भारतीय शास्त्रीय संगीत दुर्भाग्य से इसी विडम्बना का शिकार बन गया है। सौभाग्य से भारतीय साहित्य, जो कि मध्ययुग में शास्त्र की विडम्बनाओं में उलझने लग गया था, अब प्रायः उससे मुक्त होने लग रहा है। कला का उद्देश्य शुद्ध सौन्दर्य की सृष्टि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति लोकसंगीत पूर्ण ज़िम्मेदारी से कररहा है। आज का शास्त्रीय संगीत इस दिशा में असफल इसलिये सिद्ध हुआ कि उसने शास्त्र का अत्यधिक सहारा ग्रहण कर लिया है। साहित्य के प्रेमी लोकगीतों के साहित्यिक पक्ष की ओर आकृष्ट हुए और शास्त्रीय संगीत के आचार्य उधर आकृष्ट नहीं हुए, इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि लोकसंगीत का संगीतपक्ष दुर्बल है और साहित्यपक्ष प्रबल। लोकगीतों की सैकड़ों धुनों के अध्ययन तथा उनके ध्वनि-परीक्षण से यह सिद्ध हो चुका है कि वे अपनी धुनों और स्वर-रचनाओं की ताकत से ही आज जीवित हैं। इन ध्वनियों तथा संगीत की बन्दिशों के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद यह जान-लिया गया है कि उनमें से शब्द हटा लेने पर उनके प्रभाव में अधिक अंतर नहीं आता।

लोकगीत अत्यधिक पुराना पड़नेपर संस्कारवत् लोकजीवन से लिपटा रह जाता है तथा उसके शब्द अत्यंत दुर्बल हो जाते हैं। कहीं-कहीं तो शब्दों का पता ही नहीं लगता, फिर भी वे गीत समाज की आत्मा बने हुए हैं और

उनकी मधुर धुनों से जनता रसप्लावित होती रहती है। इसका कदापि यह मतलब नहीं कि लोकगीतों का साहित्यिक पक्ष उनका निरर्थक पक्ष है। साहित्य और संगीत के सुन्दर सामंजस्य से ही लोकगीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है। यदि सामंजस्य समाप्त हो जाय तो लोकगीत समाज की सम्पत्ति नहीं रह कर कुछ ही पेशेवर लोगों की सम्पत्ति बन जायेंगे। लोकगीतों को उनका साहित्यपक्ष ताकत प्रदान करता है तथा उन्हें दीर्घजीवी बनाता है, परन्तु वह उनका शरीर है, उनकी आत्मा नहीं। शरीर मरने से आत्मा नहीं मरती, परन्तु आत्मा नहीं रहने से शरीर नष्ट हो जाता है। जिस लोकगीत का केवल शब्दपक्ष रह जाता है और उसका स्वरपक्ष दुर्बल हो जाता है या उसके प्रयोक्ताओं द्वारा दुर्बल कर दिया जाता है तो वह गीत मृतगीत के बराबर ही रह जाता है। ऐसे गीतों में वे गीत शुमार होते हैं, जो पेशेवर जातियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं तथा देवी-देवताओं के गुणगान में प्रयुक्त होते हैं। उनमें जातियों के वंशानुक्रम तथा उनकी नामावलियों की प्रधानता रहती है और उनके गेयतत्त्व कम होजाते है। इसका परिणाम यह होता है कि ये गीत इन जातियों के पास ही रहजाते है तथा जन-जीवन से दूर होते चलेजाते है।

इस संबंध में एक बात की ओर संकेत करना अत्यंत आवश्यक है। संगीत का विद्वान् गीतों के गेयपक्ष का अध्ययन करते समय उसके शास्त्र को ढूंढता है। उसी तरह लोकगीत के साहित्यिक पक्ष के अध्ययन के लिये यदि कोई साहित्यकार उसके शास्त्रपक्ष को खोजने का प्रयत्न करे तो बहुत बड़ी भूल होगी। क्योंकि लोकगीतों में साहित्य का शास्त्रपक्ष शून्य है, फिर भी साहित्यिक विद्वान् लोकगीतों का काव्यात्मक मंथन करता है और उनमें से अमृत निकाल ही लेता है, परन्तु यह कार्य हमारे संगीत के आचार्य नहीं करते। किसी भी लोकधुन को सुनकर उसमें संगीत के तत्त्व निकालने की अपेक्षा वे उसके प्रति अवहेलना का भाव प्रकट करते हैं। वे लोकगीतों के स्वर-लालित्य की खोज नहीं करते। वे यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि विशिष्ट गीतों में विशिष्ट प्रकार का स्वर-चयन क्यों होता है? विशिष्ट स्वर-संगठन से विशिष्ट प्रकार का प्रभाव क्यों पैदा होता है? लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत पर आधारित विशिष्ट राग-रागिनियों की छाया क्यों रहती है? शास्त्रीय तालों की पेचीदगियाँ उनमें नहीं रहते हुए भी गाने के इतने प्रभावशाली झटके उनमें कहाँ से आते हैं? ये सब बातें ऐसी हैं, जिनका विधिवत् अध्ययन तथा परीक्षण संगीत-शास्त्रियों को करना चाहिए।

लोकगीत का रागपक्ष

शास्त्रीय संगीत की मूल रागें, जो दस थाटों से उत्पन्न हुई मानी जाती है, विद्वानों की वैज्ञानिक बुद्धि तथा सूक्ष्म-समझ की द्योतक अवश्य है। अनेक वर्षों तक अनेक विद्वानों ने भारतीय संगीत के सात स्वर तथा पाँच विकृत स्वरों के जोड़-तोड़ से संयत तथा कर्णमधुर रागों की कल्पना अवश्य की होगी और इस दिशा में अनेक बौद्धिक प्रयोग भी हुए होंगे; परन्तु भारतीय लोक-संगीत के परीक्षण से यह ज्ञात हो सकता है कि अनेक शास्त्रीय रागों की छाया लोकगीतों में विद्यमान है। उनके परीक्षण से यह भी ज्ञात हो सकता है कि उनकी रचना में किसी भी शास्त्रकार का हाथ नहीं है, न उनका संचरण कभी भी किन्हीं स्थितियों में किसी शास्त्रकार के कंठ पर हुआ है। इस परीक्षण से शास्त्रीय रागों के प्रादुर्भाव का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संकेत हमें उपलब्ध हो सकता है।

किसी भी लोकगीत के प्रादुर्भाव के समय जिस मानसिक या भावात्मक स्थिति में उसका आदिरचयिता रहता है, उसी के अनुसार उस गीत के स्वरों का चयन अनजान ही में उसके अंतस्तल से प्रकट होता है। उसके कंठ से प्रथमबार मुखरित हुई गुनगुनाहट उसके मानस की विशिष्ट भावावस्थाओं को तुष्ट करती है, उस अभिव्यक्ति से उसको स्वर्गीय आनन्द का अनुभव होता है। उस गुनगुनाहट को वह शब्दों का परिधान भी अनजान ही में पहिनाता रहता है। धीरे-धीरे यह आदिगीत अनेक कंठों पर संचरित होता है और जहाँ-जहाँ उसे सामान्य मानस-अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती हैं, वहाँ वह रेडियो की तरंगों की तरह सुखद आश्रय पाकर दीर्घकालीन संचरण की अवस्था को प्राप्त करता है तथा संशोधित एवं परिवर्धित होकर वह सामाजिक कसौटी पर चढ़ जाता है। उस गीत की रचना के समय कोई यह नहीं देखता कि उसके स्वर-चयन में कौनसा स्वर वादी, संवादी तथा विवादी है। आरोहावरोह में स्वर-क्रम किस नियम से उसमें संचरित होते हैं तथा कौनसे स्वरों के मेल से उस राग की रचना होती है, फिर भी ऐसे अधिकांश गीतों में इन बातों का विलक्षण निभाव मिलता है। उदाहरण के तौर पर राजस्थान के इस प्रमुख लोकगीत का परीक्षण कीजिये :—

लालर गीत

(स्थाई)

लालर लेदो नी नोखीला म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

(अंतरा)

रखड़ी बांधू तो म्हारे कालो डोरो घाटी रो
बिंदली बिना लो म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

(शेष पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत नहीं की गई हैं।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

			सा — सा सा
			ला ऽ ल र
प़ — प़ नी़	नी़ — सा —	रे — रे —	नी़ — सा —
ले ऽ दो ऽ	नी ऽ नो ऽ	खी ऽ ला ऽ	म्हा ऽ रो ऽ
रे — रे —	म — म —	प ध प म	रे — रे सा
जी ऽ व ऽ	त ऽ र ऽ	से ऽ ऽ ऽ	ला ऽ ल र
नी़ — नी़ रे	सा — — —	— — — —	— — — —
ले ऽ दो ऽ	नी ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ

अंतरा

* * प़ प़	नी़ — नी —	सा — सा —	नी — सा —
* * र ख	ड़ी ऽ बां ऽ	धू — तो ऽ	म्हा ऽ रे ऽ
— — रे म	— रे सा —	नी़ — नी़ रे	सा — — —
* * का लो	ऽ डो रो ऽ	घा ऽ टी ऽ	रो ऽ ऽ ऽ
* * ध ध	ध — ध —	प — प ध	प म म —
— — बि द	ली ऽ बि ऽ	ना ऽ लो ऽ	म्हा ऽ रो ऽ

रे	—	रे	—	म	—	म	—	प	ध	प	म	रे	—	रे	सा
जी	ऽ	व	ऽ	त	ऽ	र	ऽ	से	ऽ	ऽ	ऽ	ला	ऽ	ल	र
नी	—	नी	रे	सा	—	—	—	—	—	—	—,	सा	—	सा	सा
ले	ऽ	दो	ऽ	नी	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	ला	ऽ	ल	र
×				०				×				०			

इस गीत में एक स्त्री अपने पति से विशिष्ट अलंकरण लाने का आग्रह करती है। यह गीत शास्त्रीय गीत नहीं है, न यह किसी शास्त्रकार द्वारा ही रचित है। राजस्थान के दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र में गायाजानेवाला यह अत्यन्त प्रचलित लोकगीत है, जिसे ग्राम्यजनता ही गाती है। शास्त्रकार की कल्पना से यह कोसों दूर है। इसकी स्वर-रचना में गौड़सारंग की छाया स्पष्ट है। स्वर-रचना में आरोहावरोह की दृष्टि से भी स्वर-प्रयोग नियमित रूप से हुआ है। यह किसी शास्त्रीय गीत का विकृत या परिवर्तित रूप भी नहीं है। यह विशुद्ध लोकगीत है, जिसकी बंदिश के पीछे कभी भी किसी शास्त्रकार का हाथ नहीं रहा है। एक दूसरे नमूने का परीक्षण और कीजिये :—

बधावा गीत

(स्थाई)

हेली रंग रो बधावो म्हारे नित नवो ए

(अंतरा)

हलो ए मलो हेली बागां में चालां
बागों में जाय हेली कंई करांला
आपी आछी आछी कलियां चूंटां ए हेली…

(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्थाई

										रे	प	म	—
										है	ऽ	ली	ऽ
ग	ग	रे	सा	—	नी़	—	सा	सा	—	ग	रे	रेग	म
रं	ग	ऽ	रो	ऽ	ब	ऽ	धा	वो	ऽ	म्हा	ऽ	रेऽ	ऽ
ग	म	रे	सा	—	नी़	—	सा	—	—,	रे	प	म	—
नि	त	ऽ	न	ऽ	वो	ऽ	श्रे	ऽ	ऽ,	है	ऽ	ली	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

प़	प़	—	नी़	—	नी़	—	सा	—	—	रे	ग	ग	—
ह	लो	ऽ	ए	ऽ	म	ऽ	लो	ऽ	ऽ	है	ऽ	ली	ऽ
रेग	म	—	ग	—	—	रे	नी़	—	—	सा	—	—	—
बाऽ	ऽ	ऽ	गां	ऽ	ऽ	में	चा	ऽ	ऽ	लां	ऽ	ऽ	ऽ
प़	—	—	नी़	—	नी़	—	सा	सा	—	रे	ग	ग	—
बा	ऽ	ऽ	गां	ऽ	में	ऽ	जा	म	ऽ	है	ऽ	ली	ऽ
रेग	म	—	ग	—	—	रे	नी़	—	—	सा	—	ग	म
कंऽ	ऽ	ऽ	ई	ऽ	ऽ	क	रो	ऽ	ऽ	ला	ऽ	खा	पी
प	प	—	प	म	ध	प	म	म	—	ग	रे	ग	रे
आ	खी	ऽ	घा	ऽ	ऽ	खी	क	लि	ऽ	यां	ऽ	ऽ	ऽ
रे	ग	—	ग	म	प	—	म	रे	—,	रे	प	म	—
चूं	ऽ	ऽ	टां	ऽ	•ऽ	ऽ	ए	ऽ	ऽ,	है	ऽ	ली	ऽ
×			२				०			३			

इस गीत में एक स्त्री किसी मांगलिक प्रसंग के लिये अपनी सहेलियों से बाग में जाकर पुष्प लाने का निवेदन करती है। यह गीत भी राजस्थान का अत्यंत प्राचीन और लोकप्रिय गीत है, जो लगभग समस्त राजस्थान में राजस्थानी स्त्रियों द्वारा विवाह-उत्सवों तथा मांगलिक अवसरों पर गाया जाता है। इसे शौकिया ढंग से गाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें राग तिलक-कामोद की छाया स्पष्ट है, तथा इस राग की कई परम्पराओं का निभाव अत्यंत स्वाभाविक ढंग से हुआ है।

लोकगीतों के ये उपर्युक्त दो नमूने तो ऐसे हैं, जिनमें शास्त्रीय रागों की अधिकांश परम्पराओं का निभाव हुआ है, परन्तु अनेक लोकगीत ऐसे भी हैं जिनमें कई शास्त्रीय रागों का बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है। उनमें रागों का स्पष्ट निभाव होते हुए भी विभिन्न रागों के स्वरों का स्वाभाविक चयन मधुर प्रभाव उत्पन्न करने के लिये पूर्ण रूप से सार्थक हुआ है। जैसे :—

सियाळा गीत

(स्थाई)

आज तो सियाळे घणी सी पड़े श्रो मेवाड़ा रा

(अंतरा)

ऐसूं परणी छूं आपरे नार श्रो बादीला रा
मती ना परदेस पधारो रा आज तो....
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

		नी	सां (नी)ध – नी
		आ	ज तो ऽ सि
ध ध – (नी)ध	– म पम गम	ग – – म	ध मध नीसां नी
या ळे ऽ ऽ	ऽ घ णोऽ ऽऽ	ऽ ऽ ऽ सी	प ड़ेऽ ऽऽ श्रो
सां – सां –	नी नीध नी सां	– – –, नी	सां ध – नी
मे ऽ वा ऽ	ऽ ड़ाऽ रा ऽ	ऽ ऽ ऽ, आ	ज तो ऽ सि
		याळे घणो सी	पड़े श्रो मेवाड़ा रा
×	०	×	०

अंतरा

		म	ध मध नीसां नी
		ऐ	सूं पऽ ऽऽ र
सां सां – –	नी नी सां –	– सां मं गं	ऽ रे – सां
णी है ऽ ऽ	धा प रे ऽ	ऽ ऽ ऽ ना	ऽ र ऽ सो
नी सां – –	– नीध ध नी	– – – प	नी ध म –
बा दी ऽ ऽ	ऽ लाऽ रा ऽ	ऽ ऽ ऽ म	ती ना प ऽ
पम गम ग म	ध मध नीसां नी	सां – – –	– नीध नी सां
रऽ ऽऽ ऽ दे	ऽ मऽ ऽऽ प मी	धा ऽ ऽ ऽ	ऽ रोऽ रा ऽ
– – –, नी	सां ध – नी		
ऽ ऽ ऽ, धा	ब सो ऽ सि	थाने घणो सी पड़े	थो मेवाड़ा रा
×	०	×	०

इस गीत में एक स्त्री अपने पति से यह निवेदन करती है कि सर्दी की इन रातों में आप मुझे छोड़कर परदेश नहीं जावें। इसकी स्वर-रचना में राग रागेश्वरी की छाया स्पष्ट है, परन्तु इसके अंतरे में कोमल रिषभ के मिश्रण से इसका लालित्य बढ़गया है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक लोकगीत के स्वरों का परीक्षण शास्त्रीय रागों के नियमानुसार ही हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि शास्त्रीय रागों के मान्य नियमों के अनुसार ही लोकगीतों में रागों का पारस्परिक मिश्रण हुआ हो। जैसे – भैरवबहार, बसन्तबहार, कानड़े की बहार आदि। लोकगीतों में यह राग-मिश्रण विचित्र रूपों में मिलता है। कभी-कभी तो ऐसी रागें मने मिलती हैं, जिनकी शास्त्रीय संगीतकार स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते। यह मिलन लोकगीतों की दृष्टि से अत्यन्त मधुर, सार्थक तथा प्रभावशाली होता है; परन्तु इसे शास्त्र कभी स्वीकार नहीं कर सकता। उदाहरण के तौर पर एक राजस्थानी गीत को देखिये :—

सियाळा गीत

(स्थाई)

भंवर म्हाने परण पीयर मती मेलो सा
सियाळे री रैन में हो मारूजी भंवर····

(अंतरा)

म्हारा तो पीयरिया में लाड़ घणा छै रा
दूणा डोडा जतन कराऊं सा ।
सियाळे री रैन में हो मारूजी ।। भंवर....
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है ।)

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्थाई

						नी	नी	नी	ध	नी	सां	–	–
						मं	व	र	ऽ	म्हा	ने	ऽ	ऽ
नी	नी	–	सां	–	–	सां	नी	नी	धप	ध	ध	–	प
प	र	ऽ	ण	ऽ	ऽ	पी	य	र	ऽऽ	म	ती	ऽ	ऽ
नी	ध	–	प	–	–	म	ग	रेग	म	प	ध	–	–
मे	लो	ऽ	सा	ऽ	ऽ	सि	या	ऽ	ऽ	ळे	री	ऽ	ऽ
पध	नीसां	–	ध	–	म	प	ग	–	–	मप	गम	ग	–
रैऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	म	में	ऽ	ऽ	होऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ
सा	रे	–	नी	सा	–,	नी	नी	नी	ध	नी	सां	–	–
मा	रु	ऽ	जी	ऽ	ऽ,	भं	व	र	ऽ	म्हा	ने	ऽ	ऽ
×			२				०			३			

अंतरा

म	प	—	(ग)	—	—	म	प	नी	—	नी	सां	—	—
म्हा	रा	ऽ	थो	ऽ	ऽ	री	म	रि	ऽ	या	में	ऽ	ऽ
×			२				०			३			
नी	—	—	सां	—	—	सां	नी	—	धप	ध	—	प	—
ला	ऽ	ऽ	ह	ऽ	ऽ	च	णा	ऽ	ऽऽ	छै	ऽ	रा	ऽ
नी	नी	—	सां	सां	—	—	नी	नी	धप	ध	—	—	प
हू	णा	ऽ	डो	डा	ऽ	ऽ	ज	न	ऽऽ	न	ऽ	ऽ	क
नी	ध	—	प	—	—	म	ग	ग	म	प	ध	—	—
रा	ऊं	ऽ	सा	ऽ	ऽ	लि	था	ऽ	ऽ	ळे	री	ऽ	ऽ
प-ध	नीसां	—	ध	—	म	प	ग	—	—	मप	गम	ग	—
ईऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	न	में	ऽ	ऽ	होऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ
सा	रे	—	नी	सा	—,	नी	नी	नी	ध	नी	सां	—	—
मा	रु	ऽ	जी	ऽ	ऽ,	भं	व	र	ऽ	म्हा	ने	ऽ	ऽ
×			२				०			३			

इस मिश्रण से यह कभी नहीं कह सकते कि लोकसंगीत में शास्त्रीय संगीत के नियमों की अवहेलना हुई है। शास्त्रीय संगीत में जिस मिलावट से विकृत और विकार उत्पन्न करनेवाली भाव-स्थितियां उत्पन्न होने की संभावना रहती है, वही मिश्रण इन लोकगीतों में सुखद मनोवैज्ञानिक भाव-स्थितियां उत्पन्न करता है। इस गीत की स्वर-रचना में बिलावल राग की छाया स्पष्ट है, परन्तु इस राग का विवादी स्वर कोमल धैवत के प्रयोग से इस रचना के माधुर्य में क्षति पहुँचने की अपेक्षा अभिवृद्धि हुई है।

कहीं-कहीं तो बेढार रागों का इतना मनमोहक सम्मेलन होता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। उदाहरण के तौरपर एक और राजस्थानी गीत देखिये :—

बना गीत

हळदीवाळा बनड़ा रे म्हारा मानगुमानी बनड़ा
राज हळदी रो पूंचो पीळोरे म्हारा हळदीवाळा बनड़ा...
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

– गम ध –	धनी मध नी सां	– नीरें सां नी	धनी ध नी सां
* हळ दी ऽ	वाऽ ऽऽ ळा ऽ	ऽ बन ड़ा ऽ	रेऽ ऽऽ म्हा रा
– नीरेंसां नी ध	-धप मध ग –	– ^पम गरे गारे	गम ग – –
* माऽऽ न गु	माऽ ऽऽ नी ऽ	ऽ ब नऽ ऽऽ	ऽऽ ड़ा ऽ ऽ
– – नी सां	नी सां ध धनी	रेंसां नी ध –	धध मध ग –
ऽ ऽ रा ज	ह ळ ऽ दीऽ	ऽऽ रो ऽ ऽ	पूंऽ ऽऽ चो ऽ
प ग रेसा सारे	नी सागम ग –	–, गम ध –	धनी -धप नी सां
पी ळो रेऽ ऽऽ	ऽ म्हाऽ रा ऽ	ऽ, हळ दी ऽ	वाऽ ऽऽ ला ऽ
×	०	×	०

इस गीत-रचना में राग रागेश्वरी की छाया स्पष्ट है, परन्तु उसे सौन्दर्य प्रदान करने के लिये राग बिलावल का मिश्रण बहुत ही आकर्षक ढंग से हुआ है। इसके साथ ही रागेश्वरी के शुद्ध धैवत के साथ कोमल धैवत के प्रयोग ने भी इस रचना में चार चाँद लगा दिए हैं।

लोकगीतों के राग-पक्ष के अध्ययन के समय यह अवश्य ही ध्यान में रखने की बात है कि इन गीतों की रचना शास्त्रीय नियमों के निभाव तथा बिगाड़ के लिये नहीं हुई है। ये रचनाएँ मानव के मानस की स्वाभाविक और स्वस्थ अभिव्यक्तियाँ हैं, उनमें जो भी शास्त्रीय रागों का निभाव मिलता है, वह संपूर्ण रूप से शास्त्रोक्त हो, ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है। रागों के

भाँति-भाँति के मेल-मिलाप, उनकी छाया, प्रतिछाया का जो सुन्दर दर्शन इन लोकगीतों में होता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। अच्छे-अच्छे प्रवीण शास्त्रज्ञों द्वारा रचित सुगम तथा फिल्मी गीतों में भी वह रचना-कौशल उपलब्ध नहीं होता। इन गीतों में माधुर्य की सृष्टि के निमित्त ऐसे-ऐसे स्वर-चयन की कल्पना साकार होती है, जो अच्छे-अच्छे रचनाकारों की कृतियों को मात करती है और जन-मानस पर स्वस्थ और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होती है। इसी अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या शास्त्रीय संगीत ने लोकसंगीत से प्रेरणा ग्रहण की है या लोकसंगीत की आधारशिला पर ही शास्त्रीय संगीत का भवन अवस्थित है। यह ऐसा विषय है कि जिस पर अत्यंत गहन और तार्किक विश्लेषण की आवश्यकता है।

लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक संबंध

उक्त विचार को अपना आधार मानकर लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध जानना भी अत्यंत आवश्यक है। यह अब पूर्णरूप से सिद्ध होगया है कि लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत का अविकसित रूप नहीं है और न शास्त्रीय संगीत ही लोकसंगीत का विकसित रूप है। दोनों ही स्वरूप एक साथ अंकुरित और विकसित होते हैं और दोनों ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। मोटे रूप में लोकसंगीत, संगीत का लोकपक्ष है और शास्त्रीय संगीत उसका वह पक्ष है, जो व्यक्ति विशिष्ट की प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट शास्त्र में बंध गया है। इसमें एक अनोखी बात यह है कि लोकसंगीत कभी भी शास्त्रीय पक्ष को प्राप्त नहीं करता और न शास्त्रीय संगीत ही लोकपक्ष को प्राप्त होता है। शास्त्रीय गीत को सुगम कर देने से तथा उसे तान, पलटे, मुरकियाँ तथा स्वर संबंधी रचनात्मक पेचीदगियाँ हटाकर गा लेने से ही वह लोकगीत नहीं बन जाता न लोकगीत को ताल, स्वर तथा तान पलटों की पेचीदगियों में बांध देने से ही शास्त्रीय बनाया जा सकता है।

संगीत के ये दोनों ही पक्ष अनादिकाल से एक दूसरे के समकक्ष चलते आये हैं तथा एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। वैदिककालीन संगीत के श्रवण से यह प्रतीत हो सकता है कि उस समय लोक और शास्त्रीय संगीत में कोई भेद नहीं था। भेद तो तब हुआ जब समाज के सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्तरों में भेद होने लगा। जन-मानस ने संगीत की एक पद्धति अपनाई और संगीत के विशिष्ट प्रेमियों ने दूसरी शैली को अपनाया। धीरे-धीरे

यह भेद बढ़ता ही गया। इसका अर्थ यह भी नहीं कि सामाजिक स्तर के उतार-चढ़ाव के अनुसार ही शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत की प्रतिमा घटती-बढ़ती है। यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय कि शास्त्रीय संगीत बुद्धिजीवियों, विद्वानों तथा विशिष्ट सामाजिक स्तर के लोगों का है और लोकसंगीत अशिक्षित, असभ्य, असंस्कृत तथा निर्धन जनों की धरोहर है, तो आज का समस्त धनिक और विद्वद्वर्ग शास्त्रीय संगीत का ही प्रेमी तथा अनुमोदक होता और निर्धन, अशिक्षित और असभ्य लोग लोकसंगीत के पूर्ण ज्ञाता समझे जाते। आज से २५ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत के अनेक शास्त्रीय संगीतकार अशिक्षित थे और आज के अधिकांश शिक्षित और विद्वान् लोग शास्त्रीय संगीत से उतने ही अनभिज्ञ हैं। अतः शास्त्रीय और लोकसंगीत के अपनाव में समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक और शैक्षणिक स्थितियाँ उत्तरदायी नहीं हैं।

शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं, न कि दुमंज़िले मकान की पहली और दूसरी मंज़िल। संगीत की ये दोनों विकास-दिशाएँ स्वतंत्र हैं तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत शैलियों के दो विकसित स्वरूप हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणास्रोत व्यक्ति और शास्त्र हैं, तथा शास्त्र के नियमों में बँधा हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है। लोकसंगीत का प्रेरणा-स्रोत जनमानस है। उसका विकास और संचरण-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिये शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यासक्रम से गुज़रने की ज़रूरत है, परन्तु लोकसंगीत के प्रयोग के लिये किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तो लोकसंगीत सामुदायिक साधना का।

शास्त्रीय संगीत ने लोकसंगीत से जो प्राप्त किया है वह कल्पनातीत है। अनादिकाल से भारतवर्ष में संगीत-शास्त्रों की चर्चा है। संगीत रचनाएँ जब प्रौढ़ता को प्राप्त होती हैं तभी उन पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएँ होती हैं, उनमें अनेक वाद-विवाद, प्रकार, उप-प्रकार, क्रिया-प्रक्रियाएँ चलती हैं तब शास्त्रों का आधार लिया जाता है। उच्छृंखल रचनाओं को नियंत्रित करने के लिये शास्त्र दिशा-निर्देश करता है। प्रारम्भ में शास्त्र सरल, सुगम तथा संक्षिप्त होता है। बाद में रचनाक्रम के विस्तार के साथ वह भी पेचीदा होने लगता है। अनेक नियम, उपनियम, धारा, उपधाराओं की सृष्टि होती है। वह प्रारम्भिक संगीत-शास्त्र कैसा रहा होगा, इसकी कल्पना सामवेद की रचनाओं से की जा सकती है। सामवेद में राग-रागिनियों की बारीकियों का समावेश

नहीं है। उसके बाद के सभी शास्त्र क्लिष्ट तथा पेचीदा होते गये हैं। भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र, जो कि पंचम वेद के नाम से प्रचलित हुआ, सामवेद से अधिक जटिल है। उसके बाद रचे हुए "संगीत-रत्नाकर" आदि शास्त्रीय ग्रंथ जटिलतर बनते गये। प्रारम्भिक शास्त्रों में रचना और शास्त्र दोनों ही समकक्ष तथा समानान्तर होगये हैं। कभी-कभी तो रचना स्वयं ही शास्त्र बन गई है और शास्त्र ही रचना बन गया है। यही कारण है कि उस समय के साहित्य, संगीत तथा नाट्य के शास्त्र अलग-अलग नहीं थे। एक ही शास्त्र सबके लिये प्रयुक्त होता था। उनके अलग-अलग अस्तित्व की कल्पना कठिन थी। परन्तु शनैः शनैः उनका यह सामंजस्य कम होता गया और संगीत का अपना अलग शास्त्र अस्तित्व में आया। उसके लोक और शास्त्रीय दोनों ही पक्ष अलग हो गये। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय संगीत को अपने मूल प्रेरणा-स्रोत लोकसंगीत से बहुत कुछ सीखना था। पहले जब उन दोनों का संयुक्त अस्तित्व था, तब उनकी रागें स्वभावतः रचयिता के भाव-अनुभावों के साथ घुलीमिली थीं। उस समय जो गीत जनता में प्रचलित थे, वे सरल, सरस तथा भावात्मक रूप में संचरित होते थे। वे उत्सव, समारोह, हर्ष, उल्लास के समय सामूहिक रूप से नहीं गाये जाते थे। धार्मिक पर्वों, पूजा, यज्ञ तथा हवनों में विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि तथा श्वास-प्रश्वास के उतार-चढ़ाव के साथ जो गीत गाये जाते थे, वे विशेष प्रकार के गीत थे। उनकी गायन-विधि विशिष्ट नियमों में बँधी थी। संगीत में ये ही दो प्रारम्भिक भेद थे। प्रथम शैली के संगीत में स्वतंत्र तथा सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में मानव की उन्मुक्त भावनाएँ स्वरों और शब्दों के रूप में गुंथकर मुखरित हुई थीं। उस समय ये दोनों ही पक्ष स्पष्ट थे, जो बाद में ऐसा जान पड़ता है, एक तो लोकसंगीत के रूप में और दूसरा शास्त्रीय संगीत के रूप में विकसित हुआ। यह क्रम सहस्रों वर्ष तक चलता रहा। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र-पक्ष संगीत के विकास और प्रचलन के साथ प्रचलित होता गया तथा लोकसंगीत से उसे शाश्वत प्रेरणा मिलती रही।

उधर लोकसंगीत भी मनुष्य की भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप में जन-मानस में विराजता गया और सतत संचरण और प्रयोग से निदिष्ट और सुव्यवस्थित स्वर-धारा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। विशेषज्ञों ने इन स्वर-रचनाओं का विश्लेषण किया। अनेक गीतों के परीक्षण से उन्हें स्वाभाविक स्वर-रचना के अनेक ऐसे सार्थक चयन का पता लगा, जो विशिष्ट भावात्मक स्थितियों में मनुष्य की विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर जुड़ते मिलते हैं। उन्हें विशिष्ट रागों की संज्ञा दी गई और यह निश्चित किया गया कि

अमुक-अमुक स्वरों के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जन्म होता है। इन्हीं धुनों का नामकरण किया गया और उनका एक विशिष्ट शास्त्र धीरे-धीरे विकसित हुआ। उन धुनों का विश्लेषण पंडितों ने अपने-अपने ढंग से किया, कई निष्कर्ष निकाले, कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचे तथा राग-रागिनियों का नामकरण हुआ। उसके बाद अनेक विद्वानों ने स्वतंत्र परीक्षण व प्रयोग भी किये तथा नवीन राग रागिनियों की सृष्टि भी हुई। लोकगीतों के स्वर-चयन में शास्त्रोक्त राग-निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार-पक्ष सक्रिय होता है और मूल स्वर-चयन को स्वर-विस्तार के समय वादी, संवादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के कड़े नियमों में बांधकर शास्त्रकारों ने उन्हें विशिष्ट दिशा दी तथा उन्हें रागों के घेरे में बांध दिया। इस तरह अनेक लोकगीतों के परीक्षण से यह भली भांति ज्ञात होता है कि उनकी स्वर-रचनाओं में स्वर-चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है तथा उनका बीज रूप निश्चय ही शास्त्रीय रागों में निहित है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक लोकगीत का स्वर-चयन एक ही राग का द्योतक हो। रचयिताओं की मानसिक अवस्था के अनुसार अनेक रागों के आभास भी उसमें परिलक्षित होते हैं, जो कि आज भी विशेषज्ञों के अध्ययन के लिए बहुत ही दिलचस्प विषय बने हुए हैं। इन सब परिणामों से यही निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रीय संगीत की मूल रागों को जननी लोकसंगीत ही है, तथा उसी के आधार पर शास्त्रीय संगीत की राग रागिनियों का महान् भवन अवस्थित है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत करना भी परम आवश्यक है। जिस तरह शास्त्रीय संगीत का प्रेरक लोकसंगीत है, उस तरह लोकसंगीत का प्रेरक शास्त्रीय संगीत नहीं है। शास्त्रीय संगीत यदि लोकसंगीत की ओर आमुख होता है तो उसकी लोकप्रियता बढ़ती है, उसका भावपक्ष सजीव और रसमय बनता है; परन्तु यदि लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत की ओर झुकता है तो शास्त्र के बोझ से वह अपने गुणों को खो बैठता है। यह स्थिति तब आती है जब शास्त्रीय संगीतकार लोकगीतों का प्रयोग करने लगता है और शास्त्रीय शैली में गाकर उनका स्वरूप बदल देता है। यह प्रवृत्ति आज सर्वत्र दृष्टिगत होती है। विशेषकर राजस्थान में, जहाँ लोकगीत गानेवाली अनेक व्यावसायिक जातियाँ बन गई हैं, जो उन्हें शास्त्रीय संगीत की ओर ढकेल रही हैं। इस संयोग से जहाँ लोकसंगीत की मूल प्रकृति को क्षति पहुँची है, वहाँ उसमें कुछ

अत्यंत आकर्षक और मनोरम लोकशैलियों की भी उपलब्धि हुई है। उनमें राजस्थान की मांडें तथा लावणियां, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा बंगाल के जात्रागीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत की सन्निकटता

समाज के बौद्धिक और भावात्मक तत्व जब निकट आने लगते हैं और दोनों सामंजस्यपूर्ण स्थिति में होते हैं, तब संगीत का स्तर भी ऊपर उठने लगता है। उन्नत समाज के गीतों में स्वर-शब्द की प्रौढ़ता, उसके सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुरूप ही होती है। उनमें स्वरों का रचना-चयन सुसंगठित, प्रांजल तथा मनोरम होता है। अतः यह कथन शत प्रतिशत सत्य है कि लोकगीत ही समाज के मानस का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसी सिद्धांत के अनुसार जिस समाज के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर में विषमता कम होती है तथा जनसाधारण का भावात्मक स्तर ऊँचा होता है उसका लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत निकट आने लगता है तथा जन-साधारण के लिये शास्त्रीय संगीत का समझना सुगम होता है। ऐसी स्थिति में संगीत के ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करने लगते हैं। यह स्थिति दक्षिण भारत में आज भी विशेष रूप से परिलक्षित होती है। वहाँ के लोक और शास्त्रीय संगीत में इतनी विषमता आज भी नहीं है, जितनी उत्तर भारत के लोक और शास्त्रीय संगीत में है। इसी तरह यूरोप के उन्नत देशों के संगीत की लोक और शास्त्रीय शैलियों में उतना अंतर नहीं है, जितना हमारे देश में है। उत्तर भारत में तो यह विषमता चरम सीमा तक पहुँच गई है। यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत जन-साधारण से इतना दूर है और शिक्षित समाज लोकसंगीत से कतराता है। सामाजिक स्तर की समता की स्थिति में लोकसंगीत का स्तर ऊपर उठता है और शास्त्रीय संगीत शास्त्र की जटिल-ताओं को छोड़कर भाव-पक्ष को ग्रहण करता है। यह सिद्धांत एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। जिस समाज का शास्त्रीय संगीत शास्त्र की जटिलताओं में बँधा रहकर भाव-पक्ष की अवहेलना करता है उसका सांस्कृतिक धरातल निश्चय ही विषमताओं से भरा हुआ होता है। यह विशेष स्थिति सामाजिक विषमताओं के साथ ही उत्पन्न होती है, जबकि संगीत के कुछ आचार्य अपनी साधना को चरम सीमा पर पहुँचने की आकांक्षा में समाज की अवहेलना करने लगते हैं। समाज की सांस्कृतिक समता की स्थिति में यह क्रम उलटा हो जाता है।

क्या लोकसंगीत का कोई अलिखित शास्त्र है ?

शास्त्र-संगत संगीत ही शास्त्रीय संगीत है और लोकसंगीत का कोई लिखित शास्त्र नहीं है, यह सर्वमान्य बात है। शास्त्र का निरूपण तथा शास्त्र की सृष्टि करने तथा किसी रचना को शास्त्रोक्त बनाने का काम पंडितों का है। लोकसंगीत का यदि कोई शास्त्र होता तो वह शास्त्रीय संगीत ही कहलाता, परन्तु उसका शास्त्र नहीं होते हुए भी उसकी अपनी कुछ परम्पराएँ हैं, जिनमें उसे विचरना तथा जिनकी मर्यादाओं में रहना पड़ता है। यह एक प्रकार से उसका शास्त्र ही है। इन मर्यादाओं से यदि लोकसंगीत मुक्त हुआ तो निश्चय ही वह अपने दर्जे से गिर जायेगा। ये परम्पराएँ समाज द्वारा दी हुई उसकी शाश्वत परम्पराएँ हैं, किसी व्यक्ति-विशेष की देन नहीं। लोकसंगीत की ये परोक्ष परम्पराएँ अलिखित होते हुए भी सर्वविदित हैं, जिनका अनुशीलन अनादिकाल से हो रहा है। उनकी रूपरेखा इस प्रकार है :-

(१) लोकसंगीत का स्वर-पक्ष शास्त्रीय संगीत के स्वर-विधान से शासित नहीं होता। वह दीर्घकाल से संचारित होनेवाले किसी विशिष्ट स्वर-चयन का विकसित और सर्व लोकप्रिय रूप है, जो जन-मानस को समान रूप से आन्दोलित करता है।

(२) लोकसंगीत के स्वर किसी जाने माने विधि-विधान के अनुसार नहीं मिलाये जाते। वे जन-मानस की अनुभूतियों से ओत-प्रोत होते हैं तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने आप मिलते हैं।

(३) लोकसंगीत के स्वर-चयन तथा उसकी संचार-योजना में किसी प्रकार का परिवर्तन उसके प्रवाह में घातक सिद्ध होता है।

(४) लोकसंगीत की स्वर-लहरियाँ लंबे अतीत को छूकर लम्बे भविष्य की ओर अग्रसर होती हैं तथा काल, स्थान एवं समय की समस्त मर्यादाओं से ऊपर उठकर दीर्घजीवी हो जाती हैं।

(५) लोकसंगीत के पीछे समाज का भावात्मक संबंध होता है। उस पर किसी प्रकार का आघात सीधे समाज पर आघात होता है।

(६) लोकसंगीत के पीछे अवसरों का महत्त्व विशेष होता है, समय का नहीं। वह किसी भी समय गाया जा सकता है, परन्तु विशिष्ट अवसरों के साथ वह भावात्मक संबंध में जुड़ा रहता है। शास्त्रीय संगीत जिस तरह समय के साथ बंधा रहता है, उसी तरह लोकसंगीत बहुधा अवसरों के साथ जुड़ा रहता है।

(७) शास्त्रीय संगीत के विवादी स्वरों की तरह ही लोकसंगीत के विवादी स्वर वे होते हैं, जो ऊपर से उन पर थोप दिये जाते हैं। लोकसंगीत में नियत स्वर-संगठन के अलावा अन्य किसी प्रकार की स्वतंत्रता की गुंजाइश नहीं है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन विवादी स्वर ही का काम करता है।

(८) लोकसंगीत के शब्द स्वरों की तरह ही जकड़े रहते हैं। जिस तरह स्वरों की दृष्टि से उनमें कोई आजादी नहीं चल सकती, उसी तरह शब्दों में भी कोई हेरफेर संभव नहीं होता। उनमें किसी भी प्रकार का जोड़तोड़ विवादी स्वर की तरह ही वर्ज्य है।

(९) शास्त्रीय संगीत की नियत मींड मूर्छनाओं की तरह ही लोकसंगीत में भी अपने विशिष्ट लहजे होते हैं, जो स्वरों के संचार में प्रयुक्त होते हैं। इन लहजों का लोप लोकगीतों के शास्त्र का जबर्दस्त उल्लंघन समझा जाता है।

(१०) शास्त्रीय संगीत की तरह ही लोकसंगीत के स्वरों का अपना विशिष्ट घुमाव-फिराव होता है, जिसका प्रतिपालन नितान्त आवश्यक है।

(११) लोकसंगीत में उसके विशिष्ट स्वर-चयन के अनुसार उसकी गूंज, झटके तथा लटके होते हैं, जिनका निभाव अत्यंत आवश्यक है।

(१२) लोकसंगीत का प्रत्येक गीत ही उसकी एकमात्र इकाई है, जबकि शास्त्रीय संगीत की इकाई है उसकी राग तथा उसका स्वरूप। विशिष्ट लोकसंगीत अपनी विशिष्ट स्वर-रचना का धनी है और वही उसकी राग है। शास्त्रीय संगीत में राग के अनुसार अनेक गीतों की रचना होती है, परन्तु लोकसंगीत में लोकगीत स्वयं में इकाई है, उसकी देखादेखी कोई अन्य रचना लोकसंगीत के परिवार में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

(१३) लोकसंगीत में भी शास्त्रीय संगीत के घरानों की तरह ही जातिगत गायकी की छाप रहती है, जो उस गीत-विशेष को विशेषता प्रदान करती है तथा उसका व्यक्तित्व बनाती है।

(१४) जिस तरह शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद गायकी में प्रौढ़ता, ख्याल शैली में कल्पना की उड़ान तथा ठुमरी टप्पा में चपलता होती है, उसी तरह लोकसंगीत की भजन-कीर्तन की गायकी में प्रौढ़ता, देवी-देवताओं के गीतों में गंभीरता, पारिवारिक गीतों में शृंगारिकता तथा मादकता होती है।

(१५) लोकसंगीत की लय में सरलता तथा एकरूपता होती है और उसकी विशिष्ट स्वर-रचना के अनुसार विशिष्ट जगह ताल का मान (सम)

रहता है। तालों में भी मात्राओं तथा खाली भरी की प्रधानता नहीं रहकर लय के चमत्कार की ओर विशेष ध्यान रहता है। लय का यह चक्र गिनतियों में अवश्य बँधा रहता है, परन्तु लय की पेचीदगियों को वह मान्यता नहीं देता।

(१६) लोकसंगीत में लय की प्रधानता रहती है। लय-प्रधान गीत ही लोकप्रिय होते हैं। लय की वक्रता उनकी व्यंजनात्मक शक्ति को नष्ट कर देती है।

(१७) शास्त्रीय संगीत में जिस तरह स्वर-समूह के स्वरूप में प्रत्येक राग की पकड़ होती है, उसी तरह लोकसंगीत में भी प्रत्येक गीत के विशिष्ट लहजे, गूंज, आलाप तथा मुरकियाँ होती हैं, जो इन गीतों की पकड़ ही के समान हैं। ये पकड़ें लोकसंगीत में गीत सापेक्ष होती हैं और शास्त्रीय संगीत में राग सापेक्ष। एक राग के अनेक गीत होते हैं, परन्तु प्रत्येक गीत की अलग पकड़ होना आवश्यक नहीं है। वह पकड़ इन गीतों की रागों के स्वर-विस्तार में निहित रहती है, जबकि लोकसंगीत में ये पकड़ें गीतों की स्वर-रचना ही में निहित रहती हैं।

(१८) लोकसंगीत में कहीं आलाप-पक्ष प्रधान रहता है तथा कहीं तान-पक्ष। ये आलापें तथा तानें शास्त्रीय संगीत की स्वतंत्र आलाप तानों की तरह नहीं होतीं, वे बोल तान की तरह होती हैं, जो गीतों की रचना ही में पूर्व निर्धारित रहती हैं। शास्त्रीय गीत की गायकी की तरह गायक उनमें किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं ले सकता।

(१९) लोकसंगीत में शास्त्रीय गीतों की तरह स्वर-विस्तार नहीं होता, न उन्हें आलाप तान तथा बोल तानों से अलंकृत किया जाता है। उन्हें इस तरह अलंकृत बनाने की कोई प्रणाली नहीं है। उनका अलंकार गायक की रसभीनी आवाज तथा प्रभावोत्पादकता ही है।

लोकसंगीत की परम्पराएँ शास्त्र की तरह ही मान्य समझी जाती हैं। कुछ हद तक उनका पालन शास्त्रीय संगीत की मर्यादा-पालन से भी अधिक कठोर है। ये मर्यादाएँ तथा परम्पराएँ आचार्यों तथा शास्त्रकारों ने नहीं थोपी हैं, वरन् समाज ने स्वयं अपने ऊपर लगाई हैं, जिससे लोकसंगीत का स्वाभाविक सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहे। लोकसंगीत की रचनाएँ इसी कारण बहुत बड़े क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्वरूप बनाये रखने में समर्थ रहती हैं, जबकि शास्त्रीय संगीत की रचनाएँ अपने व्यक्तिगत प्रयोक्ताओं द्वारा परिवर्तित होती रहती हैं और प्रत्येक गायक राग-पक्ष को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसकी रचना

में काफी आजादी ले लेता है। शास्त्रीय संगीत को शास्त्र के बंधन में रहना पड़ता है। यह शास्त्र सतत उपयोग, अध्ययन, अनुभव तथा वैज्ञानिक शोध के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है, उसी तरह लोकसंगीत का शास्त्र अलिखित होते हुए भी उतना ही अनुभवसंगत और वैज्ञानिक है, जो परम्परा से हमें प्राप्त हुआ है।

लोकगीतों का ध्वनि-पक्ष

लोकगीतों के स्वर-पक्ष की तरह ही उसका ध्वनि-पक्ष भी अत्यंत महत्व-पूर्ण है। यह इतना सूक्ष्म और गहन पक्ष है, जो बहुधा सामान्य जन की समझ से बाहर होता है। इन गीतों की बंदिशों तथा धुनों में साम्य होते हुए भी उनकी गायकी में एक विशेषता होती है, जो गायक के गले में निहित रहती है, गीत की स्वर-रचना में नहीं। लोकगायकों का यह ध्वनि-पक्ष, गीतों की बंदिश तथा स्वर-रचना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। लोकगीत वास्तव में लोकगायक के गले पर ही फबता है, अन्य गायक चाहे कितनी ही चतुराई से उसकी वास्तविक धुन ही में क्यों न गाये, वह बात उसमें पैदा हो ही नहीं सकती। यह विशेषता लोकगीत-गायकों को अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि जब लोकगीत किसी लोकपक्ष-विहीन कंठ पर उतरता है तो उसकी ध्वनिगत विशेषता समाप्त हो जाती है। यह विशेषता गीत की राग, तान, आलाप तथा स्वरों के तोड़मरोड़ में निहित नहीं रहती है। गायक के कंठ में कितना ही मिठास या लालित्य क्यों न हो, वह संगीत विद्या में कितना ही पारंगत क्यों न हो, वह इस खूबी को प्रकट कर ही नहीं सकता। उदाहरण के तौर पर आज लोकगीतों के अनेक प्रेमी अपने देश में विद्यमान हैं। वे उनका संकलन, अध्ययन तथा अभ्यास भी करते हैं, परन्तु उनके नकलीपन का पता लगाना कठिन नहीं है। रेडियो पर उनका प्रयोग करनेवाले तथा शौकिया ढंग से अनेक सांस्कृतिक समारोहों में गानेवाले गायक इन लोकगीतों को मिठास अवश्य प्रदान कर देते हैं, परन्तु उनकी स्वाभाविक परिचालन-विधि को प्रकट नहीं कर सकते।

इस संबंध में उदाहरण के रूप में एक विशेष बात की तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। लोकगीत गायकों तथा ध्वनि-पक्ष की दृष्टि से बंगाल के गीतों में एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य गीतों में नहीं है। गायक प्रत्येक गीत को गाते समय हृदयस्पर्शी स्वर-स्पंदन-तत्व को प्रधानता देता है, जिससे गीत भावोद्रेक की दृष्टि से प्रत्येक श्रोता को सम्मोहित कर देता

है। वही गीत उसी धुन में कोई ग्रबंगाली व्यक्ति गावे तो उसकी ग्रदायगी में वह भावप्रवणता का ग्रभाव सर्वाधिक खटकने वाला होगा। इसी तरह पंजाबी गीतों की गायकी में स्वरों को सशक्त बनाकर तथा उन्हें झटका देकर गाने की प्रधानता रहती है। प्रत्येक पंजाबी गायक ग्रपने लोकगीत को इसी सशक्त प्रणाली से गाता है। महाराष्ट्र के लोकगीत-गायकों में स्वर की ठोस गंभीरता को व्यक्त करने की चेष्टा रहती है। राजस्थानी गायकों में पंजाब, महाराष्ट्र की मिलीजुली गायन-विधि विद्यमान है। दक्षिण भारत, ग्रान्ध्र, तंजौर तथा कर्नाटक के गीतगायकों में स्वर को विचित्र प्रकार से मोड़ देकर गाने की प्रणाली है, जिससे स्वर के साथ ही जो मुरकियाँ झटके से ली जाती हैं, उनमें स्वर के तनिक विकृत पक्ष को छूने की प्रवृत्ति रहती है। लोकगीत गायकी की ग्रदायगी संबंधी ये विशिष्ट तत्त्व ही उन्हें क्षेत्रीय विशेषताग्रों में बाँधते हैं।

इन क्षेत्रीय विशेषताग्रों से कहीं ऊपर एक दूसरी प्रवृत्ति ग्रौर है जो गायक को ग्रपनी परम्परा से प्राप्त होती है ग्रौर जिसका संबंध उसके स्वरोच्चार से रहता है। गीतों के स्वर ग्रौर शब्द तो गाते समय ग्रपनी स्वाभाविकता ही में व्यक्त होते हैं, परन्तु उनका उच्चारपक्ष एक विशेष खूबी रखता है, जो विशिष्ट शैली के लोकगायकों में विद्यमान रहता है। स्वरोच्चार के इन शैलीगत तत्त्वों को विश्व की किसी वैज्ञानिक स्वरलिपि में नहीं लिखा जा सकता, न इनका कोई बौद्धिक विवेचन, विश्लेषण तथा प्रदर्शन ही हो सकता है। केवल ध्वनि-संकलन यंत्र द्वारा ही वे ध्वनि-संकलित हो सकते हैं।

इस तथ्य को समझे बिना ही बहुधा ग्रपरंपरावादी गायक लोकगीतों को, चाहे वे उत्कृष्ट ढंग से ही क्यों न गाते हों, ग्रनजान में सुगम गीत की शैली प्रदान कर देते हैं। ये लोकगीत जब ग्रपनी क्षेत्रीय या जातीय विशेषताग्रों के साथ मूल लोकगायकों के कंठ पर उतरते हैं तब तो वे लोकगीत रहते हैं ग्रौर जब वे विपरीत कंठों पर प्रयुक्त होते हैं तो वे ग्रपना स्वरूप ही बदल देते हैं। यह तत्त्व व्यावसायिक लोकगीतों में ग्रपना विशेष महत्त्व धारण करता है। राजस्थान की ढोली तथा मिरासी जातियों को ही लीजिये। उनकी स्त्रियाँ लोकगीत गाने में प्रवीण समझी जाती हैं। इनकी एक विशिष्ट ग्रावाज होती है जो लाखों में पहिचानी जा सकती है। बंगाली, गायिकाग्रों की तरह इनमें स्वर-कम्पन तथा भाव-प्रवणता लेशमात्र भी नहीं होती। ये सीधे तथा सशक्त तरीके से स्वरों में मिठास भरती हुई गाती चलती हैं। गीतों के भावार्थ से

उनका कोई सरोकार नहीं रहता। वे गीत की स्वर-रचना का पूर्ण आनन्द लेती हुई उसके सौन्दर्य को निखारती हैं। ध्वनि-विस्तारक यंत्र की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनके सशक्त स्वर-तत्व नंगे कानों से आसानी से सुने जा सकते हैं। इन डोलनियों और मिरासिनियों की गायकी में गीतों का लोकपक्ष कूट-कूटकर भरा है। ये गायिकाएँ वे ही गीत गाती हैं, जो साधारणतः सभी जगह गाये जाते हैं। उनकी स्वर-शब्द-रचना भी प्रायः वही रहती है, परन्तु इन गायिकाओं के कंठ पर उतरते ही ये गीत एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, जो इनकी गायकी के विशिष्ट शैलीगत तत्वों में निहित रहते हैं। ये ही गीत जब साधारण जन द्वारा गाये जाते हैं तो ऐसा लगता है कि उनके स्वरों के विशिष्ट कोने घिस गये हैं तथा स्वर-रचना की मौलिक बारीकियाँ लुप्त होकर रचना का केवल मोटा-मोटा ढाँचा शेष रह गया है। उक्त विशिष्ट व्यावसायिक गायिकाओं के कंठ पर ये गीत न केवल शैलीगत तत्वों को आत्म-सात करते हैं, बल्कि मौलिक स्वर-रचना की सूक्ष्म व्यंजनाओं को भी उनके चरम सौन्दर्य तक पहुँचा देते हैं।

यही विशेषता लोकनाट्य-गायकों में पाई जाती है। परम्परागत लोकगीतों की गायकी का सही प्रतिपादन करनेवाले ये ही परम्परावादी लोकनाट्य-गायक हैं जिनके ऊँचे स्वरों में फिरनेवाले गले मीलों दूर आवाज फेंकते हैं। जीवन के दैनिक प्रयोग में, ऐसा प्रतीत होता है कि, इनका यह रंगमंचीय गला सुषुप्त और साधारण बोलचाली गला सक्रिय रहता है। व्यावहारिक बोलचाल में कोई यह अंदाज नहीं लगा सकता कि रंगमंच पर उतरकर उनके ये फटे तथा भोंडे गले तीव्रतम होकर स्वरों की गंगा बहायेंगे। दंगल में उतरकर उनके गले धार पर चढ़ जाते हैं और जैसे-जैसे नाटक की रंगत बढ़ती जाती है, उनके गले भी तीर की तरह श्रोताओं के मानस पटल पर चुभते जाते हैं। कभी-कभी तो उनकी संगत करनेवाले साजिंदों को भी अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ती है क्योंकि जिन स्वरों पर उनके गले फिरने लगते हैं उनको वहन करने की सामर्थ्य उनके तारों में नहीं होती। जैसे-जैसे रात बीतती जाती है, प्रदर्शक और दर्शक नाटक की उत्तरांगीय सीमा को पार करने लगते हैं। ये स्वर भी अपनी चरम सीमा को छूकर साज और साजिन्दों पर छा जाते हैं। इस विभोरावस्था में साज हाथों से कब छूट जाते हैं, स्वयं वादकारों को भी पता नहीं रहता। गीतों की गंगा बहती ही रहती है, गायक गाता ही चलता है, श्रोता झूमते ही रहते हैं और ऐसा रसरंजित वातावरण बन जाता है कि जैसे बिन बजाये ही साज बज रहे हैं।

नाटक के अवसान के साथ साज पुनः बजने लगते हैं, गले फिर से चल पड़ते हैं और नाटक की आरती होते-होते गायकों के गले अपनी प्रारंभिक अवस्था को प्राप्त करने लगते हैं। नाटक समाप्त हो जाता है, गायकों के गले ठंडे पड़ जाते हैं और सुबह होते-होते वे फूटे ढोल की तरह बोलने लगते हैं। दिन में इन गायकों से बोला भी नहीं जाता, इशारों से बातें करनी पड़ती हैं। पुनः शाम होते-होते वे धार पर चढ़ने लगते हैं और पुनः रंगमंच पर चढ़ते-चढ़ते उनमें तेजी आने लगती है।

इस विशिष्ट प्रकार की गायकी तथा गले के इस विशिष्ट तत्व में संवाद वहन करने तथा अभिनय को उत्तेजित करने की अद्वितीय शक्ति होती है। इनमें एक विशिष्ट लहजा होता है जो शरीर की अभिनय मुद्राओं को सुस्पष्ट तथा विभिन्न भाव-मुद्राओं की सृष्टि करता है। यही कारण है कि नाट्य-अभिनेता एक विशिष्ट व्यक्ति होता है जो अभिनय भी करता है और स्वयं गाता भी है। लोकनाट्यों में पृष्ठ-गायकी को कोई स्थान नहीं है। वह अपनी शैली का सफल गायक है। अन्य गीत उसके गले पर फबते ही नहीं हैं। यह गायकी की शैलीगत विशेषता उसे परम्परा और नित्य के रंगमंचीय व्यवहार से प्राप्त हुई है।

ऐसी ही ध्वनिगत विशेषता याचक गीतकारों में भी होती है। ये गीतकार भी वंशानुक्रम से गीतकार हैं। अपने यजमानों के यहाँ गाकर ही वे अपनी आजीविका उपार्जन करते हैं। इनकी आवाजों में एक विचित्र सा मचकीलापन होता है जो स्वरों को चबाने तथा उन्हें विचित्र प्रकार का घुमाव देने में निहित रहता है। वे सर्वविदित और सर्वप्रयुक्त गीतों ही में एक प्रकार की विशेषता प्रकट करते हैं। ये याचक जब अपने यजमानों की ड्योढ़ी पर माँगने जाते हैं तो साधारणतः यजमानों की उनके प्रति अवहेलना की दृष्टि रहती है। उनकी आंतरिक चेष्टा यही रहती है कि वे याचक उनसे बिना कुछ पाये ही उनकी ड्योढ़ी से हट जावें। याचक अपने दाताओं की इस प्रवृत्ति को खूब समझता है, अतः उन्हें अपने प्रचलित गीतों की धुनों में ऐसी ध्वनिगत हरकतें पैदा करनी पड़ती हैं जो यजमान का ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर सकें। वे गीतों की प्रचलित बन्दिशों में रहते हुए भी स्वरों में एक प्रकार का खिंचाव, किलकारीयुक्त विकार तथा नासिकी प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो गीतों में मनोरंजनकारी शक्ति पैदा करते हैं और उनका मनोरथ पूरा होता है।

यही युक्ति घूम-घूमकर बेचनेवाले नायक भी काम में लेते हैं। ये लोग चूर्ण, दैनिक घरेलू दवाइयाँ, दैनिक उपयोग की सामग्री, बच्चों के लिये चटपटी

चीजें, खिलौने आदि बेचनेवाले घुमक्कड़ व्यापारी होते हैं जो अपने व्यवसाय संबंधी गीत-परम्परा से गाते चलते हैं। विशिष्ट विक्रय संबंधी सामग्री के साथ परम्परा से जुड़े हुए ये गीत अत्यंत लोकप्रिय गीत होते हैं और दूर से ही उन्हें सुनकर यह पता लगाना कठिन नहीं होता कि कौनसी सामग्री बिकने के लिये आई है। अपने ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये ये अपने गीतों में इतना अद्भुत मोड़ देते हैं कि अनायास ही लोग उनकी तरफ खिंचे चले आते हैं। इन विक्रेताओं को प्राय: गद्य का उपयोग करना ही नहीं पड़ता। इनके गीत स्वयं में अर्थ और स्वरों के वैचित्र्य की दृष्टि से परिपक्व होते हैं।

मेहनत के साथ जो गीत जुड़े हुए हैं, उनमें भी एक ध्वनिगत विशेषता रहती है। ये बहुधा वे ही प्रचलित गीत होते हैं जो विविध प्रसंगों पर गाये जाते हैं, परन्तु श्रम के विविध प्रकारों की शारीरिक हरकतों के साथ उनके स्वरों में भी एक विशिष्ट हरकत पैदा होती है। सड़क कूटनेवाले, छत दबाने वाले तथा वजन उठाकर ढोनेवाले लोग अपनी श्रमसाध्य थकान को दूर करने के लिये गीत गाते हैं। श्रम के विशिष्ट धक्कों पर वे अपने गीत की धुन और लय में भी विशिष्ट धक्के लगाते चलते हैं।

तंतु वाद्यों पर गानेवाले घुमक्कड़ गायकों में भी ध्वनिगत एक ऐसी विशेषता रहती है जो उन्हें निरंतर व्यवहार और परम्परा से प्राप्त होती है। वे अपनी आवाजों को वाद्यों से स्फुरित होनेवाली झंकार के अनुरूप ही बना लेते हैं, जैसे – सारंगी, कमायचा तथा रावणहत्था पर गानेवाला अपने गीत को गाते ही इस तरह घिसता है कि उसकी स्वयं की आवाज़ भी तारों की तरह ही घिसने लगती है। तालवाद्य के साथ गानेवाले गायक की आवाज निरंतर व्यवहार के कारण वाद्य की तरह ठुमक-ठुमक करती रहती है। उसमें एक विचित्र सी गूंज गूंजती रहती है। चुटकवाद्य पर गानेवाले गायक के स्वरों में टुकड़े-टुकड़े करके धुन निकलती है और स्वर चुटकियाँ भरने लगते हैं। गजवाद्यों के साथ गानेवाले गायक की आवाज लम्बी-लम्बी खिंचती है। उसमें तारों की भी झंकार निकलती रहती है।

अतिशय मेहनत के साथ नृत्य करते हुए व्यावसायिक नर्तक की आवाज में भी एक विशेषता रहती है। उसका गला भर्राया हुआ तथा आवाज अत्यंत दुर्बल रहती है। लोकनाट्य-गीत-गायकों की तरह उसकी आवाज नाट्य की अभिवृद्धि के साथ तेजी पर नहीं आती, न उसमें कोई निखार उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे उसका नृत्य बुलंदी पर आता जाता है वैसे-वैसे उसकी आवाज

बैठती जाती है तथा उसमें भोंडापन आजाता है। परन्तु ऐसे नृत्य-प्रदर्शनों में, नृत्यों की प्रधानता होने के कारण, गीत की दुर्बलता पर कोई ध्यान नहीं देता, परन्तु यदि नाट्य-प्रदर्शन में नाचते समय गीत दुर्बल होजाते है तो यह गायक की सबसे बड़ी कमजोरी समझी जाती है। क्योंकि इन नाट्यों में नाट्य-नृत्य से भी अधिक गीतों की प्रधानता रहती है। यही कारण है कि नाट्य-अभिनेताओं की यह विशेषता एक बहुत बड़ा वरदान समझी जाती है। तीव्रतम नृत्य के साथ गीत गानेवाले नर्तक गायन में पारंगत होते हुए भी कभी-कभी बेसुरे गाने लगते हैं, फिर भी उनके नृत्य-चातुर्य के कारण वह बेसुरापन भी सबको सह्य हो जाता है।

पेशेवर लोकगायकों की कुछ जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनकी आवाजें संस्कारवत् ही पतली, मोटी तथा सुरीली होती हैं। उन्हें अपनी आवाजों को तैयार करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे जन्म से ही गाने लगते हैं तथा उनके गले स्वभाव से ही सुरीले होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनका स्वर-संचरण खरज के स्वरों में अच्छा होता है, टीप के स्वरों में प्रभावशाली नहीं होता। उनकी आवाज का खरज पक्ष अत्यंत सशक्त, सुरीला और गंभीर होता है। उनका अल्पपक्ष भी टीप पर गाते हुए गीतों की तरह ही प्रभावशाली होता है। इन जातियों में आदिम जातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की कंजर, सांसी कालबेलिया, भोपा तथा नट आदि जातियों की स्त्रियों के गायन में भी एक विचित्रता रहती है। वे अपनी आवाजों में विशेष प्रकार का मरोड़ देती है। वे प्रत्येक गीत की पंक्ति के अंतिम शब्द को मरोड़कर गाती है और पुनः ताल ही के साथ मूल धुन को पकड़ लेती है। प्रचलित सभी लोकगीतों को वे इसी तरह गाती हैं। इन जातियों द्वारा गाये हुए सभी प्रचलित गीतों पर गायकी की दृष्टि से इन जातियों की विशेष छाप रहती है।

उक्त सभी प्रकार के ध्वनि-तत्त्वों में अपनी-अपनी विशेषता रहते हुए भी एक सामान्य तत्त्व यह है कि ये आवाजें ठेठ लोकपरक आवाजें हैं। उनको सुसंस्कृत बनाने की चेष्टा लोकगीतों के लिये अत्यन्त घातक चेष्टा है। लोक-गीतों का प्रसारक्षेत्र, उनका अतीत, वर्तमान और भविष्य लंबा होता है। यह अमरत्व उन्हें इन्हीं ध्वनि-तत्त्वों के कारण प्राप्त होता है। ये ही तत्त्व प्रयोक्ताओं और श्रोताओं को प्रभावित करते हैं तथा उन्हें लोकगीतों का विशिष्ट स्वभाव प्रदान करते हैं।

लोकसंगीत एवं सुगम-संगीत

संगीत के ये दोनों ही पक्ष बहुधा एक दूसरे का रूप धारण करके अवतरित होते हैं और अबोध तथा अनुभवहीन जनता में भ्रांति उत्पन्न करते रहते हैं। लोकसंगीत सुगम-संगीत की पहिचान उतनी ही मुश्किल है जितनी हीरे-जवाहरात की पहिचान। सुगम-संगीत वह संगीत है जो गाने, सुनने तथा सराहने में सुगम है। लोकसंगीत का भी प्रायः यही गुण है। फिर इन दोनों में वह कौनसा सूक्ष्म भेद है, जो इनको एक दूसरे से अलग करता है। सुगम-संगीत का अवतरण वैयक्तिक है। वह भी मधुर काव्य तथा मधुर स्वर-चयन से संयुक्त होता है। उसमें भी उत्कृष्ट रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। फिल्मी संगीत भी एक तरह से सुगम-संगीत ही में शुमार होता है। फिल्मी गीत कभी-कभी लोकगीतों से भी अधिक लोकप्रिय बन जाते हैं। बच्चा-बच्चा उन्हें गाने लगता है। जन-समुदाय उनमें रस लेता है, परन्तु फिर भी वे सुगम-संगीत, फिल्मी संगीत तथा लोकगीतों का दर्जा नहीं पाते। ये गीत जितने ही मधुर हैं, उतने ही अल्पजीवी भी हैं, वे लोकगीतों की तरह दीर्घायु नहीं होते, न वे मर्म ही को छूते हैं। उनकी स्वर तथा शब्द-रचना कुछ ऐसे तत्त्वों से होती है कि वे तत्काल ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और हम उनकी गायकी पर मुग्ध हो जाते हैं। उनका प्रभाव उस नशे के समान है जो मनुष्य को एक विचित्र लोक का अनुभव कराता है, परन्तु अंततोगत्वा वह (मनुष्य) वहां का वहां ही रहता है। ये सुगमगीत रस की निष्पत्ति से पूर्व ही मरणासन्न हो जाते हैं। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सुगमगीत गानेवाले के कंठ और सुननेवाले के कानों तक ही मर्यादित रहते हैं, हृदयंगम नहीं होते; परन्तु लोकगीतों का प्रभाव अक्षुण्ण है। उनका असर गहरा इसलिये होता है कि उनकी रचनाओं में असंख्य प्रतिभाओं का परिपाक रहता है, जो समय, स्थान और स्थिति की मर्यादाओं को तोड़कर सर्वदा ही नवीन और ताजा रहता है।

लोकगीतों की रचना अनंतकाल से होरही है। इनका क्रम कभी टूटता नहीं है। सहस्रों रचनाएं अज्ञात रूप से लोकगीत बनने की प्रक्रिया के बीच गुजर रही हैं, सामाजिक कसौटियों पर कस रही हैं, कुछ लड़खड़ा रही हैं, कुछ पिछड़ रही हैं, कुछ पानी के बुद्बुदों की तरह पैदा होते ही नष्ट होरही हैं, कुछ संघर्षों के बीच अबाध गति से गुजर रही हैं और कुछ लोकगीतों के परिवार में प्रविष्ट होकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही हैं। ये प्रक्रियाएँ

ऐसी हैं, जो न देखी जा सकती हैं, न उनका अनुभव ही किया जा सकता है। कोई स्थूल वस्तु कारखाने में बनती हुई देखी जा सकती है, उसके विकासक्रम का निरीक्षण किया जा सकता है, परन्तु लोकगीत का रचनाक्रम अलक्षित है। यहाँ यह भी मानकर चलना चाहिये कि सभी रचनाएँ इस प्रक्रिया में प्रवेश नहीं करतीं। हजारों गीतों में बिरले ही गीत ऐसे हैं, जो यह दिशा पकड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जो गीत यह दिशा नहीं पकड़ता वह गेय तथा काव्य-गुणों से हीन है। सहस्रों गीत ऐसे हैं, जो अपनी वैयक्तिक परिधि ही में कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। उनके काव्य तथा गेय गुण लोक-गीतों से भी ऊँचे होते हैं तथा उनकी आयु लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होती। उनका सामाजिक विस्तार-क्षेत्र भी लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होता। अंतर केवल इतना ही रहता है कि वे अपने रचयिताओं के व्यक्तित्व के साथ देदीप्यमान रहते हैं और समाज के साथ पारिवारिक जन की तरह सांस्कारिक रूप से संबद्ध नहीं होते। मीरा, सूर, तुलसी, कबीर, रैदास, दादू, ज्ञानेश्वर, जयदेव, तुकाराम, विद्यापति द्वारा रचित गीत ऐसे ही गीतों की गणना में आते हैं।

यह बात अवश्य ही तर्कसंगत है कि लोकगीतों की प्रक्रिया में प्रविष्ट करने के लिए किसी रचना में जो तत्त्व सर्वाधिक उत्तरदायी है वह उसका गेय तत्त्व ही है। उस गेय तत्त्व में भी वह तत्त्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो सामाजिक हृदय को स्पर्श करसके। अनेक सुगम रचनाओं में गेय तत्त्व सर्वाधिक आकर्षक और मनोरम होते हुए भी वे सामाजिक मर्म को स्पर्श नहीं करते। इस मर्म-स्पर्श के लिये गीतों की स्वर-रचनाओं में कुछ ही रचनाएँ ऐसी होती हैं, जो समाज के रागात्मक पक्ष को प्रभावित करती हैं, तथा जो लौकिक कंठों पर सरस्वती की तरह विराज जाती हैं। इस तर्क के पीछे कौनसा विज्ञान है, यह वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नहीं है, उसका संबंध केवल सामाजिक अनुभूतियों से है।

लोकसंगीत की विशिष्ट शैलियाँ

लोकसंगीत के कुछ ऐसे पक्ष हैं, जो अपने विशिष्ट सामाजिक तथा गेय तत्त्वों के कारण कुछ विशिष्ट प्रकारों में वर्गीकृत हो सकते हैं। वे प्रकार हैं—लोकभजन, लोककीर्तन, पारिवारिक तथा शृंगारिक गीत, नृत्यगीत, इतिवृत्तात्मक गीत, व्यवसायिक गीत तथा नाट्यगीत। शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, ख्याल, ग़ज़ल आदि विशिष्ट शैलियों की तरह

वे विशुद्ध गायन-शैलियाँ नहीं है, फिर भी उनकी प्रकृति-निर्धारण में गेय तत्त्व का बड़ा हाथ है। शास्त्रीय संगीत की शैलियों के निर्धारण में स्वर तथा गायन तत्त्व के साथ गीतों का अर्थ और शब्द-कलेवर साधारणतः कोई स्थान नहीं रखता। यह बात लोकगीतों में नहीं है। शास्त्रीय संगीत में स्वर की ही प्रधानता है, शब्द अत्यन्त गौण है। परन्तु लोकसंगीत में स्वर की प्रधानता रहते हुए भी शब्द अपेक्षाकृत इतना गौण नहीं है। लोकसंगीत की इन शैलियों में गेय तत्त्व की विशेषता अवश्य है, परन्तु यह तत्त्व गीत के शब्द-कलेवर पर भी काफ़ी मात्रा में अवलम्बित रहता है। शब्द और स्वरों की रचना का जितना सुन्दर सामंजस्य लोकगीतों में मिलता है, उतना किसी में नहीं। गीत के विषय को स्वर चार चाँद लगा देता है। इसी तरह लोकसंगीत का ताल-पक्ष भी गीत की प्रकृति पर अवलम्बित है। यह ताल-पक्ष भी इन गीतों के वर्गीकरण में बहुत अधिक सहायक होता है। गीत की प्रकृति के अनुसार ही उसकी लय की बंदिश होती है। यह स्वर, शब्द तथा लय की त्रिवेणी जितनी वैज्ञानिक ढंग से लोकसंगीत में प्रवाहित होती है, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। लोकसंगीत की इन विशिष्ट शैलियों की चर्चा में इस तत्त्व पर अधिक प्रकाश डाला जायेगा।

लोकभजन और उनकी पृष्ठभूमि

भजन का संबंध भगवान् की स्तुति से है। ये भजन लोकसंगीत के विशेष अंग हैं। इन भजनों का काव्य-पक्ष विशेष प्रबल नहीं होता, क्योंकि भगवान् हमारी श्रद्धा और भक्ति के पात्र होने के कारण हम उनके प्रति अपनी कल्पना को अधिक स्वतंत्रता नहीं दे सकते। स्तुत्य वस्तु के प्रति आदर और सम्मान की मात्रा रहती है। उसके सौन्दर्य-वर्णन में भी अनेक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है तथा भावनाओं को सीमा में रहना होता है। स्तुत्य वस्तु की प्रशंसा ही में हमारे शब्द प्रयुक्त होते हैं, अतः इन भजनों में काव्य-तत्त्व कमज़ोर रहता है। स्तुति में भावना की प्रधानता है, जो स्वर-संचरण में शब्द से कहीं अधिक सहायक होती है। इन गीतों की स्वर-रचना में गंभीरता तथा प्रौढ़ता के तत्त्व विशेष होते हैं, क्योंकि स्तुत्य विषय कल्पनातीत तथा हमारी अनुभूति से बाहर होने के कारण बौद्धिक तत्त्व गौण होजाता है और भावना तत्त्व प्रधानता प्राप्त करता है। इसीलिये शब्द की अपेक्षा स्वर ही भजनों का प्रधान तत्त्व है, जो स्तुत्य विषय की गंभीरता और प्रौढ़ता के साथ स्वयं भी गंभीरता और प्रौढ़ता प्राप्त किये हुए होता है। इसीलिये भजन प्रायः ध्वनि-प्रधान होते हैं। कभी-

कभी तो शब्दों को छोड़कर स्वरों के साथ ही केवल गूँज मात्र से भजन को निभाया जाता है। लोकभजन की गायन-शैली शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद-शैली के समकक्ष है। लोकभजन सामान्य लोकगीतों की तरह स्वर-लालित्य, काव्य-सौंदर्य तथा माधुर्य की सृष्टि नहीं करते। जीवन का बहुत ही निराशाजनक पक्ष उनमें अभिव्यक्त होने के नाते ये गीत आनन्द के द्योतक नहीं होकर शान्ति के प्रदाता होते हैं। इन गीतों की प्रकृति गंभीर और चाल धीमी होती है। ये भजन मंदिरों, सार्वजनिक स्थानों, उत्सवों, पर्वों तथा अनुष्ठानों पर विशेष रूप से गाये जाते हैं। ऐसे गीतों का प्रचलन घोर सामाजिक संकटों, पारिवारिक संघर्षों तथा आन्तरिक उथल-पुथल के समय अधिक होता है। चूँकि इन गीतों में हृदय की सहज आनंदानुभूति नहीं होती, इसलिये इनकी स्वर-रचना भी लालित्य की दृष्टि से अलग ही होती है। हृदय का स्वाभाविक उल्लास उनमें व्यक्त नहीं होता। अतः उनका स्वर-सौष्ठव भी साधारण ही होता है। स्वरों के संचार में हृदय को पुलकित करनेवाली व्यंजनाएँ नहीं होतीं। कहीं-कहीं स्वर एक ही जगह टिक जाते हैं और लयबद्ध आलाप के रूप में फैल जाते हैं।

भजन की परम्परा सभी समाज में प्रचलित है। व्यक्तिगत रूप से भी भजन गाये जाते हैं और सामूहिक रूप से भी। व्यक्तिगत भजनों में व्यक्ति के सांसारिक विषाद और संताप की छाया प्रमुख रहती है। वह अपनी सांसारिक पराजय को भगवान् के सम्मुख अभिव्यक्त करके अपना मन हलका करता है और परमात्मा से इस संसार से छुटकारा पाने की कामना करता है। सामूहिक गीतों में विषाद की अभिव्यक्ति इतनी तीव्र नहीं होती। उनमें ईश्वर की महिमा और उसकी अपार शक्तियों के वर्णन-विशेष होते हैं। विषाद की भावना तनिक व्यापक रूप लेकर सामाजिक अभावों तथा जातीय वेदनाओं से ओतप्रोत होती है।

भजनों की व्यवस्था पारिवारिक, वैयक्तिक, सामुदायिक तथा मानवीय अभावों के क्षणों में होती है। चूँकि लोकभजन एक सामाजिक प्रक्रिया है, इसलिये व्यक्ति के आह्लाद-विषाद से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। वही आह्लाद और विषाद जब सामाजिक स्वरूप ग्रहण करता है, तभी लोकसंगीत और लोकभजनों की सृष्टि होती है। व्यक्तिगत दैनिक अभावों और भौतिक आह्लादों के कारण उत्पन्न गीत अपनी प्राथमिक भावात्मक स्थिति के कारण उपजकर समाप्त भी हो जाते हैं। वे अधिक समय तक जीवित भी नहीं रहते। परन्तु वही आह्लाद और विषाद जब समाज के गहन अंतराल में पैठकर गंभीर

सामाजिक आह्लाद-विषाद का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं, तब लोकसंगीत और लोकभजनों की सृष्टि होती है। समाज का सारा रुख जब भजनों की तरफ उन्मुख होता है तो निश्चय ही यह समझ लेना चाहिये कि पारिवारिक तथा सामाजिक विषाद पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। आत्मग्लानि, मानसिक पराजय, पारिवारिक दुःख और राष्ट्रीय आपत्ति के समय जब मनुष्य धैर्य और साहस छोड़ देता है तो किसी परम शक्ति की ओर मुँह ताकते हुए वह अपने आपको समर्पित कर देता है। सब ओर से जब उसे विषाद ही का मुँह ताकना पड़ता है तो वह उन परम शक्ति से शक्ति ग्रहण करने की कोशिश करता है जिससे वह उन बाधाओं का मुकाबला कर सके; परन्तु जब उसे वह अज्ञात शक्ति भी शक्ति प्रदान नहीं करती तो उसका स्वयं का पुरुषार्थ भी अयोग्य सिद्ध होता है। उसे यह समस्त संसार ही असार, जंजाल और सपना नजर आता है और वह शीघ्र ही उनसे मुक्त होने की कामना करता है। निराशा की इस चरम स्थिति में भजनों का आविर्भाव सर्वाधिक होता है। पग-पग पर ये मनुष्य को पलायन-वादी बनाते रहते हैं। ये विषाद जीवन में इतने समा जाते हैं कि आह्लाद और आनन्द के क्षणों में भी ये भजन लोकगीतों का स्थान ले लेते हैं और सारे समाज पर छा जाते हैं।

लोकभजनों की आयु लोकगीतों की अपेक्षा अल्प होती है। आनंद और उल्लास की व्यंजनाएँ स्थायी, सुखकारी और अधिक प्रभावशाली होती हैं। वे मर्म को सर्वाधिक छूती हैं। मनुष्य उनके प्रवाह में बहकर नाना प्रकार के रागात्मक और भावात्मक जाल गूँथता रहता है और संपूर्ण व्यक्तित्व को उनमें अभिव्यक्त करता है। उसे एक सृजनात्मक आनंद उपलब्ध होता है। वह अपने दुःख में भी सुख का अनुभव करता है, तथा भावलोक में अभिव्यंजित होकर वह अपने आपको पूर्ण वैभवशाली अनुभव करने लगता है। उसकी भावनाएँ व्यापक और संपन्न होती हैं, उनमें गहराई आती है और उसके जीवन का परिष्कार होने लगता है। इन्हीं भावात्मक परिस्थितियों के परिणाम लोकगीत होते हैं। ये आनंद और उल्लास के प्रतिनिधि होने के कारण समाज की सृजनात्मक शक्तियों के लिये खुराक होते हैं। ये जितने ही पुराने पड़ते जाते हैं, उनमें समाज की अभिव्यंजनाएँ मिलकर, गंभीरता और स्थायित्व के तत्त्व बढ़ते रहते हैं, परन्तु भजनों की आयु अल्प और उनका प्रभाव तात्कालिक होता है। जिस तीव्र गति से ये बनते हैं, उतनी ही तीव्र गति से ये मिटते भी हैं। मनुष्य आनंद की अभिव्यक्ति चाहता है। विषाद विवशता से आता है। आनंद स्वाभाविक प्रवृत्ति है। साधारणतः आनंद की चाह विषाद को दूर रखती है, पास नहीं फटकने

देती, परन्तु जब उसकी पराकाष्ठा होती है तो आनंद को विषाद के सामने दब जाना पड़ता है। विषाद उस पर हावी होजाता है। उसी विवशता और अभाव-ग्रस्त स्थिति में भजनों का आविर्भाव होता है। मनुष्य की अभिव्यंजनाएँ कुंठित होजाती हैं। रूखे-सूखे और मर्यादित स्वर तथा शब्दों में भजनों की सृष्टि होती है। यही कारण है कि भजनों में भावों की बारीकी, कल्पना की उड़ान तथा स्वरों की रंजकता नहीं होती। सीधी और सरल व्यंजनाओं में याचना, आत्म-निवेदन तथा मानसिक घुटन के कारण जीवन से मुक्ति की भावना प्रमुख रहती है। ये गीत जब किसी देवी-देवताओं, संस्कारों तथा अंधविश्वासों और अंध-परम्पराओं के साथ जुड़ जाते हैं तो वे स्थायी अवश्य होजाते हैं, परन्तु उनमें गीतों के गुण नहीं होते। उनमें केवल लकीर ही पीटी जाती है। ऐसे लोकभजन बहुधा अशिक्षित और पिछड़े हुए समाज में ही अधिक प्रचलित होते हैं, इसलिये उनका घुमाव-फिराव उन्हीं में हुआ करता है। अनुभवशील, परिमार्जित तथा भावनाशील समाज के पास वे नहीं आते, इसलिये उनमें अनुरंजकता और व्यापकता के गुण प्राय: नहीं होते। गंभीर और सुसंस्कृत समाज अपने अभावों और विषादों को धैर्य और पुरुषार्थ से झेलता है और उन्हें आनंद और उल्लास से परिमार्जित कर देता है। वह उन पर रोता नहीं, परास्त नहीं होता, संकीर्ण, क्षुद्र आवेगों से द्रवीभूत होकर क्षुद्र व्यंजनाओं में प्रकट नहीं होता। अत: ऐसे समुदाय के पास भजन प्राय: फटकते ही नहीं।

यह विवेचन उन भजनों का है, जो लोकभजन की परिभाषा में आते हैं, जिनका व्यक्तित्व समाज में निहित रहता है और रचयिता के व्यक्तित्व की छाप जिन पर अंकित नहीं होती परन्तु वे भजन जो साधु-संतों और सुलझे हुए महात्माओं द्वारा रचे हुए तथा गाये हुए होते हैं, इन लोकभजनों से भिन्न होते हैं। ये यद्यपि लोकभजनों में शुमार नहीं होते, परन्तु उनके प्रचार और प्रसार को देखते हुए वे किसी भी तरह लोकभजनों से कम नहीं। ये भजन बहुधा संसार से विमुक्त, पूर्ण ज्ञानी तथा महान् आत्माओं द्वारा रचित होते हैं, जो संसार के क्षुद्र अभावों, विषादों और उलझनों से दूर रहते हैं। उनके द्वारा रचित गीतों में भावों की उच्चता, विचारों की गहनता तथा जीवन की गहन अनुभूति निहित रहती है। उनका जीवन सांसारिक अभावों से दूर रहता है। वे विशिष्ट मानव के रूप में संसार को कुछ संदेश देने तथा अंधकार में भूले-भटकों का मार्गदर्शन करने के लिये अवतरित होते हैं। उनके कण्ठ से जो वाणी निकलती है, उसमें समस्त जीवन का सार रहता है और उसमें एक आध्यात्मिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे गीत बहुधा वर्णनात्मक नहीं

होते, न उनमें छिछली याचना या निराशा की अभिव्यक्ति ही होती है। वे जीवन के विश्लेषण के रूप में जनता के सामने आते हैं और जीवन, जगत्, आत्मा, परमात्मा की गहन गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ होते हैं। ये गीत बहुधा वैयक्तिक दायरे में ही रहते हैं। सामाजिक बुद्धि उन महापुरुषों की गहन अभिव्यंजना और अलौकिक आध्यात्म-बुद्धि को नहीं पहुंच सकती, इसलिये वे अपने सृजनकाल से ही सैकड़ों वर्षों तक प्राय: अक्षुण्ण रहते हैं, शब्दों में तथा धुनों में हेरफेर अवश्य हो जाता है, परन्तु उनका मूल विश्लेषणात्मक आध्यात्मिक तत्त्व ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि उनमें परिमार्जन, परिवर्तन तथा संशोधन साधारण लोक-बुद्धि के बूते से बाहर है। ये भजन अपनी गूढ़ आध्यात्मिकता और तात्त्विक सामग्री के कारण साहित्य और आध्यात्म की अमर धरोहर बन जाते हैं। ये राष्ट्रीय धरोहर के समान हैं और लोकभजनों से भी इनका दर्जा बहुत ऊंचा है।

ये भजन जब जीवन में लोकगीतों की तरह ही व्याप्त हो जाते हैं और सैकड़ों वर्षों तक जनता इन्हें गाती है, तो उनका स्वरूप कभीकभी बदल भी जाता है, परन्तु उनके गहन तात्त्विक विचार अक्षुण्ण रहते हैं। ऐसे गीत जीवन में व्याप्त होकर प्राय: लोकभजन का स्वरूप ग्रहण करते हैं। आम जनता उन्हें गाती है, परन्तु कभी-कभी उनका अर्थ भी नहीं समझती, पर महापुरुषों की वाणी होने के कारण वे प्रत्येक व्यक्ति के कंठ पर आदर और श्रद्धा के साथ विराज जाते हैं। उन्हें गाते समय वे स्वरों को आत्मसात् करके उनके गूढार्थ को छोड़ देते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे गीतों की धुनें लोकसंगीत की तरह सामाजिक धरातल प्राप्त करती हैं और उनके साथ प्रयोक्ताओं की स्वयं की धुनों का भी मिश्रण होने लगता है। उनके मूल रचयिताओं के मौलिक विचारों की वास्तविकता ज्यों की त्यों रहती है। रचयिता का नाम भी अक्षुण्ण रहता है। केवल धुन ही समाज की धरोहर बन जाती है। कबीर, तुलसी, सूर तथा मीरा के सैकड़ों गीत सामाजिक कसौटी पर चढ़कर अपनी अत्यन्त मधुर धुनों के कारण लोकभजन बन गये हैं। इन भजनों की मूल धुनें अत्यन्त ही प्राथमिक और एकांगी होती हैं, परन्तु जनता के कंठों पर चढ़कर उनमें अपूर्व रंगों का निखार आता है, बल्कि यों कहें कि ये भक्ति-गीत उक्त प्रक्रिया के अनुसार लोकभजनों का दर्जा प्राप्त नहीं करते तो उनकी आयु कदाचित् इतनी लम्बी होती भी नहीं। ये भजन निराशा, निरुत्साह तथा आत्मग्लानि के रूप में जनता के कंठों पर नहीं चढ़ते हैं। इनका धरातल बहुत ही गहन होता है। वे वैयक्तिक

अभावों से कोसों दूर रहते हैं। उन पर इनके मूल सृजकों के सधेहुए उन्नत और आध्यात्मिक जीवन की छाप रहती है, जो वास्तव में पूर्ण ज्ञान, अलौकिक बुद्धि और जीवन की साधना के फलस्वरूप ही अंकित होती है। वे अन्ततोगत्वा पूर्णानन्द, पूर्ण प्रकाश और अलौकिक ज्ञान की ही सृष्टि करते हैं। यह अनुभूति निराशा और अभावों की उपज नहीं, यह पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान की ही देन है। इसलिए ये भजन भी लोकसंगीत की आनन्दप्रदायिनी श्रेणी में ही आते हैं तथा जीवन और जगत् के बीच बहुत ही सुन्दर सामंजस्य पैदा करते हैं। इन गीतों में आत्मग्लानि, आत्म-प्रवंचना तथा संसार का कुरूप पक्ष अंतर्हित नहीं होता। उनमें जीवन का सागर लहलहाता है और संसार का अत्यन्त सृजनात्मक और आनन्दमय पक्ष निहित रहता है। जग और जीवन की अनेक गुत्थियों का अत्यन्त सुन्दर और विश्लेषणात्मक समाधान उनमें अंतर्हित रहता है। समाज का बुद्धिजीवी पक्ष उनके शब्द, कवित्त तथा अर्थ से प्रेरणा ग्रहण करता है तो समाज का भावात्मक लोकपक्ष उनकी धुनों से प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। सही माने में इन भजनों का स्वर-पक्ष ही इन्हें लोकधर्मी गीतों का दर्जा देता है। लोकमानस स्वरों को पहले पकड़ता है और इन्हें सतत रूप-रंग देता रहता है। इन भजनों की लोकपक्षी स्वर-रचना के वैविध्य से इन गीतों को चार चांद लग गये हैं। ऐसे अनेक गीत जनता के कंठों पर विराजमान हैं, जो रात को इकतारे पर गांव के चौराहे तथा चौपाल में सार्वजनिक रूप से गाये जाते हैं। ये गीत किसी व्यक्ति, जाति, धर्म तथा समाज-विशेष की धरोहर नहीं होते। उनका दायरा बहुत ही विस्तृत हो जाता है और अत्यन्त जीवनोपयोगी गीतों का दर्जा प्राप्त कर लेता है।

इन भजनों की भी कई श्रेणियां हैं। कुछ भजन किसी सम्प्रदाय-विशेष के लगाव के कारण अनेक मर्यादाओं में बँध जाते हैं, परन्तु जो तात्त्विक और विश्लेषणात्मक भजन होते हैं, उनका दायरा बहुत ही विस्तृत होता है। सगुण भक्ति के भजनों में मन्दिर, मठ तथा विशिष्ट सम्प्रदाय की ममता चिपक जाती है, इसलिये उनका दायरा कुछ छोटा रहता है। निर्गुणी तथा ज्ञानपक्षी भजनों का दायरा बहुत बड़ा होता है। उनकी पहुंच किसी व्यक्ति, समाज, धर्म तथा सम्प्रदाय तक ही नहीं होती बल्कि वे सबकी धरोहर होते हैं। उनसे प्रयोक्ताओं को सर्वदा ही जीवन सम्बन्धी प्रेरणा मिलती रहती है। इस प्रकार के निर्गुणी, सगुणी दो राजस्थानी भजनों के उदाहरण स्वरलिपि सहित प्रस्तुत हैं:—

निर्गुणी भजन

(स्थाई)

यां को भेद बतावो ब्रम्मचारी
यां में कौन पुरस कौन नारी ।

(अंतरा)

ना म्हैं परणी ना म्हैं कंवारी, टाबर जण जण हारी ।
काळी मुंडी रो एक नी छोड्यो, तो ई अकन कंवारी ॥
सुसरो म्हारो अस्सी बरस रो, सासू अकन कंवारी ।
पति हमारो हींदे पालणो, हींदा दे दे हारी ॥
ब्राह्मण के घर भई रे ब्राह्मणी, साधां के घर चेरी ।
काजी के घर भई रे तुरकड़ी, कलमां पढ़-पढ़ हारी ॥
कहत कमाल कबीरा की बेटी, सुणज्यो सिरजनहारी ।
थणी भजन री करे खोजना, वो नर चतर सुजाणी ॥ या में····

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्थाई

										सा	–	सा	–
										यां	S	को	S
म	रे	–	म	–	म	–	प	प	–	ध	–	प	–
भे	S	S	द	S	ब	S	ता	वो	S	ब्र	S	म्म	S
ध	–	–	प	–	–	ध	म	–	–	म	-	प	–
चा	S	S	री	S	S	S	S	S	S	यां	S	में	S
प	ध	–	प	–	म	–	ग	ग	सा	रे	–	रे	सा
को	S	S	न	S	पु	S	र	स	S	को	S	न	S
ग	रे	सा	सा	–	–	–	–	–	–,	सा	–	सा	–
ना	S	S	री	,S	S	S,	S	S	S,	यां	S	को	S
×			२				०			३			

अंतरा

ग	—	—	ग	—	—	म	रे	ग	—	सा	—	—	—
मा	ऽ	ऽ	म्हे	ऽ	ऽ	ऽ	थ	र	ऽ	सी	ऽ	ऽ	ऽ
रे	—	—	म	—	—	म	प	—	—	प	ध	नी	प
ना	ऽ	ऽ	म्हे	ऽ	ऽ	कं	वा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ
प	ध	—	प	—	प	—	प	ध	—	प	म	म	—
टा	ऽ	ऽ	ब	ऽ	र	ऽ	ज	ण	ऽ	ज	ऽ	ण	ऽ
म	प	—	प	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
हा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
प	—	—	प	—	ध	—	सां	—	—	सां	—	—	—
का	ऽ	ऽ	ढ़ी	ऽ	मू	ऽ	डी	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रें	—	—	रें	—	रें	सां	गं	रें	सां	सां	—	—	—
थे	ऽ	ऽ	क	ऽ	नी	ऽ	छो	ऽ	ऽ	क्यो	ऽ	ऽ	ऽ
सां	—	—	सां	—	—	—	नी	नी	प	ध	—	—	प
तो	ऽ	ऽ	हूँ	ऽ	ऽ	ऽ	थ	क	ऽ	न	ऽ	ऽ	कं
नी	ध	प	प	—	—	—	ध	म	—,	रे	म	म	प
बा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	था	ऽ	में	ऽ
प	ध	—	प	—	म	—	ग	ग	सा	रे	—	रे	सा
को	ऽ	ऽ	न	ऽ	पु	ऽ	र	स	ऽ	को	ऽ	न	ऽ
म	रे	सा	सा	—	—	—	—	—	—,	सा	—	सा	—
ना	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	मा	ऽ	को	ऽ
×			२				०			३			

शेष अंतरे भी इसी धुन में गावें।

यह राजस्थानी निर्गुणी भजन गहन रहस्यों से परिपूर्ण है। इसके गूढ़ार्थ जिसको प्राप्त हो जाते हैं, वही जीव जगत् के इस रहस्य को समझ सकता है।

सगुणी भजन

(स्थाई)

गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एळो जमारो रे ॥

(अंतरा)

साथ हमारे सिरधणी ओ राम, मैं साधाँ री दास।
गुरु जिमाऊँ माणक चौक में कई ळळहळ होवूंगी वास।
साँवरियो तो प्राण हमारो रे, यो झूठो जुग लागे खारो रे ॥

कूँवा बावड़ी सूँ म्हारे काम नहीं ओ राम नाडूले कुण जाय।
समुन्द्र से म्हारे परच नहीं मैं तो जा पूगूँ दरियाव।
गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एळो जमारो रे ॥

काँसी पीतल सूँ म्हारे काम नहीं ओ राम लोह लेवा कुण जाय।
सोना रूपा सूँ म्हारे परच नहीं, म्हारे हीरा रो वैपार।
साँवरियो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एळो जमारो रे ॥

सेना कोतवाळ सूँ म्हारे काम नहीं ओ राम कचेड़ी कुण जाय।
कामदारी से म्हारे परच नहीं, मैं तो जाय पूगूँ दरबार।
गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एळो जमारो रे ॥

मीराबाई हरखी रे लाडला ओ राम, बांध्यो भजन रो मोड़।
मीरा ने गिरधर मिल्या कई नागर नन्दकिशोर।
साँवरियो तो प्राण हमारो रे, यो झूठो जुग लागे खारो रे ॥

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

					ग	प	म	ग	–	सा	रे	सा	–
					गो	ऽ	बि	ऽ	ऽ	दो	ऽ	दो	ऽ
नी़	–	–	सा	–	–	रे	म	प	–	म	–	ग	रे
प्रा	ऽ	ऽ	ण	ऽ	ऽ	ह	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रे	ग़	–	–	–	ग	म	प	पध	सांनी	ध	–	प	–
हे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	म	ऽ	ज	नऽ	ऽऽ	बि	ऽ	न	ऽ
(म)	–	–	म	–	–	प	ग	–	–	सा	रे	ग	सा
ए	ऽ	ऽ	ओ	ऽ	ऽ	ज	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	–	–	–,	ग	प	म	ग	–	सा	रे	सा	–
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	गो	ऽ	बि	ऽ	ऽ	दो	ऽ	दो	ऽ
x			२				०			३			

अंतरा

नी	प	–	नी	–	–	नी	सा	–	–	रे	ग	सा	रे
सा	ऽ	ऽ	थ	ऽ	ऽ	हू	मा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
नी	–	–	नी	नी़	–	नी	सा	सा	–	रेग	पम	गरे	ग
ऽ	ऽ	ऽ	सि	र	ऽ	थ	ग़ी	धो	ऽ	राऽ	ऽऽ	ऽऽ	म
(प)	–	–	म	–	–	–	ग	–	–	सा	रे	ग	सा
मैं	ऽ	ऽ	सा	ऽ	ऽ	ऽ	धा	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	सा	ग	–	म	म	प	पध	सांनी	ध	–	प	प
दा	ऽ	स	नू	ऽ	त	जि	मा	कंऽ	. ऽऽ	मा	ऽ	ण	क
x			२				०			३			

–	–	–	ध	प	ध	म	प	–	–	ग	म	पध	नीसां
ऽ	ऽ	ऽ	भो	ऽ	ऽ	क	में	ऽ	ऽ	क	ऽ	ईऽ	ऽऽ
सां	सां	–	नी	–	ध	नी	प	ध	–	प	–	म	–
ड	ळ	ऽ	हूं	ऽ	ळ	ऽ	डो	ऽ	ऽ	लूं	ऽ	गो	ऽ
(ग)	–	–	प	–	म	–	म	ग	सा	रे	–	सा	–
वा	ऽ	ऽ	ध	ऽ	सां	ऽ	व	रि	ऽ	यो	ऽ	तो	ऽ
नी	–	–	सा	–	–	रे	ग	प	–	म	–	ग	रे
प्रा	ऽ	ऽ	ण	ऽ	ऽ	ह	मा	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
रे	ग	–	–	–	ग	म	प	पध	सांनी	ध	–	प	–
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	थो	ऽ	झू	ठोऽ	ऽऽ	जु	ऽ	ग	ऽ
ग	–	–	म	–	–	–	मप	ग	–	सा	रे	ग	सा
ला	ऽ	ऽ	गे	ऽ	ऽ	ऽ	खाऽ	ऽ	ऽ	रो	ऽ	ऽ	ऽ
सा	–	–	–	–,	ग	प							
रे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ,	गो	ऽ	विदो तो		प्राण	हमारो रे....			
×			२				०			३			

इस राजस्थानी भजन में भक्तिमति मीरा इस जग को झूठा बतलाकर भगवान् के चरणों में पहुँचने की कामना करती है। आत्मशांति के लिये वह छोटे-छोटे स्थानों पर जाने की अपेक्षा सीधे प्रभु के दरबार में पहुँचना चाहती है। यह कामना साधु-संतों की संगति से पूरी हो सकती है। उनको वह माणक-चौक में भक्तिपूर्वक भोजन कराना चाहती है।

लोककीर्तन

लोकभजन और लोककीर्तन की पृष्ठभूमि में विशेष अंतर नहीं। भजन में आध्यात्मिक तत्त्वों का,आधिक्य होता है तो कीर्तन में लय और गेय तत्त्व अधिक प्रबल होते हैं। कीर्तन बहुधा नृत्य-प्रधान होते हैं, अतः उनकी चालें भजनों की अपेक्षा अधिक द्रुत होती हैं तथा उनमें स्वर-लालित्य भी भजनों से

अधिक होता है। शब्दों में व्यंजनात्मक शक्ति की कमी तथा वर्णन की प्रधानता होती है। कीर्तन की तर्जें सरल होती हैं। भजनों में कीर्तन की अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्व अधिक प्रबल होता है। कीर्तन आराध्य देव के सम्मुख ही होता है, इसलिये उनमें सौन्दर्य-वर्णन अधिक होता है। भजनों में आराध्य देव की उपस्थिति आवश्यक नहीं, इसलिये अनुपस्थित विषय के लिये अनेक रहस्यमयी बातें उन्हें आध्यात्मिकता प्रदान करती हैं।

पारिवारिक एवं शृंगारिक गीत

लोकगीतों में इन गीतों की संख्या सबसे अधिक है। ये गीत लोक-जीवन के प्रत्येक पक्ष के साथ जुड़े हुए होते हैं। शादी-विवाह, विरह-मिलन, भाई-भौजाई, सास-बहू, वर-वधू संबंधी अनंत कल्पनाओं से युक्त ये गीत नाना प्रकार की व्यंजनाओं की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार के गीतकाव्य-तत्त्व तथा शब्द-सौष्ठव की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण, मनोरंजक, मधुर तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भी होते हैं। इनका संचार-क्षेत्र तथा जीवनकाल सर्वाधिक विस्तृत और विशद होता है। इन गीतों का स्वर-सौष्ठव तथा स्वर-सौन्दर्य भी अपूर्व होता है तथा उनकी अभिव्यंजनाएँ अधिक निखरी हुई और मुखरित होती हैं। उनमें हृदय के भावों के साथ ही स्वर-लहरियों का फैलाव और घुमाव होता है। इन गीतों में मनुष्य के हास, लास, उच्छ्वास, आनन्द, विरह, संताप, संवेदना, स्नेह, सहानुभूति और सौहार्द के भाव विशेष रूप से निहित रहते हैं, अतः उनमें काव्य-सौन्दर्य के साथ स्वर-सौन्दर्य की अपूर्व छटा दृष्टिगत होती है। लोकसंगीत की यह ऐसी शैली है, जिसमें मानव-मन को सर्वाधिक अनुरंजित और अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है। वह भावों की निष्पत्ति के साथ ही उपयुक्त स्वरों की सृष्टि करता है तथा अपने भावभीने स्वरों को शब्दों से संवारता है। यही कारण है कि लोकसंगीत का यह विशिष्ट पक्ष अत्यन्त समृद्ध और रसपूर्ण पक्ष है। इन गीतों की रचनाओं में लालित्य के साथ वैविध्य तथा कमनीयता और मृदुता भी है। कला की दृष्टि से भी ये गीत सर्वोपरि हैं। साधारणतः लोकसंगीत में भाव-पक्ष प्रधान तथा कला-पक्ष गौण रहता है, परन्तु इस विशिष्ट शैली के गीतों में कला-पक्ष भाव-पक्ष के समकक्ष ही रहता है।

ये गीत उत्सव, त्यौहार तथा जीवन के शून्य क्षणों को रस-प्लावित करने के निमित्त विशेष रूप से गाये जाते हैं। उनमें साहित्य की दृष्टि से भी नाना प्रकार की अद्भुत व्यंजनाओं के दर्शन होते हैं तथा भावों के उतार-चढ़ाव के साथ ही स्वरों में भी विलक्षण उतार-चढ़ाव निहित रहता है, जो उन्हें

अद्वितीय सौन्दर्य प्रदान करता है। ये ही ऐसे गीत हैं जो चिरकाल तक मनुष्य के दुःख-सुख में सच्चे जीवनसंगी का काम करते हैं। इन गीतों में मानवीय जीवन की मूलभूत अभिव्यंजनाओं तथा समष्टिगत जीवन का सुन्दर चित्रण रहता है। मानव-मन की विविध स्थितियों में जो अभिव्यंजनाएँ स्वाभाविक होती हैं, उन्हीं का उनमें चित्रण होता है। वे सम्पूर्ण समाज को मान्य होती हैं, सबके मन को भाती हैं, सबकी भाव-स्थितियों में रम जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनमें अपनापन अनुभव करने लगता है तथा उनकी स्वर-लहरियों में रमता हुआ सराबोर हो जाता है। पारिवारिक जीवन की इन मूलभूत अभिव्यंजनाओं को चित्रित करनेवाला एक राजस्थानी लोकगीत स्वरलिपि सहित प्रस्तुत है :–

पारिवारिक गीत

छप्पर पुराणो पिया पड़गयो जी तिड़कन लागा बाँस
तिड़कन लागा बाँस ओ जी पिया बाँस
अब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी।
बादल में चमके ढोला बीजली जी, मेळाँ में डरपे घर री नार
मेळाँ में डरपे घर री नार, ओ जी पिया नार
अब घर आय जावो म्हारा बालमा हो जी।
गोरी तो भीजे ढोला गोखड़े जी, आलीजो भीजे परदेस
आलीजो भीजे परदेस, हो जी पिया देस
अब घर आय जावो गोरी रा बालमा हो जी।
कुवो व्है तो ढोला थागलूँ जी, समन्दर थाग्यो नी जाय
समन्दर थाग्यो नी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो फूल गुलाब रा हो जी।
टाबर व्है तो आलीजा राखलूँ जी, जोबन राख्यो नी जाय
जोबन राख्यो नी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी।
तिनको व्है तो पिया तोड़लूँ जी, प्रीत न तोड़ी जाय
प्रीत न तोड़ी जाय, हो जी ढोला जाय
अब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी।
अस्सी ने टका री पिया चाकरी जी, लाख मोहर री घर री नार
लाख मोहर री घर री नार, हो जी पिया नार,
अब घर आयजावो बरसा मोकळी हो जी॥

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा	सा	सा	रे	ग	म	ग	म	—	गम	ग	प	मप	धप	म	ग
छ	प्प	र	पु	रा	णो	पि	या	ऽ	पऽ	ड़	ग	योऽ	ऽऽ	जी	ऽ
म	रेग	ग	रे	सा	—	रेग	पम	ग	रे	—	—	—	—	—	रे
ऽ	तिड़	क	न	ला	ऽ	गाऽ	ऽऽ	बो	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	म
—	सारे	रे	रे	रेग	गरे	गम	मग	म	रेग	ग	सा	प	प	मग	म
ऽ	तिड़	क	न	लाऽ	ऽऽ	गाऽ	ऽऽ	ऽ	बोऽ	ऽ	स	हो	जी	ढोऽ	ला
रे	रेग	ग	सा	सा	रे	सा	नी	—	पप	नी	नी	सा	सा	रेग	पम
ऽ	बोऽ	ऽ	स	घ	ब	घ	र	ऽ	धाय	जा	ओ	ब	र	गाऽ	ऽऽ
गम	रेग	ग	रे	सा	—	गरे	नी	सा	—	—	—	—	—	—	—
ऽऽ	मोऽ	ऽ	क	ळो	ऽ	ह्रोऽ	ऽ	जी	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×				२				×				२			

शेष गीत भी इसी धुन में गावें।

इस राजस्थानी लोकगीत में एक विरहिणी स्त्री अपने बिछुड़े हुए प्रीतम से कहती है कि इस घर के छप्पर भी पुराने पड़ गये हैं, उसके बांस तिड़कने लगे हैं, अत्यधिक वर्षा से समस्त छत भी टपकने लगी है, अब तुम शीघ्र ही घर आजाओ। बादलों में बिजली चमक रही है, जिससे तुम्हारी प्रियतमा भयभीत होरही है। तुम्हारी गोरी घर के गवाक्ष में भीज रही है और तुम परदेश में भीज रहे हो। हे प्रियतम! यदि कोई साधारण कुआ होता तो उसकी गहराई का पता लगा लेती, परन्तु इस प्रेम के गहन समुद्र की गहराई मुझसे नापी नहीं जारही है। अगर बच्चा होता तो उसे मैं समझा बुझाकर सँभाल लेती, परन्तु यह मेरा यौवन मुझसे सँभाला नहीं जा रहा है। यदि पत्र होता तो मैं पढ़कर संतोष कर लेती, परन्तु मेरा यह भाग्य मुझसे बांचा नहीं

जारहा है। हे प्रियतम ! तुम्हारी यह परदेस की नौकरी तो अस्सी टके (पैसे) की भी नहीं होगी, परन्तु तुम्हारी स्त्री तो एक लाख मोहर की है। अब शीघ्र ही उसकी सुध लो और तुरंत घर आजाओ। मुझसे तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता है।

इन गीतों की लय मध्यम दर्जे की होती है, न बहुत अधिक द्रुत और न विलम्बित। लय का यह क्रम गीतों में अभिव्यंजित काव्य की व्यंजनाओं पर भी अवलम्बित रहता है। यदि अत्यधिक हर्ष-उल्लास का गीत है तो उस गीत की लय कुछ तेज और स्पष्ट होती है। यदि गीत का भाव-पक्ष विषाद की अभिव्यंजना करता है तो उसकी लय अपेक्षाकृत धीमी और गुथी हुई होती है। ऐसे गीतों की संख्या भी सर्वाधिक होती है तथा लोकगीतों की अधिकांश श्रेणियाँ इसी एक विशिष्ट श्रेणी में समाविष्ट होजाती है।

नृत्यगीत

ये गीत अन्य गीतों की तुलना में अपनी विशेषता रखते हैं। लोकनृत्य तथा लोकसंगीत दोनों ही अपने जन्मकाल से ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ नृत्य है वहाँ गीत अवश्य है। क्योंकि बिना गीत के लोकनृत्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नृत्य और गीत की उत्पत्ति के कारण प्रायः एक ही हैं। आन्तरिक उच्छ्वास के समय मानव-मन एक ही साथ शरीर में उमंग तथा हृदय में स्वर की निष्पत्ति करता है। ऐसे समय जो गीत उच्चरित होते हैं, वे अत्यधिक गतिशील होते हैं। नृत्यगीतों में स्वर-सौष्ठव शब्द-सौष्ठव से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है। इन गीतों में बहुधा स्वरों की सीमा संक्षिप्त तथा रचना सरल होती है। कहीं-कहीं तो शब्दों का लोप ही होजाता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं। इन गीतों का काव्य-पक्ष प्रायः दुर्बल ही होता है। कुछ गीत ऐसे भी हैं, जिनकी रचना केवल नृत्य के प्रयोजन से होने के कारण तालवाद्य की ताल के समान मालूम होते हैं। आदिवासियों के अधिकांश गीत इसी प्रकार के हैं। नृत्य की भाव-भंगिमाओं और गतिविधियों के समानान्तर ही इन गीतों की रचना होती है। इन गीतों में स्वरों की उछलकूद अधिक मात्रा में रहती है। नृत्य की एक चाल से दूसरी चाल पर फुदकने के लिये स्वर भी फुदकते रहते हैं और किसी मन्द्र स्वर से तुरन्त तीन-चार स्वर छोड़कर अन्य सप्तक के स्वरों की यात्रा करते हैं।

इन गीतों की रचनाएँ बहुधा नृत्य करते समय ही होती हैं। नृत्यनिरत मन की उमंग नृत्यानुकूल ही स्वरों की निष्पत्ति करती है, जो धीरे-धीरे कुछ

हो जाते हैं, उन्हें शब्द का जामा बाद में पहिनाया जाता है। नृत्यगीत सामूहिक और सामुदायिक होने के नाते उनकी स्वर-रचना भी विशिष्ट प्रकार की होती है। इन गीतों में स्वरों की पेचीदगियां नहीं के बराबर होती हैं। ऐसे गीत अधिकांश लयप्रधान होते हैं, जिन पर अनायास ही पाँव चल पड़ते हैं। ऐसे नृत्यगीत जब सामूहिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं तो दर्शकों पर उनका विचित्र सा प्रभाव पड़ता है। नृत्य जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह गतिहीन बन गया है और उसके साथ चलनेवाला गीत उसकी ताल में परिवर्तित होगया है। ऐसे नृत्यगीतों में बहुधा ताल-वाद्य की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वे स्वयं ही ताल-वाद्य बन जाते हैं। इस प्रकार के एक राजस्थानी नृत्यगीत का नमूना स्वरलिपि सहित प्रस्तुत है—

नृत्यगीत

हालोनी डमराणी म्हारा माया ना मोड़ीला राज
मोड़ीला बांधी ने मरवा तम्मै किर्यां जाता राज
मोड़ीला बांधी ने हुम्मै खेता रा रखवाळी राज
बारा बारा बरसाऊ मरवा तम्मै किर्यां जाता राज
बारा बारा बरसाऊं हुम्मै चाकरिया ने जाता राज
बारा बारा बरसाऊं म्हारी बाड़ियां सूनी रई थी राज

स्वरलिपि (ताल खेमटा)

प़	–	प़	नी़	नी़	नी़	सा	–	सा	नी़	सा	–
हा	ऽ	लो	नी	ड	म	रा	ऽ	णी	म्हा	रा	ऽ
रे	–	रे	रे	सा	ग॒	रे	सा	सा	सा	–	सा
मा	ऽ	या	ना	मो	ऽ	ड़ी	ऽ	ला	रा	ऽ	ज
×			०			×			०		

(शेष गीत भी इसी धुन में गाया जायगा।)

यह राजस्थानी भीलों का एक नृत्यगीत है, जो उनके प्रत्येक नृत्य प्रसंग पर नाच के साथ गाया जाता है। इसकी स्वर-रचना में जो लय के विशिष्ट झटके हैं, जिनसे नृत्यनिरत-स्त्री पुरुषों के पद-संचालन में स्फुरणा उत्पन्न होती है, विशेषरूप से अध्ययन योग्य है।

नृत्यगीत भी नानाप्रकार के होते हैं। वे गीत जो धार्मिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं, उनकी प्रकृति वैसी ही होती है, जैसी धार्मिक गीतों के संबंध में वर्णित की गई है। कुछ गीत वे हैं, जो उत्सव, त्योहार सम्बन्धी नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। इन गीतों का ताल-पक्ष धार्मिक नृत्यों से भी अधिक प्रधानता प्राप्त होता है। उनमें शब्द का महत्त्व धार्मिक नृत्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीतों से कुछ अधिक होता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के नृत्यगीत वे है, जो संख्या में अपेक्षाकृत कम होते हैं और मोद-मंगल के समय छोटे समूह तथा कभी-कभी वैयक्तिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे गीतों का ताल-पक्ष गौण तथा शब्द और स्वर-पक्ष अपेक्षाकृत प्रबल होता है। इन गीतों की लय प्रायः धीमी होती है। एक प्रकार के नृत्यगीत वे हैं, जिनमें शब्दों का कतई लोप हो जाता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं और नृत्यों में उन स्वरों की केवल गूंज ही गूंज प्रयुक्त होती है। आदिवासियों के अनेक नृत्यों में इस प्रकार के गीत प्रयुक्त होते हैं, विशेष करके मणिपुर तथा त्रिपुरा की आदिमजातियों में ऐसे गीत अत्यंत विलम्बित गति में संचरित होते हैं, जिनकी लय बहुत ही धीमी होती है, क्योंकि बिना शब्द-चयन के केवल स्वरों की बंदिशें नंगी सी लगती हैं और कुछ हद तक निष्प्राण भी। इन गीतों की रचनाएं दो या चार स्वरों से अधिक की नहीं होतीं और वे केवल स्वरों के निरर्थक जोड़-तोड़ सी प्रतीत होती हैं। एक प्रकार का नृत्यगीत वह है, जो नृत्यों के साथ प्रयुक्त तो होता है, परन्तु जिसे नृत्यकार स्वयं नहीं गाकर दर्शकगण गाते हैं और नृत्यकार उस पर नृत्य करते हैं। नृत्यकारों को स्वयं ये गीत गाने नहीं पड़ते, अतः इनकी लय अन्य गीतों से सर्वाधिक तीव्र तथा द्रुतगामिनी होती है। अन्य नृत्यगीतों में जहां नृत्य के निमित्त द्रुतलय की आवश्यकता होती है, वहां वह नृत्यकारों को थका देनेवाली भी होती है, क्योंकि उन्हें स्वयं को गाना भी पड़ता है और नाचना भी।

इन क्रियाशील गीतों के संबंध में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो गीत स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं उनकी लय धीमी तथा उनकी गति चक्राकार होती है। उन्हें सुनते समय यह पता नहीं लग सकता कि वे कहां से शुरू होते हैं और कहां खत्म होते हैं। उनकी एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति का विलगाव बहुत कठिन होता है। स्त्रियां नाचते समय अपनी धुन में ऐसी रम जाती हैं कि वे प्रत्येक पंक्ति को एक ही धुन में घुमाती जाती हैं। इन गीतों की अपेक्षा पुरुषों के गीत अधिक गतिशील और लयप्रधान होते हैं। उनमें कमनीयता कम और सजीवता अधिक होती है। नृत्यगीतों में एक महत्त्वपूर्ण भेद और है, वह

है एक ही जगह बैठकर गाये जानेवाले और चलते-फिरते गाये जानेवाले गीतों का। राजस्थान के शादी, विवाह, मांडे, फेरे, पूर्वज, रातीजगे आदि के गीत, जो स्त्रियों द्वारा एक ही जगह बैठकर गाये जाते हैं, लय और स्वर-रचना की दृष्टि से अत्यंत शलथ होते हैं और मंदगति में गाये जाते हैं, परन्तु मेलों-ठेलों में जाते समय गाये जानेवाले गीतों की लय अति तीव्र तथा बन्दिशें अत्यंत चुस्त होती हैं।

इतिवृत्यात्मक गीत

इन गीतों का गेय पक्ष अत्यंत दुर्बल और वर्ण्य पक्ष बहुत ही प्रबल होता है। उनमें केवल शब्दों का जाल बिछा रहता है तथा उनकी स्वर-रचना बहुत ही प्राथमिक और शिथिल होती है। उनकी स्वर-सीमा संक्षिप्त और रचना सुनने में बहुत ही फीकी होती है। इन गीतों में राजस्थान के पड़-गीत, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा राव-भाटों के बिरुदावली-गीत शुमार होते हैं। ये गीत विशिष्ट याचक जातियों द्वारा अपने यजमानों की प्रशंसा में गाये जाते हैं। कई गीतों में केवल वंशों के नाम होते हैं जो थोथे स्वरों में पुश्त-दर-पुश्त गिनाये जाते हैं। कुछ में केवल प्रशंसासूचक शब्दों का जाल बिछा रहता है। कुछ गीतों में किसी देवता का शुष्क और नीरस गुणगान मात्र रहता है। कुछ में केवल वस्तुओं, पोशाकों तथा अलंकरणों की सूचियाँ गिनाई जाती हैं। ये गीत प्राय: शब्दप्रधान होते हैं तथा ऐसे स्वरों में गुथे हुए होते हैं, जो गाने में केवल कविता-पाठ से प्रतीत होते हैं। इन गीतों में एक विशेषता यह है कि गाते समय गीत की पंक्ति के अंत में एक ही स्वर पर रुककर काफी मात्राओं तक एक विशिष्ट प्रकार की धुन पैदा करने की चेष्टा की जाती है। महाराष्ट्र के पवाड़ों में जैसे जी, जी, जी, राजस्थान के पड़-गीतों में रे रे रे, ए ए ए आदि अक्षरों की गेय दृष्टि से पुनरावृत्ति की जाती है। सच तो यह है कि समस्त गीत में यही उसका गेय पक्ष है, शेष सब केवल गेय नगण्य है। ये सब गीत प्राय: तीन स्वरों में ही चलते-फिरते हैं। उनमें कोई उतार-चढ़ाव तथा वैविध्य नहीं होता तथा उनका काव्यपक्ष भी प्राय: कुछ नहीं के बराबर होता है।

व्यवसायिक लोकगीत

लोकसंगीत का यह पक्ष संगीत की दृष्टि से अत्यंत संपन्न तथा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। व्यवसायिक जातियों द्वारा गाये जाने के कारण यह संगीत के लोक-पर्याय तत्त्वों से कुछ विलग अवश्य हो गया है, परन्तु उसकी आत्मा अभी भी

लोकसंगीत की ही है। इन गीतों के पीछे आजीविका उपार्जन का उद्देश्य सम्मुख रहने से वे इन जातियों द्वारा विशेषरूप से सजाये-सँवारे जाते हैं। इन की स्वर-रचनाएँ अत्यंत परिष्कृत, प्रांजल, रसपूर्ण, सर्वगुणसम्पन्न तथा वैविध्यपूर्ण होती हैं। गेय गुणों से ओतप्रोत इन रचनाओं का स्वर-संचार भी अत्यन्त विशद होता है। शास्त्रीय संगीत की तरह ही इनमें स्थाई, अंतरे का स्वरूप कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगता है। इन गीतों के मूल कलेवर को छोटी-छोटी मुरकियों, तानों तथा विशेष झटकों से सजाया-सँवारा जाता है। इनकी तालें भी कुछ हद तक वक्र होती जाती हैं, जैसे झूमरा, चाचर आदि। इन जातियों द्वारा अपने यजमानों के सम्मुख गाये जाने के कारण इन गीतों में काफी प्रौढ़ता आगई है। इनमें महाराष्ट्र के पवाड़े, राजस्थान की मांडें, लावणियाँ, उत्तर प्रदेश की कजरी, राजस्थान की ओल्यूं, पीपली, पोमचो आदि गीत शुमार किये जा सकते हैं। कुछ गीत शास्त्रीय संगीत की ठुमरी शैली के अनुरूप हैं। कुछ का गेय पक्ष इतना प्रबल है कि कतिपय शास्त्रीय संगीतज्ञ भी इन्हें अपनाने लगे हैं। इन गीतों में स्वर-सौन्दर्य के साथ ही काव्य-सौन्दर्य भी प्रचुर मात्रा में है। कुछ गीतों की चलत फिरत शास्त्रीय संगीत की ख्याल शैली के अनुरूप है, स्वरों की बंदिश में रहकर भी उनमें इधर-उधर संचरित होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। राजस्थान में इस प्रकार के संगीत की पोषक और रक्षक जातियों में ढोली, मिरासी, लंगे, भाट, ढाढ़ी, सरगड़े, भोपे, राव, बैरागी, कामड़, कलावंत, बारेठ, भांड, भवाई आदि जातियाँ शुमार हैं। ये गीत विशेषकर संगीत के जलसों, दावतों, विवाह-शादियों तथा मांगलिक अवसरों पर संस्कारिक गीतों की तरह कुछ विशिष्टजनों द्वारा गाये जाते हैं। इनमें साहित्यिक छटा के दर्शन होते हैं और गायक के व्यक्तित्व की छाप भी इन पर अंकित रहती है। गानेवाला भी उन्हें अपनी रुचि के अनुकूल बना लेता है। इस प्रकार के गीत के उदाहरणस्वरूप एक राजस्थानी मांड स्वरलिपि सहित प्रस्तुत की जाती है –

व्यवसायिक गीत

मांड

म्हारा साँचोड़ा मोती हाले तो ले चालूं मुरधर देस
हाँ हाले तो ले चालूं मुरधर देस रे थारा मैणा मोती
हाले तो ले चालूं मुरधर देस

दोहा

ए रे मोती सीप का कोन तपस्या कीन
कंचन के ढिग बैठ के, तो अधरन को रस लीन
रे धण मेंगा मोती हाले तो ले चालूं मुरधर देस

स्वरलिपि (ताल दादरा)

									सा	सारे	नी
									म्हा	राऽ	ऽ
सा	ग	ग	गमध	प	–	म	प	–	पधनीसां	ध	म
सां	चो	ड़ा	मोऽऽ	ती	ऽ	हा	ले	ऽ	तोऽऽऽ	ऽ	ले
मप	म	रेसा	सारे	गरे	गसा	सा	–	सा,	गम	पध	नीसां
चाऽ	लूं	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर	दे	ऽ	स,	हांऽ	ऽऽ	ऽऽ
नी	सां	–	नी	सां	–	सांरें	नी	धप	पध	नीध	मप
हा	ले	ऽ	तो	ले	ऽ	चाऽ	लूं	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर
पप	सांनी	ध	प	म	गम	गरे	ग	–	गमध	प	–
देऽ	ऽऽ	स	रे	ध	णऽ	मेंऽ	गा	ऽ	मोऽऽ	ती	ऽ
ग	म	–	पधनीसां	ध	म	मप	ग	रेसा	सारे	गरे	गसा
हा	ले	ऽ	तोऽऽऽ	ऽ	ले	चाऽ	लूं	ऽऽ	मुर	धऽ	ऽर
सा	–	सा,	सा	सारे	नी						
दे	ऽ	स,	म्हा	राऽ	ऽ	सांचोड़ा मोती			…………………		
×			०			×			०		

दोहा (बिना ताल के)

गमपधनीसांनी नी – नी – नी – नी – नी – रें सारें नीसां धनी – – ध
हो ऽऽऽऽऽऽ ए ऽ रे ऽ मो ऽ ती ऽ सी ऽ प काऽ ऽऽ ऽऽ ऽ ऽ ऽ

सां – सां सां सां – नी रें सां – – – – – – सां
को ऽ न त प ऽ स्या ऽ की ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ न,

नी – नी नी नी – नी नी नी – नी सांनी धनी – – ध
कां ऽ च न के ऽ ढि ग बै ऽ ठ केऽ ऽऽ ऽ ऽ ऽ

सां सां सां सां सां – नी रें
घ घ र न को ऽ र स

(ठेका शुरू)

सांनी रेंसां नी	ध पध प	म गम रेग	म प –
लोऽ ऽऽ म	रे घऽ ला	में गाऽ ऽऽ	मो ती ऽ
ग म –	पधनीसां ध म	मप ग सा	सारे गरे गसा
हा ले ऽ	लोऽऽऽ ऽ ले	चाऽ लूं ऽ	धुर घऽ ऽर
सा – सा,	सा सारे नी		
दे ऽ स,	म्हा राऽ ऽ,	सांचोड़ा मोती	....
×	०	×	०

इस लोकगीत की स्वर-रचना शास्त्रीय संगीत की ठुमरी-रचना के समान है। व्यवसायिक जातियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे अत्यन्त अलंकृत ढंग से गाया जाता है।

नाट्यगीत

इस शैली के गीत कुछ अंशों में नृत्यगीतों की श्रेणी में आ जाते हैं, फिर भी उनकी अपनी प्रकृति तथा उनका अपना व्यक्तित्व है। ये गीत नाटक

के साथ गाये जाते हैं, इसलिए इन्हें नाट्यसंगीत की संज्ञा प्राप्त हुई। लोक-जीवन में जो अनेक नाट्य बिखरे हुए हैं, उनके मुख्य माध्यम ये ही गीत हैं। भारतीय परम्परा में लगभग सभी लोकनाट्य पद्यों में खेले जाते हैं। ये पद्य अत्यधिक ऊंचे स्वर एवं विविध धुनों में इसलिए गाये जाते हैं, क्योंकि अभिनेताओं को बिना ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के स्वयं गाकर अपने सहपात्रों के साथ वार्तालाप द्वारा अपना वाणी-लालित्य दर्शाना पड़ता है। इन नाट्यगीतों में गेय तत्वों का अभाव रहता है, क्योंकि वे नाट्य के कथोपकथन के रूप में प्रयुक्त होते हैं, स्वतन्त्र गीतों के रूप में नहीं। यदि अभिनेता गीतों की बारीकियों में ही फँसजायें तो निश्चय ही कथोपकथन अपने मूल उद्देश्य से गिर जाय। इन गेय संवादों के साथ अभिनेताओं को अपने अंगों का नाट्योचित संचालन भी करना पड़ता है, इसलिए नाट्यगीतों की स्वर-रचना भी विशेष प्रकार की होती है। गाते-गाते कहीं भी गीत को तोड़ना पड़ता है, अतः लय की दृष्टि से जो जगह बीच में पैदा हो जाती है उसे अभिनेता लय-तालयुक्त अंगभंगिमाओं के संचालन से भरता है। चूंकि ये गीत अभिनय आदि के साथ स्वयं संवाद बनकर अवतरित होते हैं, इसलिए उनमें प्रायः ताल की वक्रता तथा लय का टेढ़ापन रहता है। प्रत्येक अभिनेता अपने व्यक्तित्व का चमत्कार दर्शाने के लिए इन गीतों को अत्यन्त अलंकृत ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश करता है।

ये नाट्य विशाल जनसमूह के समक्ष खुले में प्रदर्शित होते हैं, इसलिए पात्रों को अपना वाणी-चमत्कार दर्शाना जरूरी होता है। यही कारण है कि उनके गीत-संवाद आलापप्रधान होते हैं तथा ऊंचे स्वरों में गाये जाते हैं। प्रत्येक गीत की अन्तिम पंक्ति को लम्बी आलाप के साथ गाना पड़ता है, जिससे उसकी आवाज दूर तक फैल सके और लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो सके। घंटों तक नाट्य-पात्रों को रंगमञ्च पर अनेक भूमिकाएँ अदा करनी पड़ती हैं, इसलिए उनके गीतों को उठाने के लिए रंगमंच पर अनेक सह-गायक भी होते हैं। पात्र जब गाते-गाते थक जाते हैं तो सह-गायक उनके गीत-संवादों को स्वयं गाने लगते हैं और उन्हें (पात्रों को) अपना अंग तथा पद-संचालन अत्यंत चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। उस समय सह-गायक भी अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगते हैं। यही कारण है कि नाट्य-गीत स्वतन्त्र गायेजानेवाले गीतों से अत्यन्त भिन्न होते हैं, उनकी बंदिशें ही ऐसी होती हैं कि वे बैठे-बैठे गाये ही नहीं जा सकते, उनके साथ क्रियाओं का मेल होना ही चाहिए। इसलिए ये गीत कम स्वरों में सीधी लय के साथ रचे जाते हैं, तथा उनका स्वर-संचालन मध्य और तार सप्तक ही में होता है

ताकि अधिक से अधिक जनता को उनका लाभ मिल सके। ये गीतसंवाद वार्तालाप के रूप में धाराप्रवाह प्रयुक्त होते हैं इसलिए उनकी धुन बहुधा एक समान ही होती है तथा छोटे-छोटे पदों में उनका विभाजन होता है। नाट्यसंगीत लोकसंगीत का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यद्यपि गेय पक्ष का वैविध्य उसमें नहीं है फिर भी लय का चमत्कार उसमें चरम सीमा तक पहुँच गया है। व्यवसायिक नाट्यगीत का उत्कृष्ट उदाहरण राजस्थान के इस ख्याल-गीत में देखिये—

ख्यालगीत

(स्थाई)

बड़ी छै निरभागण तूं राणी
बड़ी छै निरभागण तूं राणी...
पारस भेंटा होय॥ बड़ी छै०....
उतर जावे मुखड़ा रो पाणी
उतर जावे मुखड़ा रो पाणी....
पारस पीक न होय॥ बड़ी छै०....

(अंतरा)

वणजारो बोतल भर बैठ्यो, मांडी छै मतवाळ
निरभागणी सनमुख आयो, चोपड़ दीनी डाल
बड़ी छै निरभागण तूं राणी............
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्थाई

		सा	सा ग ग म
		ब	ड़ी छै नि र
— पप म ग	सारे नी सा रे	ग — —, सा	
ऽ माऽ ग ण	तूंऽ ऽ रा ऽ	णी ऽ ऽ, ब	ड़ी छै निरभागण
— नी नी नी	सांनी सांध पध म	मप ग ग, सा	सा म ग म
* पा र स	भेंऽ, ऽऽ टाऽ ऽ	होऽ ऽ य, उ	त र आ वे
×	०	×	०

– मप म ग	सारे नी सा रे	ग – –, सा	– – – –
ऽ मुख ड़ा ऽ	रोऽ ऽ पा ऽ	णी ऽ ऽ, ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
– नी नी नी	सानी साध पध म	मप ग ग, सा	सा ग ग म
* पा र स	पीऽ ऽऽ काऽ न	होऽ ऽ य, उ	त र जा ये
			मुखड़ा रो पाणी····

अंतरा

सासा सा ग गम	पप पप ग प	– पप ध पप	पध सांनी ध प
बस जा रो बोऽ	तल भर बै ठ्यो	ऽ भोली ढ़ै मत	बाऽ ऽऽ ऽ छ
मग ग ग ग	गम मप मग म	– नी नी नी	सांनी सांध पध म
सिर सा मैं सी	सन मुग्ध बाऽ यो	ऽ वो प ड़	दीऽ ऽऽ गीऽ ऽ
मप ग ग, सा	सा ग ग म		
बाऽ ऽ स, ब	ड़ी ढ़ै नि र	भागता तूं राणी····	··················
×	०	×	०

इस गीत की स्वर-रचना में लयकारी पद-संचालन के अत्यन्त अनुरूप है तथा समस्त गीत को गाते समय संभाषण-परिपाटी का पूर्णरूप से पालन किया गया है।

लोकसंगीत का तालपक्ष

शास्त्रीय संगीत का ताल-पक्ष जितना जटिल होता है उतना लोक-संगीत का नहीं होता। साधारणत: लोकसंगीत की समस्त तालें ७, ८, ९ या १० मात्रा में होती हैं और उसकी लय कम से सरलता को लिए हुए होती है। जिस तरह लोकसंगीत की सृष्टि में शब्द तथा स्वर अनायास ही उद्भूत होते हैं उसी तरह उसके साथ ताल भी गीत की प्रकृति के अनुकूल गठित होती जाती है। जैसे-जैसे गीत-रचयिता के मन में स्वरों की निष्पत्ति होती है, वैसे-वैसे उसके मन में अनेक तरंगें उठती रहती हैं। यदि उसके भावों की

निष्पत्ति वक्र है तथा उसका मन अतिशय उद्विग्न तथा अनेक गुत्थियों से उलझा हुआ है तो उसके अनुरूप ही उसके स्वर अत्यन्त गुंफित तथा जटिल होते जाते हैं। ऐसी विषम स्थिति में गीत की ताल भी वक्र होती है। यही कारण है कि हर्षोल्लास के गीत जितने सरल, सुगम तथा प्रच्छन्न लय में होते हैं, उतने विषाद के गीत नहीं होते। यहाँ यह भी समझना असंगत नहीं कि भावों और स्वरों का जितना सामंजस्य लोकगीतों में होता है, उतना कहीं नहीं। यदि रचयिता का मन किसी विषाद से उद्विग्न है तो उस गीत की स्वर-रचना भी उस विषाद को उद्दीप्त करने वाली होगी। इसी तरह जब उसकी हृदय-तंत्रियाँ उल्लास के अतिरेक से थिरकने लगती हैं तो उस समय की स्वर-रचनाएँ भी उस उल्लास के उद्दीपन में मदद करती हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति गीत की लय भी करती है। साधारणतः लोकगीतों की लय में वक्रता नहीं होती और जो भी वक्रता कहीं-कहीं परिलक्षित होती है, वह भावावेग के कारण ही होती है।

लोकगीतों की तालें सीधी, खटकेदार, लयप्रधान तथा चक्राकार होती हैं। प्रत्येक गीत में एक स्थान पर मान होता है, जो शास्त्रीय संगीत की भाषा में सम कहलाता है, परन्तु सम और मान में बड़ा अन्तर है। शास्त्रीय संगीत के सम में अन्य मात्राओं का परिमाण निहित रहता है। उससे संगीतकार को अपनी मात्राओं की सीमा का पता लगता रहता है, जिससे वह अपनी स्वर-विस्तार-योजना का नियोजन करता है। यह उसके लिए वह मील का पत्थर है, जिससे वह अपनी गायन-संचरण-यात्रा का सही अनुमान लगाता है, वही उसको दिशा-निर्देश करता है और सही गलत का भान कराता है। मान और सम लय के वे स्थान हैं, जो सभी रचनाओं में होते हैं, चाहे वह शास्त्रीय संगीत की रचना हो, चाहे लोकसंगीत की। वे संगीत के मेरुदंड हैं, जहाँ से लय का चक्र शुरू होता है, और पुनः वहीं पर समाप्त होता है। यदि यह मेरुदंड नहीं हो तो लय बिना उद्देश्य के चक्कर लगाती रहे और संगीतकार को उस चक्र में बुरी तरह उलझा दे। शास्त्रीय संगीत के सम में अन्य घटकों के फासले निश्चित रहते हैं, परन्तु लोकसंगीत का मान इस प्रयोजन से नहीं होता। लोकसंगीत की लगभग सभी तालें उनके खटकों की दृष्टि से मान से बराबर फासले पर होती हैं और चाचर, दीपचंदी आदि तालों की तरह, लय के स्थान बराबर फासले पर होते हुए भी उनमें स्थानों का अन्तर रहता है, परन्तु उनका सम अर्थ एक ही होता है। परन्तु जब वे संचरण के समय क्रियाशील होती हैं तो उनमें अनिवार्य रूप से वक्रता का आभास मिलता है। झूमरा, चाचर, दीपचंदी आदि तालों में यही विशेषता है।

बहुधा लोकसंगीत के मान के साथ जो तीया लगाने की परम्परा है, उससे कभी-कभी शास्त्रीय तालों का भ्रम होता है। शास्त्रीय संगीत के तीये सभी तालों के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं तथा प्रत्येक ताल में तीये के अलग-अलग स्थान नियत हैं। दुगुन, चौगुन तथा साधारण लय के तीयों के उठान के स्थान शास्त्रीय संगीत में अलग-अलग होते हैं, परन्तु लोकसंगीत के तीयों में कोई पूर्व नियोजन नहीं होता। लोकसंगीतकार को यह भी मालूम नहीं कि मान कहाँ पर है, उसका अमुक गीत में कहाँ से उठान होता है, कहाँ से उठने पर तीया मान पर सही आ सकता है। परन्तु फिर भी वह गाते समय सही मान का अनुमान कर ही लेता है और बजाने वाला अनजाने ही मान पर अत्यन्त सही जगह तीया लगा देता है। जिस तरह लोकसंगीत का वाद्यकार अपने तारों के वाद्य बिना स्वर-ज्ञान के सही और शुद्ध तरीके से मिला लेता है, उसी तरह गाने-बजानेवाला मान के माने में जगह का भान नहीं होते हुए भी कभी गलती नहीं करता। राजस्थान के भवाई कलाकार की ढोलक सुनकर हम आश्चर्यचकित इसलिए हो जाते हैं कि वह अनजान हो में बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ढोलक पर अत्यन्त वक्रगति की थापें बजाकर अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है। भवाई नृत्यकार भी उसके साथ अत्यन्त वक्रगति से नाचकर विलक्षण चमत्कार दर्शाते हुए उसे आसमान के तारे दिखला देता है। भवाई की ढोलक-वादन-कला लोकशैली की होकर भी शास्त्रीय वादकों को एक बार तो आश्चर्य में डाल ही देती है।

लोकसंगीत में ऐसे अनेक लोकगीत हैं, जिनका ताल-पक्ष बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता, केवल लयमात्र से ही उसका काम चल जाता है। यहाँ लय और ताल का भेद भी समझ लेना आवश्यक है। लय गीत की वह स्वाभाविक चाल है, जिस पर गीत की मूलरचना का आधार होता है। हवा में जो वृक्ष के पत्ते हिलते हैं वे भी लय में हिलते हैं, कोयल जब कुहुकती है तब भी वह लय ही में कुहुकती है, बादल जब गरजते हैं तो वे भी लय ही में गरजते हैं, हम जब गाते हैं तो लय ही में हमारे होठ हिलते हैं, हम चलते हैं तब भी लय पर ही हमारे पाँव उठते हैं। लय वह अज्ञात और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिस पर समस्त ब्रह्माण्ड टिका हुआ है तथा विश्व की समस्त क्रियाएँ अवलम्बित रहती हैं। लय संचार-क्रियाओं की आत्मा है तो ताल उसका शरीर-पक्ष है। लय के विविध भागों, विभागों तथा अनुभागों के विविध समूह को ताल कहते हैं। सच पूछिये तो लोकसंगीत में ताल शब्द का प्रयोग ही गलत है, उसमें सब कुछ लय ही है, ताल जैसी कोई चीज ही नहीं है। शास्त्रीय संगीत में

लयकारी के अनेक भेद-अनुभेद करके ही तालों की कल्पना की गई है। तालों को गिनने तथा उनके फासले निर्धारित करने के लिए जो शास्त्रीय टेक्नीक है, उसका नाम मात्रा है।

लोकसंगीत में तो लय ही सब कुछ है। यही लय गीत-रचना के अनुसार अपना विविध स्वरूप ग्रहण करती है। जिस तरह लोकगीतों की रचना में रागों का चयन अनायास ही रचनाकार की भाव-तरंगों के परिणामस्वरूप निर्धारित हो जाता है, ठीक उसी तरह लय भी इन गीतों में अपना स्वरूप अपने-आप निर्धारित कर लेती है। जिस तरह विविध तालें सीखनी पड़ती है, उस तरह लयकारी सीखनी नहीं पड़ती। वह लोकगीतों में अपने स्वाभाविक ढंग से ही समाहित रहती है। शास्त्रीय संगीत में संगत करनेवाले तबलिये ताल भूल सकते हैं, परन्तु लोकसंगीत में संगीतकार गाते समय अपनी लय कभी नहीं चूकता।

आदिमसंगीत और लोकसंगीत में अन्तर

लोकसंगीत विकास की अपनी पहली सीढ़ी में वैयक्तिक सीमा में ही संचरण करता है, बाद में वह सामाजिक गुण प्राप्त करता है। यह क्रम अनादिकाल से ही चला आरहा है। जिस समय मनुष्य असभ्य समझा जाता था, वह गुफाओं और कंदराओं में निवास करता था, उसकी भाव-स्थितियाँ अत्यन्त प्राथमिकावस्था में थीं, उस समय आनन्दातिरेक के क्षणों में जो ध्वनियाँ स्वतः ही उसके मुँह से निकल पड़ती थीं, वे ही व्यवस्थित और संयत होकर रूपान्तरित हुई। वे ध्वनियाँ प्रथमबार वैयक्तिक दायरे में प्रविष्ट हुईं, तत्पश्चात् उन्होंने सामाजिक और सामुदायिक स्तर प्राप्त किया और लोकगीतों का दर्जा उन्हें मिला। मानव की आदिम अवस्था में उक्त पक्ष का निभाव होता रहा, परन्तु जब आदिमलोग सभ्य होते गये, उनके गीत भी उनके साथ ही उन्नत हुए तथा बाद में समष्टिगत बनकर लोकगीतों की श्रेणी में आये। इस तरह धीरे-धीरे सभ्यता का विकास होता गया, मानव-मन भी उत्तरोत्तर परिष्कृत हुआ, कल्पनाएँ प्रांजल और प्रौढ़ होती गईं और भावाभिव्यंजनाएँ संस्कार को प्राप्त हुईं। तदनुसार लोककृतियों में प्रांजलता और प्रौढ़ता की सृष्टि हुई।

विकास की उक्त कसौटी के अनुसार आदिमजाति के गीत लोकगीतों में शुमार अवश्य होते हैं, परन्तु फिर भी वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है।

लोकगीतों के गुण इनमें विद्यमान होते हुए भी आदिमजातियों के सीमित जीवन तथा उनकी सीमित मानसिक और भावात्मक अवस्था के अनुसार वे एक तरह से प्राथमिक ही बने रहे। आदिमजाति के गीतों को इसी दृष्टि से देखना चाहिए। उनकी तुलना अन्य लोकगीतों के साथ करना उचित नहीं है। आदिमगीतों की कुछ विशेषताएं इस प्रकार है –

उनका शब्द-चयन छोटा होता है तथा उनकी ताल अत्यन्त सरल और प्राथमिक होती है। गीत अत्यन्त लयप्रधान होते है तथा उनके स्वरों का फिराव केवल तीन-चार स्वरों तक ही सीमित रहता है। गीतों के शब्द भी अत्यन्त प्राथमिक अवस्था में होते है। उनमें बहुधा पुनरावृत्ति विशेष होती है। ये गीत अधिकांश नृत्य के साथ चलते हैं, इसलिए ये लयप्रधान होते है। गीतों में ही ताल का आभास मिल जाता है। गीतों का साहित्य-पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है। सभी गीत सामुदायिक स्तर के होने से उनमें व्यवसायिक गीतों की कहीं बू भी नहीं है। इन गीतों में वर्णन का बाहुल्य होता है। एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति का बहुधा कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन गीतों का कलापक्ष नहीं के बराबर होता है। देवी-देवताओं की पूजा आदि में प्रयुक्त होने के कारण इन गीतों में अन्धविश्वास, दैवी प्रकोप तथा भूत-प्रेतों में विश्वास कूट-कूटकर भरा रहता है। उदाहरण के रूप में भील जाति का एक गीत प्रस्तुत है –

आदिमगीत

भैरूं थाने पूजां हो भैरूं थाने पूजां
भैरूं मादळ नो ढंको वाजे थाने पूजां
भैरूं मगरा ना मायळ माए थाने पूजां
भैरूं भालर नो भमको वागे थाने पूजां
भैरूं थाने पूजां हो भैरूं थाने पूजां

स्वरलिपि (ताल खेमटा)

									नी	नी	–
									भै	रूं	ऽ
नी	–	सा	–	सा	–	सा	–	रे	सा	नी	–
था	ऽ	ने	ऽ	पू	ऽ	जां	ऽ	हो	भै	रूं	ऽ

नी	–	सा	–	सा	–	सा	–	–	नी	नी	–
था	ऽ	ने	ऽ	पू	ऽ	जां	ऽ	ऽ	मैं	कं	ऽ
नी	–	सा	सा	सा	–	सा	–	रे	सा	नी	–
मा	ऽ	द	ळ	नो	ऽ	ढं	ऽ	को	वा	गै	ऽ
नी	–	सा	–	सा	–	सा	–	–,	नी	नी	–
था	ऽ	ने	ऽ	पू	ऽ	जां	ऽ	ऽ,	मैं	कं	ऽ
×						०					

(शेष पंक्तियाँ भी इन्हीं स्वरों में गावें।)

राजस्थान के इस भीलीगीत में शब्द-चयन प्रायः नहीं के बराबर है। स्वरों की सीमा भी बहुत छोटी है। केवल दो-चार स्वरों में ही इसका संचरण होता है तथा शब्दों की इसमें पुनरावृत्ति मात्र है।

लोकवाद्य और वाद्यसंगीत

लोकसंगीत में वाद्यसंगीत का बहुत बड़ा महत्त्व है। दो वस्तुओं के संघर्षण से जो आवाज निकली उसी से वाद्यसंगीत की कल्पना साकार हुई। उसी के आधार पर नानाप्रकार के प्रयोग हुए, जिनसे लोक और शास्त्रीय वाद्यों के अनेक स्वरूप हमें दृष्टिगत हुए। कंठ-संगीत की तरह ही वाद्य-संगीत का भी प्रादुर्भाव हुआ है। सर्वप्रथम निष्पत्ति लोकसंगीत की हुई, उसके बाद कुछ विशिष्ट जनों ने वाद्यों में प्रयोग किये और अपने कंठ-संगीत को उसमें उतारा। वाद्य-संगीत कंठ-संगीत की तरह लोकप्रिय नहीं बना, क्योंकि कंठ-संगीत में स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यंजना बिना अभ्यास तथा पूर्व प्रयास के ही होती है। यह प्रक्रिया लोकवाद्यों में उतनी ही सच्चाई के साथ लागू नहीं होती, क्योंकि वाद्य बजाने में हस्तलाघव तथा बौद्धिक चातुर्य की आवश्यकता होती है। यदि वाद्य-वादन उतना ही सरल और स्वाभाविक होता तो आज प्रत्येक मानव के पास कोई न कोई वाद्य अवश्य होता। कंठ-संगीत में किसी प्रकार के बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती, जबकि वाद्य-संगीत में स्वयं वाद्य को ही उपलब्ध करना होता है। वाद्य यदि घर में पहले से उपलब्ध भी हो तो भी कुछ तो पूर्वाभ्यास तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती

ही है। सभी ऐसी प्रतिमाएँ नहीं हुआ करतीं जो अपने हाथ में वाद्य आते ही बजाने लगजाती हों।

वाद्यों में ताल-वाद्यों की उत्पत्ति सबसे पहले हुई, क्योंकि एक तो यह आसानी से उपलब्ध हो सकता है, दूसरा उसे बजाना भी सबसे आसान है। यदि कोई व्यवस्थित साज उपलब्ध नहीं भी हो सके तो भी दो चीजों को ताल में टकराने से सरल ताल की निष्पत्ति हो सकती है। यदि कुछ भी नहीं मिले तो भी दोनों हाथों से ताली तो बजाई ही जा सकती है। आदिकाल में मनुष्य को अपने गीत-नृत्यों के साथ जब ताल की आवश्यकता हुई तो मरे हुए पशुओं की खाल को मिट्टी के बर्तनों पर चढ़ाकर ताल-वाद्य बना लिया जाता था। उसके साथ ही थाली, लकड़ी आदि बजाने की भी प्रथा प्रारम्भ हुई। ये दोनों ही प्रकार के ताल-वाद्य आदि ताल-वाद्य हैं, जिनका प्रादुर्भाव आदिम संस्कृति के साथ ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। ढोलक, तबला, पखावज, खोल, चंग, ढोल, नक्काड़े, डफ, खंजरी आदि वाद्य बाद में विकसित हुए। जंगल में कटे हुए बांसों में आंधी-तूफानों से जब वायु का संचार हुआ और उससे जो भाँति-भाँति की आवाजें मुखरित हुईं, उनसे फूंक-वाद्य की कल्पना साकार हुई। सर्वप्रथम एक ही छेद को फूंककर स्वर निकाला जाता था और उसी को मूल स्वर (Basic note) मानकर हमारे आदिम भाइयों ने अपने गीतों का सृजन किया। ये ही प्राथमिक वाद्य बाद में बांसुरी, अलगोजे तथा नानाप्रकार के फूंक-वाद्यों में विकसित हुए। मृत जानवरों की खालें खींचने में जो तनाव उत्पन्न होता था और उसकी आंतों का नाना प्रकार की रस्सियों के रूप में प्रयोग किया जाता था, उस समय उनके तनाव में जो तुनतुनाहट पैदा होती थी, उससे नाना प्रकार की ध्वनियों का सृजन हुआ तथा उनसे तन्तु-वाद्यों की कल्पना साकार हुई। इस तंतु-वादन के परिणामस्वरूप सबसे पहले बना हुआ वाद्य इकतारा है। इसी इकतारे के तार को कुछ-कुछ अन्तर से दबाकर बजाने से जो विविध स्वरों की सृष्टि हुई उससे अन्य तन्तु-वाद्यों का विकास हुआ। इन तन्तु-वाद्यों में भी चुटकी चुटकाकर बजानेवाले वाद्य और बाद में गज से बजनेवाले वाद्यों का निर्माण हुआ। वाद्यों की यह अल्प कथा उसके संपूर्ण विकास और भाँति-भाँति के विकसित वाद्यों की ओर संकेत करती है।

यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश वाद्यों की कल्पना कण्ठ-संगीत के बाद की कल्पना है जो कंठ-संगीत को अधिक प्रभावशाली बनाने के प्रयोजन से ही प्रादुर्भूत हुई है। लोकवाद्यों का विकास मूलतः कंठ-संगीत की संगत के लिए

ही हुआ है। उनके स्वतन्त्र प्रयोग की कल्पना वास्तव में बाद की कल्पना है। लोकवाद्यों में कोई ऐसा वाद्य नहीं है जो केवल बजाने के उद्देश्य से ही बजाया जाता हो। ताल, मजीरे, खंजरी, ढोल, नक्कारे, नफीरी, बांसुरी, चंग, डफ, मृदंग, बीन, इकतारा, दुतारा, चतूरा, सारंगी, रबाब, कमाचा, जंतर, रावणहत्था आदि सभी वाद्यों का, स्वतन्त्ररूप से बजाने की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। वे सब गीतों की संगति हेतु ही निर्मित होते हैं। इन सब साजों को मिलाकर एक साथ एक ही धुन में सामूहिक रूप से बजाने की प्रवृत्ति भी आधुनिक ही है। लोकसंगीत में वृन्द-वादन जैसी कोई चीज ही नहीं है। कुछ पेशेवर कला-जातियां आजीविका उपार्जन के लिए यजमानों के यहां तथा विवाह-शादियों में जुलूस के साथ जो साज बजाती हैं, वह वास्तव में वृन्द-वादन की परम्परा नहीं है।

लोकवाद्यों में कुछ वाद्यों की सृष्टि गायन की कुछ विशिष्ट शैलियों में प्रयुक्त होने के लिए ही हुई है, जैसे कीर्तन, भजन के साथ इकतारा, तम्बूरा, चतूरा, खड़ताल, मजीरा, खंजरी आदि का प्रयोग। इस विशिष्ट शैली के लिए ये ही साज सर्वाधिक उपयुक्त हैं। इस शैली की गंभीरता को निभाने तथा कीर्तन को सात्विक आभास देने के लिए ही ये साज उपयुक्त समझे गये हैं। पारिवारिक तथा शृंगारिक गीतों में तो किसी प्रकार के साज ही की आवश्यकता नहीं समझी गई है, क्योंकि ये शौकिया जन-जीवन की शैलियां हैं और मन की मौज तथा उत्सव समारोह के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। इनके द्वारा किसी का मनोरंजन नहीं किया जाता, न इनका उपयोग व्यवसायिक दृष्टि से होता है, अतः कोई साज इनके साथ नहीं बजता। केवल व्यवसायिक गीतों के लिए साज बजाने की नितान्त आवश्यकता होती है, क्योंकि वे किसी वर्गविशेष को रिझाने के लिए होते हैं तथा इन्हें प्रयुक्त करनेवाले स्वयं संगीतपटु होते हैं और जिनकी संगीतपटुता ही जीवन का व्यवसाय है। इन विशिष्ट गीतों के साथ सारंगी, तबला, ढोलक, रबाब, कमाचा, रावणहत्था, नफीरी, बांसुरी आदि वाद्य बड़ी खूबी के साथ बजाये जाते हैं।

नृत्य तथा नाट्य-संगीत के साथ नफीरी, नक्कारे, शहनाई, सारंगी, तबला, ढोलक, मजीरे आदि बखूबी बजते हैं। ये साज इन गीतों को प्रभावशाली तथा अधिक रंगीन बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इनके बिना वे नृत्य-नाट्य निरर्थक साबित होते हैं। आदिवासी नृत्यों के साथ अलगोजे, थाली, मादल, ढोल, ढोल आदि साज इसलिए बजते हैं, क्योंकि उनके नृत्य लयप्रधान होते हैं और इन साजों की लय से उनके पांव स्फूर्ति के साथ उठते हैं।

इतिवृत्यात्मक गीतों के चिरसंगी सारंगी, रावणहत्था, अपंग, इकतारा, चौतारा, रबाब, कमाचा आदि वाद्य होते हैं, जो इन गीतों के साथ बजाये जानेवाले सर्वाधिक उपयुक्त वाद्य हैं। इनके साथ एक विशिष्ट परम्परा ही जुड़ी हुई है। ताल-वाद्य प्रायः इनके साथ नहीं बजते, क्योंकि ये उपर्युक्त वाद्य ही इन्हें ताल का स्पष्ट भान करा देते हैं। ये झटके के साथ बजाये जाते हैं, जिनसे ताल का प्रादुर्भाव अत्यन्त स्वभाविक ढंग से हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वतन्त्ररूप से वाद्य-वादन लोकसंगीत की विशुद्ध परम्परा नहीं है। केवल कंठ-संगीत की संगत के लिए ही उनकी सृष्टि हुई, ऐसी बात भी नहीं है।

लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत का अविकसित स्वरूप नहीं है, न शास्त्रीय संगीत ही लोकसंगीत का विकसित स्वरूप है। यह सिद्धान्त वाद्य-संगीत पर लागू नहीं होता। लोकवाद्यों के लिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे शास्त्रीय वाद्यों के अविकसित स्वरूप हैं। क्योंकि शास्त्रीय संगीत में वाद्यों का विकास ही लोकवाद्यों से हुआ है। यह सिद्धान्त इसलिए सत्य सिद्ध होगया क्योंकि लोकवाद्यों की कल्पना बहुत प्राचीन नहीं है तथा उनके साथ कोई अन्योन्याश्रित संबंध भी नहीं है। उन्हें लोकवाद्य कहने की अपेक्षा केवल वाद्य ही कहना चाहिए। साथ में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वे शास्त्रीय तथा उन्नत वाद्यों के प्राथमिक रूप हैं।

लोकसंगीत-शास्त्रीय संगीत : दिशाभ्रम

लोकसंगीत जब शास्त्रीय संगीतज्ञों के पल्ले पड़ जाता है तो उसका रूपान्तर होने लगता है। वह शास्त्रीय संगीत में बदलता इसलिए नहीं है कि उसमें बदलने की कोई बात ही नहीं है। विशिष्ट राग-रागिनियों में बँधी हुई जो विशुद्ध बंदिशें होती हैं वे अत्यन्त सरस होती हैं। उनके साथ तान, आलाप, मुर्कियाँ, श्रुतियाँ आदि जोड़कर ही उन्हें शास्त्रीय स्वरूप दिया जाता है। उनके साथ गायक की गायनपटुता, घराने की गायकी तथा रागविशेष की विशिष्ट परम्पराएँ शैली के रूप में जब जुड़ जाती हैं तब उनका रूप निखरता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय संगीत की कृतियों में अनेक तत्त्व मिलकर ही इन्हें शास्त्रीय गीतों का स्वरूप प्रदान करते हैं। परन्तु लोकसंगीत की कृतियाँ अपने में सम्पूर्ण होती हैं। गीत की स्वर तथा शब्द-रचना ही में समस्त लोक-संगीत का स्वरूप निहित रहता है। गायक केवल अपनी गायकी तथा अपने व्यक्तित्व के कुछ तत्त्वों की छाप उस पर लगा देता है। लोकगीतों में ही

स्वर-रचना तथा गीत के विशेष घटकों का चमत्कार सूक्ष्म रूप में निहित रहता है। अतः शास्त्रीय संगीत की रचना में और लोकसंगीत की रचना में कोई मेल संभव नहीं है। शास्त्रीय संगीत की रचना संगीतशास्त्र के विशिष्ट नियमों के अनुसार ही होती है। उसमें अनेक संगीताचार्यों का कौशल तथा बुद्धि-तत्त्व निहित रहता है। लोकसंगीत में जो रचना-कौशल निहित है वह किसी और ही शास्त्र से प्रतिपादित होता है। उसमें वैयक्तिक बुद्धि-तत्त्व से कहीं अधिक सामाजिक मनोविज्ञान से परिपुष्ट भाव-तत्त्वों का समावेश होता है। दोनों शैलियों का मनोवैज्ञानिक धरातल, उनका शास्त्र, उनकी परम्परा तथा प्रकृति बिल्कुल भिन्न होती है। अतः दोनों के मिलने तथा एक दूसरे में विलीन होने की कोई भी गुंजाइश नहीं है। यदि कहीं कोई मेल संभव भी है तो उनके ताने-बाने में है जो कि उनका शरीर मात्र है, आत्मा नहीं है। वैसे यदि कोई शास्त्रीय संगीतकार किसी लोककृति को शास्त्रीय पद्धति से गाना चाहे तो बखूबी गा सकता है। लोकसंगीत की अपनी मूल स्वर-रचना तो होती ही है। किसी-किसी संगीत में तो स्थायी अन्तर भी होते हैं। उस विशिष्ट संगीत में जो राग का परम्परागत स्वरूप विद्यमान है, उसको पकड़कर उसके राग का रूप-विधान निर्धारित करके शास्त्रीय संगीत की विस्तार-पद्धति से आलाप, तान आदि का सृजन करते हुए संगीतकार अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से गा सकता है तथा उसमें विशिष्ट ताल-लय के चमत्कार बतला सकता है। तदुपरान्त गीत के स्वरों के अनुसार मन्द्र से तार सप्तकों के क्रम से स्वरों पर रुकता हुआ उनमें तालबद्ध स्वर-संचार के चमत्कार दिखला सकता है। स्थाई के संचार के उपरान्त वह अंतरे की चहल-पहल में इसी क्रम से प्रविष्ट कर सकता है। तदुपरान्त वह तान-पक्ष को मुखरित करने के लिए मूलगीत की स्वर-रचना का आभास देते हुए विविध तानों एवं पलटों की सृष्टि करता है। इस तरह वह सम्पूर्ण लोकसंगीत को शास्त्रीय ताना-बाना पहिनाने में समर्थ हो सकता है, परन्तु वह शास्त्रीय संगीत नहीं बन जाता, क्योंकि वह तो जहाँ का तहाँ ही रहता है। किसी व्यक्ति को कपड़े, अलंकरण आदि पहना देने से ही कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं बन जाता। उसी तरह शास्त्रीय संगीत के ताने-बाने से किसी गीत को सजा देने से वह शास्त्रीय नहीं बन जाता। लोकसंगीत में तो संगीत की रचना ही सारा गीत है, परन्तु शास्त्रीय संगीत में मूल गीत-रचना के साथ उसका समस्त ताना-बाना मिलकर ही शास्त्रीय संगीत बनता है। अतः यह स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकारों के मिलने की कल्पना ही एक भ्रामक कल्पना है।

इस तरह अनेक ऐसे लोकगीत हैं, जो कुछ पेशेवर लोकगायकों द्वारा अलंकृत शैली में गाये जाते हैं। उनमें लयकारी तथा शास्त्रीय स्वरूप का कुछ आभास देखकर कुछ लोग यह समझ लेते हैं कि वे शास्त्रीय संगीत की ड्योढ़ी में प्रवेश करके उसके अंचल को छू रहे हैं। परन्तु बात यह नहीं है। यह भेद तो गायक के गायनचातुर्य के कारण आ गया है, मूलगीत तो वहीं का वहीं है।

लोकसंगीत की कुछ बंदिशें निरन्तर व्यवहार तथा पेशेवर जातियों द्वारा प्रयोग के कारण कुछ क्लिष्ट अवश्य बन जाती हैं। उनके द्वारा लाई हुई यह कलात्मक वक्रता शास्त्रीय संगीत का आभास देने लगती है। राजस्थान में गाई जाने वाली मांडें इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस वक्रता का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात हो सकता है कि यह वक्रता गीत के रचना-विधान में नहीं है। वह उसकी गायनशैली ही में निहित है। इन व्यवसायिक लोकगीतों का यह पक्ष निश्चय ही लोकपक्ष से कुछ दूर है तथा कुछ ही लोगों की अभिरुचि तथा उनके मानसिक धरातल के अनुकूल पड़ता है। यह बात बिल्कुल सही है कि लोकसंगीत की शास्त्रीय संगीत में और शास्त्रीय संगीत की लोकसंगीत में परिवर्तित होने की प्रक्रिया बिल्कुल असंभव है, क्योंकि शास्त्रीय संगीत उसके शरीरपक्ष में तथा लोकसंगीत उसके आत्म-पक्ष में निहित रहता है। यदि यह लोकसंगीत अपने आत्मपक्ष को त्यागकर अपने शरीर-पक्ष के निखार पर उतर आये तथा पेशेवर कलाकार प्रचलित लोकगीतों को सजा सँवारकर उनके शरीर को निखारते रहें तो वह निखार केवल कला-कौशल का निखार समझा जायेगा और वह गीत अपनी गायन शैली की दृष्टि से निश्चय ही लोकपक्ष से नीचे उतर जायेगा, परन्तु वह शास्त्रीय गीत नहीं बनेगा। शास्त्रीय गीत बनने के लिए शास्त्रोक्त ताने बाने की आवश्यकता होती है और जैसे ही वह किसी विशेष अवस्था में उस स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है वैसे ही उसका आत्मपक्ष तिरोहित होने लगता है और वह प्रायः मर ही जाता है। व्यवसायिक लोकगीतकारों की कृतियाँ इस स्थिति तक कभी नहीं पहुँच सकती हैं, क्योंकि उनके शरीर-पक्ष के निखार के साथ उनका आत्मपक्ष तो फिर भी विद्यमान रहता है, क्योंकि शास्त्रोक्त ज्ञान से ये संगीतज्ञ बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं।

लोकसंगीत और उसका निर्देश

शास्त्रीय संगीत को दिशा निर्देश की आवश्यकता इसलिए होती है कि वह बहुत अधिक शास्त्रीय और तकनीकी (technical) होता जा रहा है।

उसका भावपक्ष गौण और उसका कलापक्ष प्रधानता पा रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उसका व्यवहार कुछ ही व्यापारों तक सीमित रह गया है, तथा लोकव्यवहार से वह कोसों दूर हो गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या लोकसंगीत को भी इस दिशा-निर्देश की आवश्यकता है। वास्तव में दिशा-निर्देश की तो नहीं परन्तु इस बात की अवश्य आवश्यकता है कि नवीन रचनाकार अपने नवरचित गीतों में लोकगीतों के कुछ बाह्य तत्व लेकर मौलिक गीतों की भ्रांति उत्पन्न नहीं करें। वे लोकगीतों को लोकगीत ही रहने दें और स्वरचित गीतों को स्वरचित ही। नवरचित गीतों में लोक-गीतों की धुनों का सहारा अवश्य लिया जाता है, परन्तु उनमें लोकगीतों की भ्रांति उत्पन्न करने की चेष्टा अत्यन्त घातक चेष्टा है। यह भ्रांति भी अधिक समय तक नहीं चल सकती, क्योंकि लोकगीतों के संचार, प्रसार तथा व्यवहार-क्षेत्र बिल्कुल निश्चित रहते हैं। उन क्षेत्रों में वे खूब जाने पहिचाने होते हैं। वहाँ किसी प्रकार की चतुराई नहीं चल सकती। भ्रांति तो वहाँ होती है, जब वे किसी विजातीय क्षेत्र में पहुँच जाते हैं तथा जहाँ उनकी जान-पहिचान किसी से नहीं होती। ऐसे क्षेत्रों में वास्तविक, अवास्तविक का भेद करना बहुत कठिन होता है।

लोकगीतों में अन्य किसी प्रकार के दिशा-निर्देश की आवश्यकता नहीं होती। दिशा-निर्देश तो वहाँ जरूरी होता है जहाँ दिशाभ्रम हो जाए। वह तो लोकगीतों के सराहकों में हो सकता है, उनके प्रयोक्ताओं में नहीं। लोक-गीत सीखने सिखाने की चीज नहीं होती। उनके प्रयोक्ताओं को परम्परा से ही यह धरोहर मिली हुई होती है। जैसे वे बिना सिखाये ही खा लेते हैं, सो लेते हैं तथा उठ बैठ जाते हैं, वैसे ही वे गा भी लेते हैं। जो गीत उनके जीवन में रमे हुए हैं तथा जिस शैली में वे उन्हें गाते हैं, उनमें कभी भी उन्हें दिशा-भ्रम नहीं हो सकता।

दिशा-निर्देश केवल व्यवसायिक लोकगीतकारों को तथा लोकगीतों के शौकिया प्रयोक्ताओं को इस बात के लिए आवश्यक है कि वे कहीं अपनी कृतियों को इतना सजावें सँवारें नहीं तथा उनका रचनागत स्वाभाविक सांगी-तिक सौंदर्य निर्बाध बना रहे। दूसरा निर्देश उन्हें आवश्यक है जो लोक-गीतों के प्रमुख तथा परम्परागत प्रयुक्ता हैं; वे आधुनिक प्रभाव तथा संगीत की अन्य धाराओं में इतने नहीं उलझ जावें कि वे लोकसंगीत के शाश्वत सौंदर्य से ही विमुख हो जावें। उन्हें इसी उचित सामाजिक जागरूकता तथा

मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यहाँ एक तथ्य की ओर संकेत करना अति-आवश्यक है कि लोकगीत लोकगीत ही से प्रेरणा प्राप्त करता है, अन्य किसी गीत से नहीं। वैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि समता समता ही को ग्रहण करती है, विषमता को नहीं। अतः बिरले ही ऐसे लोकगीत होंगे, जिन पर गायन-विधि की दृष्टि से फिल्मी प्रभाव नजर आया हो। फिल्मी गीत लोकगीतों से प्रभाव प्राप्त करते हैं, परन्तु लोकगीत फिल्मी गीतों से नहीं। अनेक फिल्मीगीत-रचनाकार ऐसे हैं जो अपनी रचनाओं में लोकधुनों का सहारा लेते हैं। एक विलक्षण बात और है कि एक क्षेत्र के लोकगीत दूसरे क्षेत्र के लोकगीतों की धुनों तथा गायकी से प्रभावित होते रहते हैं और एक दूसरे की धुनों को आत्मसात् करते हैं। राजस्थान और गुजरात की सीमा के लोकगीत तथा पंजाब और राजस्थान की सीमा के गीत स्वर तथा शब्द-रचना की दृष्टि से एक दूसरे से गले मिलते नजर आते हैं।

यहाँ इस बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक है कि स्वरविज्ञान के नियमों के अनुसार स्वरों का मेल शब्दों से कहीं अधिक जल्दी होता है। स्वर पहले गले मिलते हैं और शब्द बाद में। राजस्थान के डांडिया गीतों में तथा गुजरात के गरबा नृत्यों में जो सांगीतिक लालित्य है, वह इसी मिलन का द्योतक है। जब किसी व्यक्ति के मन पर किसी गीत का प्रभाव पड़ता है तो उसके मन पर भावनाप्रधान स्वर का असर पहले और अर्थप्रधान शब्द का असर बाद में पड़ता है। हृदय की ग्राह्य तथा संवेदन शक्ति मस्तिष्क से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है, अतः मनुष्य गीतों की धुनें पहले पकड़ता है, शब्द बाद में। यही कारण है कि हमें पसंद आनेवाले लोकगीतों की धुनें हम पहले गुनगुनाते हैं, उनके शब्द बाद में रटते हैं। उन गीतों के स्वर स्मृतिपटल पर अधिक अंकित रहते हैं जो स्वरों के साथ समरस होते हैं, या यों कहिये कि जिन स्वरों को समरस शब्दों का योग प्राप्त हुआ होता है, वे ही समरस होते हैं। यह शब्द स्वर-समरसता लोकगीतों में सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि लोकगीत सामाजिक हृद्-पट पर जितने समय तक अंकित रहते हैं, उतने कोई नहीं। यही शब्द-स्वर-समरसता लोकगीत का रचना-सौंदर्य है। आदिम गीतों में यह सामञ्जस्य प्रायः नहीं के बराबर है। इसीलिए वे इतने रूखे और नीरस होते हैं। आदिवासी सदा ही एकान्तप्रिय तथा सभ्यता और नवीनता से दूर रहे हैं, इसीलिए उनके जीवन की निरीहता के साथ उनकी कला भी निरीह रह गई।

लोकसंगीतों की प्रांजलता

उन क्षेत्रों में जहाँ विभिन्न क्षेत्रों के मनुष्य मिलते हों, जहाँ अनेक मेले उत्सव, समारोह आदि होते हों, जहाँ सांस्कृतिक आदान-प्रदान अधिक होता हो, वहाँ के प्रचलित लोकगीत अधिक प्रांजल तथा उनमें रचना-सौन्दर्य की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है। केवल प्राकृतिक सौन्दर्य तथा भौगोलिक विशेषताओं से ही गीतों में प्रांजलता नहीं आती बल्कि मानव के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का उनकी प्रांजलता में अधिक योगदान रहता है। जहाँ मनुष्य का सांस्कृतिक तथा सामाजिक आदान-प्रदान तथा मेलजोल होता है, वहाँ के लोकगीतों में भाषा, भाव तथा स्वरसौष्ठव की दृष्टि से अद्वितीय लालित्य होता है। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि के संधि-स्थलों पर इन गीतों का लालित्य चरमसीमा पर होता है। जो क्षेत्र इस प्रकार के आदान-प्रदान तथा मानवी लीलाओं से हीन होते हैं तथा जहाँ मनुष्य की रंगीनियों को चमत्कृत होने के लिये आवश्यक संघर्षण नहीं मिलता है, वहाँ के लोकगीत अपेक्षाकृत शिथिल और रचनाकौशल से विहीन होते हैं। यहाँ यह भी जान लेना जरूरी है कि यह सांस्कृतिक संघर्षण समता की स्थितियों में ही होता है। जो राजस्थानी सैकड़ों वर्षों से आन्ध्र, तामिल, बंगाल तथा आसाम के सुदूर क्षेत्रों में स्थानीय जनता के साथ घुलमिल गये हैं, उनके दुःख-सुख में काम भी आते हैं, उनकी भाषा में भी प्रवीण होगये हैं, परन्तु वहाँ के संगीत से लेशमात्र भी उन्होंने प्रेरणा ग्रहण नहीं की। अतः यदि किसी क्षेत्रविशेष का सांस्कृतिक साम्य दूसरे क्षेत्र से नहीं है तो यह उक्त प्रक्रिया निष्प्राण ही रहती है। यही कारण है कि राजस्थान के गीत बंगाल के गीतों से प्रेरणा नहीं पाते। बिहार के गीतों का कोई वास्ता राजस्थान के गीतों से नहीं होता। ये सब प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म और अज्ञातरूप से अपना काम करती हैं कि कहाँ कुछ हो रहा है, उसका कोई पता नहीं लग सकता। लोकगीतों का यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान उनकी सबसे बड़ी धरोहर है।

लोकसंगीत का लोकपक्ष-क्रम

भाषा में सरलीकरण की प्रवृत्ति अनंतकाल से चली आरही है। भाषा जैसे-जैसे क्लिष्ट और पांडित्यपूर्ण बनाई जाती है, वैसे-वैसे वह लोक-प्रयोग से दूर हटती जाती है। ,उसे पांडित्यपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जैसे-जैसे साहित्य में प्रौढ़ता आती रहती है, शास्त्र भाषा पर हावी हो जाता है। उसका एक अत्यन्त क्लिष्ट स्वरूप समाज में प्रचारित होने लगता है

और धीरे-धीरे उसका स्वरूप पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। लोक प्रचलन के लिये उसके किसी सरल स्वरूप का आधार ग्रहण किया जाता है। इस तरह सरलता से क्लिष्टता तथा क्लिष्टता से सरलता का चक्र अनंतकाल से चलता आरहा है। इस क्रम के अनुसार भाषा का स्वरूप ही बदलता रहता है। यह पक्ष लोकगीतों के साथ जुड़ा हुआ अवश्य है, परन्तु उसके शब्दपक्ष के साथ नहीं। अतः लोकगीतों का शब्दपक्ष क्लिष्टता से सरलता और सरलता से क्लिष्टता की ओर अग्रसर होता है तथा समाज की सांस्कृतिक स्थितियों के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। लोकगीत पहले भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट रहता है, निष्पत्ति के समय उसमें शब्दों का जाल गुम्फित रहता है, परन्तु सामाजिक भावना की कसौटी पर उतरते-उतरते उसका सरलीकरण होने लगता है। वह इतना सरल हो जाता है कि उसकी सरलता में ही उसका सौन्दर्य निहित रहता है तथा वे ही शब्द उसमें रह जाते हैं जो थोड़े ही में अधिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस सरलीकरण की क्रिया के साथ स्वर-रचना अधिक गुम्फित होती जाती है। उसमें प्रौढ़ता, वैचित्र्य, विविधता तथा प्रांजलता की मात्रा बढ़ती है, जिसके कारण रसनिष्पत्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है और शब्द और स्वर की व्यंजनाशक्ति बढ़ जाती है।

स्वर-गुंफन से तात्पर्य उसकी भावाभिव्यंजना से है। शास्त्रीय संगीत की तरह स्वरों के तोड़ मरोड़ से मतलब नहीं। इस क्रिया में बौद्धिक तत्व गौण और भाव-तत्व प्रधान है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि इधर शब्द सरलता की ओर बढ़ता है, जो कि बौद्धिक तत्वों पर भाव तत्वों के प्रभुत्व के बाद ही संभव है, उधर स्वर-तत्व की प्रांजलता भी भावों के निखार और परिमार्जन से ही सम्बन्धित है। जब ये दोनों ही तत्व समकक्ष और समरूप हो जाते हैं, तभी लोकगीतों की आत्मा निखार को प्राप्त होती है। यह लोकगीतों की चरमोत्कर्ष ही की स्थिति है, जो उसे सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वग्राह्य बनाती है। उसीसे उसको सामाजिक तथा क्षेत्रीय सीमा-विस्तार भी प्राप्त होता है तथा वह छोटे दायरे से बड़े दायरे में प्रवेश करता है। इसी स्थिति में व्यवसायिक लोककलाकार इन गीतों को पकड़कर उन्हें अपनी आजीविका का आधार बनाते हैं। इन गीतों का लोकपक्ष इसमें निहित नहीं है कि लोगों को वे कितने पसन्द हैं, परन्तु इसमें है कि उन्हें कितने लोग गाते हैं और व्यवहार में लेते हैं। पेशेवर कलाकार उन्हें सजाते हैं, सँवारते हैं तथा हर तरह से क्लिष्ट बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका लोकपक्ष दुर्बल पड़ जाता है तथा वे लोकव्यवहार से उतर जाते हैं। उस स्थिति में ऐसे गीत प्रचार

और विस्तार पाते हैं, जिनका लोकपक्ष प्रबल होता है और धीरे-धीरे उक्त सीढ़ियां पार करके निखार पाते हैं, अन्तिम सीढ़ी क्लिष्टता की ओर ही होती है। यह क्रम अनंतकाल तक चलता रहता है। लोकगीत बनते हैं, विकसित होते हैं, निखरते हैं, लोकव्यवहार की चरमसीमा तक पहुँच जाते हैं, फिर क्लिष्टता की ओर प्रवृत्त होते हैं और धीरे-धीरे प्रचार से बाहर होकर विलीन होजाते हैं। इस तरह यह क्रम अनंतकाल तक चलता ही रहता है। यही चक्र शास्त्रीय संगीत में भी चलता रहता है। परन्तु इन दोनों ही प्रक्रियाओं का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोगों की गलत धारणा भी बन गई है कि लोकगीत क्लिष्ट बनकर शास्त्रीय बनते हैं और शास्त्रीय गीत सरल बनकर लोकगीत बन जाते हैं।

लोकधुनों में ऋतुसाम्य

शास्त्रीय संगीत में मेघमल्हार गाने से वर्षा होने और दीपक राग गाने से दीपक जलने की परम्परा बहुत पुरानी है। पता नहीं मेघमल्हार राग से कभी वर्षा हुई या नहीं और दीपक राग से दीपक जले या नहीं। परन्तु उनमें इतना सत्य अवश्य है कि मेघमल्हार की रचना में वर्षाऋतु का आभास अवश्य मिलता है तथा दरबारी कानड़ा की स्वर-संगति से राजदरबार की गम्भीरता का प्रभाव मालूम पड़ता है। शास्त्रीय संगीत में प्रभाव उत्पन्न करने के लिये स्वरों का ही प्रबल आधार है, शब्द का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर है। लोकगीतों में भी स्वर-संगति का प्रभाव सर्वोपरि है, परन्तु शब्द इतना गौण नहीं जितना शास्त्रीय संगीत में। इसका मूल कारण यही है कि विशिष्ट भाव-निष्पत्ति के समय जो स्वर-चयन स्वभाव से ही रचनाकार के हृदय में उपजता है, वह उसके विशेष मूड (Mood) का ही द्योतक है। उसके बाद जिन शब्दों की व्युत्पत्ति होती है, वे भी उसी मूड (Mood) को उद्दीप्त करते हैं। यह बात लोकगीतों की व्युत्पत्ति के विवेचन के समय पूर्व-पृष्ठों में भली प्रकार अनुमोदित हुई है, परन्तु इसके साथ ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत मिलता है। बीकानेर की तरफ गायेजानेवाले राजस्थानी चौमासे बीकानेर क्षेत्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा लोकप्रिय लोकगीत हैं। इन गीतों में चतुर्मास की विविध अवस्थाओं का शाब्दिक वर्णन तो होता ही है परन्तु उनकी स्वर-रचना भी अत्यन्त विलक्षण है। वर्षा के अभाव में गायेजानेवाले चौमासों की शब्द तथा स्वर-रचना में एक विशेष उदासी का आभास होता है। जब वर्षा की प्रथम बूंदों का आविर्भाव होता है, उस समय के विशिष्ट चौमासों में

शब्द-स्वर-रचना की एक विचित्र सी रंगत होती है और जब वर्षा की पूर्ण कृपा होजाती है, उस समय गायेजानेवाले चौमासों का तो कहना ही क्या है। विभिन्न परिस्थितियों को प्रकट करने में कोई विशेषता नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द स्वयं अपने लाक्षणिक और व्यंजनात्मक गुणों से वांछित प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं। परन्तु यही बात जब स्वर-संगति से प्रकट होती है तो हमारे मस्तक उन असंख्य रचयिताओं के चरणों पर झुक जाते हैं। इन विभिन्न स्थितियों में गायेजानेवाले गीतों की स्वर-संगति में यह विलक्षणता क्यों है इसका विश्लेषण अत्यन्त अपेक्षित है। वर्षाभाव की स्थिति में स्वर-संगति की रंगत एक विशेष प्रकार की निराशा उत्पन्न करती है। उनके स्वरों के गुंजन में तृप्त वायु का सा आभास मिलता है। वे गीत जो बूँदा-बाँदी के बाद गाये जाते हैं, उनमें एक प्रकार की हर्ष की रेखा है जो स्वतः ही स्वर-संगति से प्रकट होती है। इसी तरह इन गीतों की आखिरी मन्जिल वह है जो मूसलधार वर्षा के समय प्राप्त होती है। ऐसे गीतों की स्वर-संगति में एक अपूर्व गम्भीरता तथा हर्षमिश्रित तन्मयता का आभास मिलता है। इस अति सूक्ष्म प्रभाव की अनुभूति निरन्तर ऐसे गीत सुनकर ही हो सकती है। स्वर-शब्द की संगति का यह अपूर्व प्रभाव सिवाय लोकगीतों के अन्य गीतों में बहुत कम परिलक्षित होता है। शास्त्रीय संगीत में यह साम्य प्रायः होता ही नहीं है क्योंकि उसमें स्वर ही की प्रधानता है; शब्द बिल्कुल गौण है, बल्कि कहीं-कहीं तो यह भी देखा गया है कि स्वर जो प्रभाव उत्पन्न करता है उससे बिल्कुल विपरीत प्रभाव शब्द का होता है। लोकगीतों में यह विषमता प्रायः होती ही नहीं है। क्योंकि उनमें स्वर-शब्द-संगति का मूलाधार भाव है, बुद्धि नहीं। राजस्थान के बारहमासों में उक्त स्वर-शब्द-साम्य का निभाव अतिशय प्रभावशाली ढंग से हुआ है। इन लोकगीतों में बारह महीनों का ऋतु-प्रभाव जिस विलक्षण ढंग से स्वर-शब्द-संगति द्वारा प्रकट हुआ है वह विद्वानों के लिये गहन अध्ययन का विषय है।

स्वर-शब्द-संगति का यह चमत्कार विरहजन्य शृंगारिक लोकगीतों में सर्वाधिक निभाया गया है। कहीं-कहीं तो यह निभाव इतना मार्मिक बन पड़ा है कि अचम्भे के सिवाय कल्पना काम ही नहीं करती। राजस्थान में जब वधू को विवाह के बाद विदाई दी जाती है, उस समय गायेजानेवाले विदाई-गीतों की मार्मिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। इसी तरह जब नवविवाहिता स्त्री का पति विवाह के बाद ही परदेश चला जाता है, उस समय गायेजानेवाले

विरहगीत न केवल काव्य की दृष्टि से ही बल्कि स्वर-रचना की दृष्टि से भी अत्यन्त मार्मिक हैं। साहित्यकारों ने ऐसे गीतों की बड़ी मार्मिक व्याख्या की है, परन्तु दुर्भाग्य से संगीतकारों ने उनका स्वर-सौन्दर्य कदाचित् अभी तक भी नहीं पहचाना है जबकि गीत का समस्त शास्त्र मौजूद है। इस प्रकार के मर्म को स्पर्श करनेवाले स्वर-चयन युक्त राजस्थानी गीत का अवलोकन कीजिये–

विरहगीत

ऊँटे चढ़ आवजो रे घोड़े चढ़ आवजो रे।
बाई सा रा बीरा जीवड़लो घबराय छै रा।
नणदी रा बीरा जीवड़लो घबराय छै रा।
(शेष गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा – ग –	सा – नी –	सा म ग ग	म – पम ग
ऊँ ऽ टे ऽ	च ऽ ढ़ ऽ	आ ऽ ऽ व	जो ऽ ऽऽ ऽ
म ग – –	मग मगम ग –	म ग ग –	म – म ग
रे ऽ ऽ ऽ	ऽऽ ऽऽऽ ऽ ऽ	घो ऽ ड़े ऽ	च ऽ ढ़ ऽ
ग प म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – सा नी
आ ऽ ऽ व	जो ऽ ऽ ऽ	रे ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ बा ई
सा ग ग –	ग म (प)म ग	म प प प	म – ग प
सा ऽ रा ऽ	बी ऽ रा ऽ	जी ऽ व ड़	लो ऽ घ ब
म ग म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – सा नी
रा ऽ ऽ य	छै ऽ ऽ ऽ	रा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ न ण
सा ग ग –	म – पम ग	म प प प	म – ग प
दी ऽ रा ऽ	बी ऽ राऽ ऽ	जी ऽ व ड़	लो ऽ घ ब
म ग म ग	सा ग सा नी	सा – – –	– – – –
रा ऽ ऽ य	छै ऽ ऽ ऽ	रा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	२	×	२

यह एक राजस्थानी विरहगीत है, जिसमें एक विरहिणी स्त्री अपने बिछुड़े हुए पति को याद करती हुई कहती है कि हे प्रियतम ! तुम घोड़े पर चढ़कर आओ, तुम ऊंट पर चढ़कर आओ, अब मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती ।

लोकगीतों में शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता

लोकगीतों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे अधिकांश सार्थक शारीरिक क्रियाओं के साथ जुड़े हुए हैं । उनकी धुनें ही इस तरह रची हुई होती हैं कि उनके साथ स्वाभाविक क्रियाएँ जुड़ जाती हैं जिनका स्वरूप बहुधा सामाजिक होता है । क्योंकि लोकगीत स्वयं ही समाज ही की उपज है, किसी व्यक्तिविशेष की नहीं । प्रारम्भ से ही ये शारीरिक क्रियाएँ इन गीतों के साथ जुड़ी रहती हैं । नृत्य उनमें एक ऐसी क्रिया है, जो अत्यन्त स्वाभाविक रूप से आनन्दोल्लास के रूप में उनके साथ जुड़ गई है । यही एकमात्र क्रिया है जो गीत की ही तरह अभिव्यंजनात्मक शक्ति से ओतप्रोत है । इन गीतों के साथ जो अन्य क्रियाएँ जुड़ गई हैं वे स्वयं में कला नहीं हैं । उनसे यदि संगीत की संगति निकाल दी जाय तो वे क्रियाएँ अत्यन्त नीरस और सिरदर्द पैदा करनेवाली बन जायें ।

प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों में इन क्रियाओं के नानारूप परिलक्षित होते हैं । सभी जगह पनघट पर स्त्रियाँ गीत गाती हुई पानी भरने जाती हैं । सुबह उठकर गाते हुए चक्कियाँ पीसती हैं । खेतों पर काम करते हुए किसान गीत गाते हैं । लम्बी यात्रा करते समय अपनी थकान मिटाने के लिये लोग गीत गाते हुए जाते हैं । लकड़हारा लकड़ी काटते समय गीत गाता है । गड़रिया भेड़ चराते समय गीत गुनगुनाता है । इसी तरह कुएं से पानी भरते हुए, छाछ बिलोते हुए, मकान की छतें कूटते हुए, बच्चों को झूला झुलाते हुए, गोदी में सुलाते हुए, नाज साफ करते हुए, शादियों में दूल्हे के हल्दी चढ़ाते हुए तथा वर-वधू को फेरे फिराते हुए आदि-आदि नानाप्रसंगों पर स्त्रियाँ नानाप्रकार के गीतों की सृष्टि करती हैं । इनमें अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं, जो निरन्तर व्यवहार से संस्कार तथा रूढ़ियों की शक्ल पकड़ गई हैं । तात्पर्य यह है कि इन क्रियाओं का संगीत के साथ प्रयोग कुछ इतना लोकप्रिय और आनन्दप्रद होगया है कि उन्होंने एक सार्वजनिक और सांस्कारिक रूप धारण कर लिया है । यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि वे क्रियाएँ जीवन में मांगलिक और अनिवार्य रूप धारण कर कोई सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं । इन सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त करनेवाली क्रियाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) भीली शादियों में दुल्हे को विवाह के समय खटिया पर बिठलाकर उछालते हुए गायेजानेवाले मोरिया गीत।

(२) दुल्हे के शरीर पर हल्दी चढ़ाते समय गायेजानेवाले हल्दी गीत।

(३) वर-वधू को अग्नि की परिक्रमा करानेवाले फेरे गीत।

(४) माता गौरी को गणगौर उत्सव पर माथे पर चढ़ाकर जलाशय के निकट लिवाते समय गायेजानेवाले राजस्थान के मांगलिक गणगौर गीत।

(५) विवाह के उपलक्ष में कुम्हार के यहाँ जाकर चाक के समक्ष नृत्य के साथ गायेजानेवाले राजस्थानी चाक गीत।

(६) चौरी पर वर-वधु की नजर निकालने के लिये मांगलिक कलश आरती उतारते समय राजस्थान में गायेजानेवाले कामण-नामक गीत।

(७) विवाह से पूर्व मामा के यहाँ से वर-वधू के लिये वस्त्राभूषण लेजाते समय गायेजानेवाले मायरा गीत।

(८) राजस्थान में रामदेवजी की स्तुति में मंजीरा-वादन करते समय गायेजानेवाले तेरहताल गीत।

(९) राजस्थान में पाबूजी तथा देवनारायण की पड़ों के समक्ष नाचते हुए गायेजानेवाले भोपों के गीत।

मांगलिक और सांस्कारिक-क्रिया-प्रधान गीतों के ऐसे असंख्य उदाहरण भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में प्राप्त हो सकते हैं। ये गीत दीर्घकाल से लोक-जीवन में पारिवारिक जन की तरह समाविष्ट होगये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि लोकगीतों की स्वर-रचना में ही कुछ ऐसे तत्व विद्यमान रहते हैं, जो स्वाभाविक क्रियाओं के उत्पादन में सहायक होते हैं। इन लोकगीतों में एक बात स्पष्ट परिलक्षित होती है और वह यह है कि संगीत के साथ क्रियाएँ जुड़ी हुई हैं, न कि क्रियाओं को संगीत प्रदान किया गया है। पनघट पर जाती हुई स्त्रियाँ गीतों की ताल के साथ अपने पाँव नहीं मिलातीं, चक्की पीसने तथा गेहूँ बीनने की क्रियाओं में हाथ संगीत की लय के साथ नहीं चलते, इसी तरह खेती करते समय किसान की क्रियाएँ लयबद्ध नहीं होतीं। यह सब विशेषतया लोकसंगीत की व्यावहारिकता की ओर ही संकेत करता है। इन गीतों का लयपक्ष उनके अनुरूप ही बनाया गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। अपरोक्ष में क्रिया और उसके साथ गायेजानेवाले गीतों की लय में कोई

प्रत्यक्ष समरूपता नहीं है; बल्कि परोक्ष में देखें तो वे दोनों ही लय ही में हैं। वह लय गीत की ताल में निहित नहीं है बल्कि गायक के हृदय और क्रिया-निरत अंगों के अज्ञात सामंजस्य में निहित है। पनघट पर जाती हुई स्त्रियों के पांव भले ही संगीत की ताल पर नहीं पड़ते हों फिर भी गीत की धुन और गायक के हृदय में लय की समरूपता है, जो इन दोनों को एक दूसरे के साथ जोड़ देती है। वह जोड़नेवाली शक्ति है स्वरों की व्यंजना, जो गायक के कंठ से निकले हुए गीत की एक भावात्मक निष्पत्ति है। इन सबका ऐसा भावात्मक तालमेल बैठ गया है कि ज्योंही चक्की चली और पीसनेवाली स्त्रियों के कंठ से वे ही गीत उद्‌भासित हुए। यही बात इन गीतों के साथ जुड़ी हुई सभी क्रियाओं के साथ लागू है।

इन विविध क्रियाओं के साथ गायेजानेवाले गीतों में जब क्रियाओं का कोई वर्णन नहीं है, न उनकी प्रत्यक्ष तालों से ही उनका कोई संबंध है, तो वह कौन सी शक्ति है जो उन विशिष्ट गीतों को उन विशिष्ट क्रियाओं ही से जोड़ती है, दूसरों के साथ नहीं। इन गीतों के सूक्ष्म विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि इनकी स्वर-रचना ही इन विशिष्ट क्रियाओं के साथ तालमेल के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणस्वरूप चक्की के गीतों को ही लीजिये। चक्की बहुधा प्रातः सूर्योदय से पूर्व ब्रह्ममुहूर्त में अत्यन्त गंभीर, शान्त और स्निग्ध वातावरण में चलाई जाती है। चक्की जब चलती है तो उससे भी एक विशिष्ट स्वर की निष्पत्ति होती है। उस समय उसके मधुर संघर्षण के साथ कंठ के ऐसे मधुर गीतों का उदय होता है जो उस चक्की की ध्वनि से मेल खाते हैं। सर्वत्र चक्की पर गायेजानेवाले अधिकांश परम्परागत गीत इसी स्वभाव के होते हैं। इसी तरह पनघट पर जाती हुई स्त्रियां जो गीत गाती हैं, उनकी लय कुछ तेज और स्वर-चयन भी कुछ चुलबुला होता है। इसी तरह खेती के गीत, सड़क कूटने के गीत भी द्रुतगति के होते हैं। ऐसे गीत चूंकि अत्यधिक श्रम और थकान के समय गाये जाते हैं, इसलिए उनका स्वर-चयन अत्यन्त संक्षिप्त होता है। स्वरों की संचार-सीमा भी छोटी होती है। उनकी बंदिशें भी ऐसी होती हैं कि उन्हें थकान के समय गाते हुए अधिक थकान का अनुभव नहीं हो। उसी तरह बच्चों को सुलाने के लिए जो लोरियां गाई जाती हैं, उनकी बंदिशें भी अत्यन्त कोमल और कमनीय होती हैं। उनके श्रवण मात्र से बच्चों के कानों में जैसे अमृत बरसता है। मेलोंठेलों की भयंकर दूरी और खरी दुपहरी के कष्टों को भुलाने के लिए यात्रियों के कंठों पर जो गीत

थके हुए होते हैं, उनमें भी थकान मिटाने की एक अद्भुत क्षमता रहती है। बच्चों को सुलाने के लिए राजस्थानी स्त्रियाँ जिन मधुर लोकगीतों को प्रयुक्त करती हैं, उनमें से एक सुमधुर रचना यहाँ स्वरलिपि सहित प्रस्तुत की जाती है। इस रचना में बच्चों को सुलाने योग्य कोमलता एवं कमनीयता दर्शनीय है –

लोरीगीत

नान्या धणी रे गांवां रे गोर में
नान्या पालणों बकाऊ आवे रे
म्हारो रायमल हींदे पालणे।
नान्या कुणी जी मोलावे पालणो
नान्या कुणी जी भरसे दाम रे
म्हारो रायमल हींदे पालणे।
नान्या भुआबाई मोलावे पालणो
फूंफाजी भरसे दाम रे
म्हारो रायमल हींदे पालणे।
नान्या काम करूं तो चित पालणे
नान्या फरती मचोलो देऊं रे
म्हारो रायमल हींदे पालणे।

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

			सा – सा –
			ना ऽ न्या ऽ
नी नी –	सा – रे –	रे – –	सा – – –
ध णी ऽ	रे ऽ गां ऽ	वों ऽ ऽ	रे ऽ ऽ ऽ
नी प –	प – – –	प – –	प सा सा –
गो ऽ ऽ	र ऽ ऽ ऽ	में ऽ ऽ	ना ऽ न्या ऽ
सा रे –	रे – रे –	रे – –	सा – सा –
पा ऽ ऽ	ल ऽ णो ऽ	ब ऽ ऽ	का ऽ ऊ ऽ

नी	–	–	सा	–	रे	–	रे	–	–	सा	–	सा	–
आ	ऽ	ऽ	बे	ऽ	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	म्हा	ऽ	रो	ऽ
सा	सा	–	सा	–	सा	रे	रे	–	–	सा	–	–	–
रा	ख	ऽ	व	ऽ	र	ऽ	हीं	ऽ	ऽ	दे	ऽ	ऽ	ऽ
नी़	प़	–	प़	–	–	–	प़	–	–	सा	–	सा	–
पा	ऽ	ऽ	ल	ऽ	ऽ	ऽ	णो	ऽ	ऽ	मा	ऽ	न्या	ऽ
×			२				०			३			

(शेष गीत भी इसी धुन में गावें।)

इस राजस्थानी लोरीगीत में शब्दों से कहीं अधिक स्वरों की कमनीयता की विशेषता है। शब्दार्थ की दृष्टि से तो केवल माता पालने में झूलने वाले बच्चे से यही कहती है कि तुम्हारी भुवा ने यह पालना खरीदकर भेजा है और मैं काम करती हुई झुला दे रही हूँ। स्वरों की रचना इस मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है कि उसे सुनकर बच्चा अनायास ही सो जाय।

लोकगीतों की अबाध कार्य-संवर्धक शक्ति

लोकगीतों की रचना में एक आश्चर्यजनक बात और देखने को मिलती है, वह है उसकी कार्य-संवर्धक शक्ति। वह शिथिल धमनियों में रक्त-संचार करती है, अनिद्रित को निद्रा प्रदान करती है। अकर्मण्य को कार्यनिरत करती है। अश्रद्धालु को श्रद्धावान् बनाती है। प्रेम विहीन में प्रेम की लौ जागृत करती है। थके हुए को चलने की शक्ति प्रदान करती है। सोतों को जगाती है तथा कायरों को वीर बनाती है। यहाँ तक कि राजस्थान के नाथपंथी साधुओं को अग्नि में कूदकर भयंकर नृत्य में निरत कराती है। अग्नि में कूदने से पूर्व ये साधु एक विशिष्ट धुन को घंटों गुनगुनाते हैं तथा जब वे उसमें पूर्णरूप से समरस हो जाते हैं तो साथ में बजनेवाले विशिष्ट बाजों के घोर निनाद के साथ ये लोग धधकती आग में कूदकर नाचने लगते हैं। राजपूती जौहर के समय भी स्त्रियाँ ऐसे ही गीतों के वातावरण में धधकती हुई ज्वाला में कूद पड़ती थीं। राजपूती युद्धों में रणकंकण नामक बाजे की धुन पर कई क्षत्रिय वीर युद्ध में जूझ जाते थे। भील युवक अपने बांसुरी-वादन में अनेक भील बालाओं को अपनी ओर आकर्षित करते थे। विरहविदग्ध स्त्रियाँ इन विरहजन्य लोकगीतों

से अपनी विरहाग्नि बुझाने में समर्थ होती थीं। इन्हीं कीर्तन-भजनों से अनेक भक्तजनों को आध्यात्मिक आनन्द उपलब्ध होता है। ऐसे ही गीतों से सोये हुए समाज को जगाया जाता है और पथ-भूले-हुए राष्ट्र को अपने कर्तव्य का भान कराना पड़ता है। लोकगीतों की अनेक धुनें ऐसी हैं जो बीमारों को अच्छा करती हैं। आदिवासियों के गीतों में अनेक गीत ऐसे हैं जिनसे अनेक मानवी रोगों का सफल उपचार किया जाता है। इन गीतों की विशिष्ट स्वर-रचनाएं एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं और रोगी निश्चय ही रोगमुक्त हो जाता है। अनेक लोकगीत ऐसे भी हैं, जो पशु-पक्षियों को भी प्रभावित कर देते हैं तथा कभी-कभी वशीकरण मंत्र का काम करते हैं। उनसे वांछित इच्छाओं की पूर्ति तो होती ही है बल्कि उनसे शत्रु भी वश में हो सकता है।

लोकसंगीत की प्रेरकशक्ति : प्राकृतिक ध्वनियाँ

लोकसंगीत का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जो बहुधा संगीत के विद्वानों के ध्यान से ओझल ही रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि हृदय के उद्‌गारों के साथ अनायास ही जो मन में गुनगुनाहट उत्पन्न होती है, वही स्वर की निष्पत्ति है। इस गुनगुनाहट की जो अज्ञात प्रेरक-शक्ति है वह प्रकृति से उपलब्ध होती है। लोकसंगीत की गोद प्रकृति ही मानी गई है। बच्चा जब माँ की गोद में पलता है तो नानाप्रकार की ध्वनियों का उसके मन पर असर पड़ता है। पहाड़ टूटते हैं, चट्टानें टकराती हैं तो उनके संघर्षों का निनाद उसके कानों में पड़ता है। जब बादल गरजते हैं और बिजलियाँ चमकती हैं तो उनकी कड़कड़ाहट का असर उस पर हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह हवा, तूफान तथा आँधियों की प्रलयंकारी आवाजें प्राकृतिक मानव को अवश्य ही आन्दोलित करती हैं। पहाड़ी झरनों, वृक्षों, पत्तों तथा मलय समीर की मर्मर ध्वनि, कोयल की कूक, मयूर के बोल, झींगुर की झिगुरन मानव के अज्ञात मन पर न जाने कितने समय से आघात कर रही है। प्राकृतिक मानव इनसे कैसे अछूता रह सकता है। ये ध्वनियाँ किसी प्रकार के संगीत का आभास नहीं देतीं, क्योंकि केवल ध्वनियों के संयोग से ही संगीत नहीं बनता। संगीत तो स्वरों के उस नियोजित और सार्थक योग को कहते हैं, जिससे माधुर्य और रस की निष्पत्ति होती हो। उक्त सभी प्राकृतिक ध्वनियों का यह स्वरूप नहीं है। ये केवल कुछ विशिष्ट वैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर अनायास ही संघर्ष उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप जन्म लेती हैं और

अनेक बेमेल और अनियोजित स्वर समूह का सा आभास देती हैं। उनसे संगीत रचनाओं के लिए प्रेरणा प्राप्त करने तथा उन्हें ज्यों-का-त्यों उनमें प्रतिष्ठापित करने की संभावना लेश मात्र भी नहीं है। वे किसी गीत-प्रणेता की स्वाभाविक स्वर-निष्पत्ति को प्रभावित करके उसमें गर्जन, संघर्षण, झंकार, मर्मरता आदि का आभास अवश्य पैदा करती हैं।

इन ध्वनियों का आभास अधिकतर आदिवासियों के गीतों में मिलता है, क्योंकि वही हमारा आदिसंगीत है। उसका पोषण और सर्जन प्रकृति की गोद ही में हुआ है। वह आदिसंगीत ध्वनि-प्रधान होता है, उसमें शब्द अत्यन्त गौण हैं। मणिपुर, त्रिपुरा तथा मध्यप्रदेश आदि के घने जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं तथा उपत्यकाओं में रहनेवाले आदिवासियों के गीतों में इन प्राकृतिक ध्वनियों की प्रधानता है। उनके कुछ गीत तो ऐसे हैं, विशेषकर मणिपुर और त्रिपुरा के आदिवासियों के, जिनमें इने-गिने शब्द हैं और शेष केवल ध्वनियाँ मात्र हैं। कहीं-कहीं तो केवल ध्वनियाँ ही हैं, जो भयंकर तूफान के समय पहाड़ों से टकराकर लौटनेवाली हवाओं का आभास देती हैं। कहीं-कहीं उन गीतों में ऐसी किलकारियाँ हैं, जो पहाड़ या चट्टान टूटने के समय सुनाई पड़ती हैं। कहीं-कहीं गीतों में ऐसी सीटियों का आभास मिलता है जो एकान्त जंगलों में नीरव शान्ति के समय सुनाई पड़ती हैं। इन ध्वनियों के साथ ही दो-चार शब्द जोड़ देने से पूरा गीत बन जाता है। सारे गीत में कुल मिलाकर दस-पंद्रह शब्द भी गिनती के नहीं होते और उनका मतलब भी बहुधा ऐसा निकलता है 'तुम आओ', 'तुम गाओ', 'तुम नाचो' आदि। ये गीत उस आदिम-समाज के हैं, जो आज भी आदिममानव की प्रारंभिक अवस्था में रहते हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यही आदिवासी उन अत्यन्त आदिमस्थितियों में से निकलकर सभ्य भी बन जाता है, अच्छे कपड़े भी पहिन लेता है, लिख पढ़-कर होशियार भी हो जाता है, शिष्ट समाज में विचरण भी करने लगता है, फिर भी जब वह रात को या अपने खाली क्षणों को आनंदित करने के लिये अपने अन्य साथियों के साथ जमा होता है, तो वह उन्हीं आदिमगीतों, नृत्यों, पोशाकों तथा साजों का उपयोग करता है तथा उन्हें ठीक उनकी आदिम-अवस्थाओं में ही अदा करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब उनकी सभी अवस्थाएँ आदिमस्थिति से ऊपर उठ गई हैं तब उनके नृत्य, गीत तथा जीवन के अन्य सांस्कृतिक पक्ष ज्यों-के-त्यों क्यों रह गये हैं? इसका मुख्य वैज्ञानिक कारण यही है कि मनुष्य जब बदलता है तो उसका भौतिक स्वरूप जल्दी

बदलता है और उसका सांस्कृतिक स्वरूप काफी विलम्ब करके परिवर्तित होता है। कभी-कभी तो वह पक्ष सदियों तक कायम रहता है। आज हमारे देश में अनेक परिवर्तन आये, हमने झोंपड़े छोड़ दिये, हम महलों तथा बंगलों में रहने लगे, हमने अपनी वेशभूषा छोड़कर विदेशी कपड़े पहिन लिये तथा रहने के विदेशी तौर-तरीके अपना लिये, परन्तु फिर भी हमने विदेशी संगीत नहीं अपनाया, विदेशी नृत्य से कोई नाता नहीं जोड़ा। हमारी संस्कृति की मूलभूत बातें, जैसे पूजा, पाठ, सांस्कृतिक पर्व, नृत्य, गीत, समारोह तथा संस्कार, हमसे छूटे नहीं। यही बात आदिमसंगीत पर भी लागू होती है। कभी हमारे पूर्वज भी आदिम ही थे। अनेक प्राकृतिक और सामाजिक कारणों से हम उन आदिम-अवस्थाओं से बाहर निकल आये, सभ्यता की वृद्धि के साथ हमारी आदिम-अवस्थाएँ बदलती गईं। ज्यों-ज्यों चहुँ ओर का जीवनक्रम बदला गया, मानस का विस्तार हुआ, हमारी दृष्टि (Insight) का फैलाव हुआ, जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ीं, हमारा मानसिक विकास हुआ, हमारे भावों का परिष्कार हुआ, हमारे जीवन के तौर-तरीके बदले, संस्कृति के पोषक तत्त्वों में वृद्धि हुई, अनेक संस्कृतियों का मेल हुआ, जीवन की अनुभूतियों के साथ साहित्य का आकाश फैला; कला, साहित्य और संस्कृति के नये-नये स्वरूप मुखरित हुए, संगीत के स्वरों में निखार आया, स्वरों और शब्दों की व्यंजना-शक्ति बढ़ी, भावनाएँ परिष्कृत हुईं। परिणामस्वरूप आदिमसंगीत की आधारशिला पर अवस्थित हमारा संगीत आज कहाँ पहुँच गया? पहले उसने प्राकृतिक ध्वनियों से शक्ति ग्रहण की परन्तु आज उसके प्रेरणा-स्रोत विस्तृत हो गये। स्वरों के अनेक अनोखे और मृदुल मेलजोल से असंख्य हृदयग्राही धुनों की सृष्टि हुई जो आज हमारे लोकगीतों के अंतराल में विराजकर मानव-मन को आह्लादित कर रही है। इन ध्वनियों के विश्लेषण से यह ज्ञात करना कठिन नहीं है कि आदिमसंगीत की मूलभूत प्रेरणाएँ आज भी उनमें विद्यमान हैं। राजस्थान के मरुप्रदेशों के अच्छे से अच्छे उन्नत लोकगीतों में मरुभूमि पर चलनेवाली उष्ण आँधियों का प्रभाव आज भी विद्यमान है। जैसे जैसलमेर के लंगों के कंठों पर गायेजानेवाले माण्गीतों में भी वही गूंज, जो उनकी विशिष्ट आलापों से प्रकट होती है, आज भी विद्यमान है। यही प्रभाव बीकानेर तथा बाड़मेर की गरम लूओं के बाद चातुर्मास की प्रतीक्षा में गाये जानेवाले चौमासों में परिलक्षित होता है। बीकानेर के जसनाथी साधुओं के अग्नि-नृत्य के साथ गायेजानेवाले गीतों में भी एक विशेष प्रकार की ध्वनि

का आभास होता है, जो दबे हुए तूफ़ानों और झंझावातों से प्रकट होती है। अजमेर के आसपास के गूजरों के अलगोजों के साथ गायेजानेवाले गीतों में भी प्राकृतिक किलकारियों तथा सीटियों की बहुत ही विचित्र नकल की जाती है।

यह प्राकृतिक ध्वनियों की प्रतिच्छाया उन सभी गीतों में पाई जाती है, जो प्राकृतिक वातावरण में अधिक संचरित होते हैं। आधुनिक सभ्यता के यांत्रिक वातावरण के संपर्क से ये गीत अपनी इस विशेषता को खो बैठते हैं। प्राकृतिक ध्वनियों का यह प्रभाव इन विशिष्ट गीतों की स्वर-रचनाओं में नहीं होता बल्कि उनके लहजों में होता है। आदिमगीतों की स्वर-रचना में तो कहीं-कहीं ये ध्वनियाँ स्वर-चयन का अंग बन जाती हैं, परन्तु सांस्कृतिक गीतों में ये ध्वनियाँ केवल गाने के लहजों तथा गायकी की शैली ही में सीमित रहती हैं। गीतों की स्वर-रचना और हों और लहजे कुछ और हों ऐसी बात भी नहीं है। स्वर-रचना और उनके लहजों में भी साम्य होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वर-विज्ञान का यह स्वाभाविक निभाव बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ही इन गीतों में हुआ है, यही अचंभे की बात है।

शास्त्रीय संगीत की प्रेरकशक्ति लोकसंगीत

यह तो सर्वसिद्ध बात है कि शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत का विकसित रूप नहीं है फिर भी शास्त्रीय संगीत को लोकसंगीत की अनुपम देन है। वह ऐसा खजाना है जो शास्त्रीय संगीत को नये-नये रत्न प्रदान करता है। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र संगीत का प्रेरक नहीं बन सकता, क्योंकि शास्त्र कभी प्रेरणा नहीं देता। वह तो कभी-कभी प्रेरणा देने की अपेक्षा उसकी गति को अवरुद्ध ही करता है। वह उसके उन्मुक्त प्रवाह को रोकने की चेष्टा करता है, उसे सीमाओं में बाँधता है तथा नियमों में जकड़ता है। जब शास्त्र को यह सब कर्तव्य निभाने का काम सौंपा जाता है तो वह प्रेरणा-शक्ति कैसे बन सकता है। अतः संसार की कोई भी कला अपनी प्रेरणाएँ शास्त्र से नहीं लेतीं। वे अपना प्रेरणा-स्थल कहीं और जगह ही ढूंढती हैं। लोकसंगीत का प्रवाह, उसका अपरिमित स्वरूप तथा वैविध्य ही शास्त्रीय संगीत के लिए प्रेरणादायिनी शक्तियाँ हैं। लोकसंगीत केवल शास्त्रीय संगीत की प्रेरणा-शक्ति ही नहीं, वह काव्य की आत्मा भी है। शब्द जब अपनी व्यंजनाओं में कमजोर पड़ जाता है तब वह लोकसंगीत का मुँह ताकता है। लोकसंगीत की अनेक ऐसी धारायें तथा मुर्कियाँ हैं जो आसानी से हृदयंगम होती हैं। ये धारायें तथा मुर्कियाँ शास्त्रीय संगीत में ज्यों-की-त्यों प्रयुक्त हुई हैं। यह तो

पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि लोकसंगीत में शास्त्रीय रागों का मूल स्वरूप आदिकाल से विद्यमान है। शास्त्रकारों ने उनके अनेक जोड़-तोड़ मिला कर अनेक शास्त्रीय रागों का निर्धारण एवं नियोजन मात्र किया है। अतः यह स्वाभाविक है कि लोकगीतों के अनेक ऐसे आलाप तथा तान-समूह शास्त्रीय संगीत की रंजकता तथा मनमोहकता को बढ़ाने के लिए उसमें ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त हुए हैं। रचीहुई, बनावटी तथा शास्त्रोक्त नियमों में जकड़ी हुई आलाप-तानों में वह स्वाभाविक भाव-प्रवणता नहीं होती, जो कभी-कभी दीर्घकाल से असंख्य कंठों पर उतरी हुई अनुभूति-संगत लोकतानों तथा लोकधुनों में विद्यमान होती है। ऐसी आलाप-तानों का संचय इन लोकधुनों में से किया जाय तो अनेक पोथियां ही भर जावें।

दूसरी प्रेरणा जो शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत से लेता है वह है ऐसे विवादास्पद स्वरों के जोड़-तोड़, जो कुछ संगीतज्ञों को न्याय-संगत लगते हैं और कुछ को नहीं। इसी विवाद के कारण बड़े-बड़े विरोधी पक्ष स्थापित हो जाते हैं, बड़े-बड़े विवाद होते हैं और एक पक्ष को विजयी और दूसरे पक्ष को पराजित होना पड़ता है। शास्त्र की दृष्टि से ऐसे निर्णय सही हो सकते हैं, परन्तु लोकव्यवहार से वह ठीक नहीं होते। उस व्यवहार के सच्चे दर्शन लोक-संगीत में ही मिलते हैं, जिससे ही शास्त्रीय रागों का आभास शास्त्रकारों ने प्राप्त किया है और जिस पर शास्त्रीय संगीत का यह विशाल भवन निर्मित हुआ है। इस विवाद का हल यदि लोकसंगीत के व्यवहार से मिल भी जाता है तो शास्त्रीय संगीत के अनेक विद्वान् अपनी हीनता की भावना को दबाने के लिए कभी स्वीकार नहीं करते। परन्तु यह विवाद शास्त्रीय संगीत स्वयं लोकसंगीत के पास आकर मिटा देता है। अनजाने ही लौकिक व्यवहार में पारस्परिक मेलजोल, आदानप्रदान, तुलना, संवर्धन आदि से यह विचार अन्दर ही अन्दर बैठ जाता है। इस तुष्टि के मूल में लोकसंगीत ही है, जो उन विवादास्पद बातों को अपने व्यवहार में शुद्ध रूप से दिखलाकर श्रोताओं तथा प्रयोक्ताओं पर अपनी अमिट छाप छोड़ देता है। ये विवाद रागों के नियत स्वरों की अवस्थिति के संबंध में नहीं उठते क्योंकि उनका शास्त्र तो सर्वदा ही निर्विवाद रहता है। वे तो स्वरों के वादी-विवादी पक्ष के अल्प तथा अत्यल्प प्रयोग के संबंध में उठते हैं, जो कभी-कभी शास्त्रविरुद्ध होते हुए भी विशिष्ट राग में माधुर्य उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। उन विवादी स्वरों के अल्प प्रयोग की अनुमति कभी शास्त्रीय संगीत में मिल भी जाती है

तो उसका मुख्य कारण लोकसंगीत ही है, जिसमें ऐसे विवादी स्वरों से प्रभाव उत्पन्न करने के असंख्य उदाहरण मिलते हैं।

लोकसंगीत का दूसरा पक्ष ऐसा है, जिससे शास्त्रीय संगीत अत्यधिक मात्रा में प्रेरणा ग्रहण करता है। एक ही लोकगीत में बहुधा एक से अधिक रागों की अवस्थिति रहती है, जो कि उसे अतिशय रंग और माधुर्य प्रदान करती है। अनेक लोकगीत ऐसे भी होते हैं जिनमें एक ही राग को सभी हद तक निभाया गया है चाहे उनमें शास्त्रीय रागों के सभी नियम न भी निभते हों, फिर भी राग की सच्ची प्रतिच्छाया उनमें विद्यमान रहती है। ऐसे लोकगीत जिनमें एक से अधिक रागों का मिश्रण नहीं होता, वे गीत के सौन्दर्यपक्ष की दृष्टि से या स्वर-व्यंजना की दृष्टि से श्रेष्ठ गीत नहीं समझे जाते, जबकि शास्त्रीय संगीत में ऐसे ही गीत श्रेष्ठ समझे जाते हैं, जिनमें एक ही राग का भलीप्रकार निभाव होता हो। लोकगीतों को सर्वाधिक सौन्दर्य प्रदान करनेवाली शक्ति यही विविध रागों की स्वाभाविक संगति है जो अनायास ही बिना प्रयास के लोकगीतों की सामाजिक रचना-विधि से हमें उपलब्ध होती है। इन गीतों का चाहे कितना ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय, उनके विविध स्वरों के जोड़तोड़ सर्वदा ही रस की निष्पत्ति करनेवाले होते हैं। उनमें उन्हीं रागों की संगति होती है जिनका मिलना स्वाभाविक होता है। ऐसी रागें कभी नहीं मिलती हैं जो विकृत प्रभाव उत्पन्न करती हैं। शास्त्रीय रागों को लोकगीतों की सबसे बड़ी देन यही है। शास्त्रीय रागों में राग-मिश्रण के जो विलक्षण नमूने मिलते हैं, उनके पीछे लोकगीतों की प्रेरणा ही प्रधान है।

लोकसंगीत की तीसरी सबसे बड़ी देन जो शास्त्रीय संगीत को है वह है उसकी लोकप्रियता। शास्त्रीय संगीत सदा ही शास्त्रों की तरफ झुकता है। शास्त्रीय संगीतकार अन्य संगीतज्ञों के समक्ष अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए शास्त्रों से ही अपने संगीत को संपन्न करता है और उसके प्रदर्शनकारी पक्ष को ही सर्वाधिक महत्व देता है। इसीलिए शास्त्रीय संगीत क्लिष्ट से क्लिष्टतर बनता जाता है और जनरुचि से अलग होने लगता है। ऐसी स्थिति में लोकसंगीत ही ऐसा पक्ष है, जो उसकी मदद के लिए आता है। संगीत के अन्य स्वरूप जैसे सुगम संगीत, फिल्मी संगीत आदि तो उनकी प्रेरणा-शक्ति बन ही नहीं सकते, क्योंकि वे संस्कार-संगत संगीत की श्रेणियाँ नहीं हैं। शास्त्रीय संगीत के समकक्ष यदि कोई महत्त्वपूर्ण तथा संस्कारिक श्रेणी है तो वह लोकसंगीत ही की है, जिसकी लोकप्रियता से वह पूर्णरूप से प्रभावित

होता है। वह उससे रागों के स्वाभाविक मिश्रण के संकेत लेता है, उनके स्वाभाविक लहजों, आलापों तथा मुर्कियों को आत्मसात् करता है तथा स्वर-संगति के असंख्य प्रकारों को अपने में ग्रहण करके अपने प्राण संजोता है।

लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति

यह तो पूर्व-पृष्ठों में भली प्रकार दर्शाया गया है कि लोकगीतों में उसका संगीतपक्ष प्रधान और शब्दपक्ष गौण होता है। अभी तक शब्दपक्ष की प्रधानता इसलिए समझी गई, क्योंकि अब तक लोकगीतों को एक ही पक्ष से देखा गया है तथा उनके समीक्षकों ने उनके शब्दपक्ष की ही विवेचना की है। हम यह भूल जाते हैं कि लोकगीत की उत्पत्ति के समय स्वर ही प्रधान था और उसका चरम उद्देश्य ही स्वरपक्ष की प्रधानता प्राप्त कर शब्दों से अधिकाधिक मुक्ति प्राप्त करना है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि लोक-संगीत अपनी आदिम-अवस्था को प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त है, जिसमें ध्वनियों की ही प्रधानता है तथा स्वर और शब्द दोनों ही गौण हैं। न इससे यह तात्पर्य है कि वह शास्त्रीय पक्ष की ओर प्रवृत्त है, जिसमें स्वर ही स्वर है, शब्द अत्यन्त गौण है। ये दोनों ही पक्ष लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति के पक्ष नहीं हैं। चरम प्रवृत्ति का तात्पर्य यह है कि लोकगीत अपने मूलादर्श को पूर्णरूप से निभाते हुए अपने स्वरपक्ष के सौन्दर्य को पहुँचना चाहता है। यही लोकगीतों का चरम आदर्श है, जहाँ तक बिरले ही पहुँचते हैं। अनेक गीत तो ऐसे हैं, जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था में निष्कासित होकर स्वर-शब्द का सामंजस्य प्राप्त करते हैं। शब्द के प्राधान्य से मुक्त होते-होते ही स्वरों की अनन्त प्रक्रियाओं में या तो खो जाते हैं, या शास्त्रीय संगीत के अंग बन जाते हैं। स्वर की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए जिन पोषक तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे उन्हें समय पर उपलब्ध नहीं होते। ऐसे गीतों की अवस्थिति निश्चित है जो इस ओर प्रवृत्त नज़र आते हैं। उस चरम सीमा तक पहुँचते हुए गीत लोकजीवन से मुक्त होकर ऐसे कंठों पर बिराज जाते हैं, जिनकी पहचान करना असाध्य कार्य है। इस चरम सीमा तक पहुँचे हुए गीत या तो साधु-संतों की प्रगाढ़ साधनाओं के बीच उनकी आन्तरिक गुनगुनाहट या साधना-निरत ध्वनियों में अन्तर्हित रहते हैं, या कहीं शास्त्रीय संगीत की आलाप-तानों में अन्तर्धान हो जाते हैं। वास्तव में लोकगीतों के रूप में इन चरमोत्कर्ष तक पहुँचे हुए गीतों की अवस्थिति अधिक सम्भव नहीं है। ये धुनें अपनी स्वर-रचनाओं की विशेषता के कारण शब्दों से मुक्त होकर अनेक

शौकिया कलाकारों, शौकिया संगीतप्रेमियों के कंठों पर विराज जाते हैं। परन्तु उनका यह जीवन भी अत्यन्त अल्पकालीन है, क्योंकि बिना शब्द की संगति से मानव-कंठ पर वे अधिक समय तक विद्यमान नहीं रहते। वे यदि शब्दों के कारण प्रभुता प्राप्त होते तो उन्हें कागज पर सुरक्षित रखा जा सकता था और वे दीर्घकालीन जीवन पा सकते थे। परन्तु केवल कंठ की गुनगुनाहट के रूप में उनकी अवस्थिति दीर्घकालीन नहीं हो सकती। उनके दीर्घकालीन होने की एक ही शर्त है कि वे जीवन के लौकिक पक्ष से निकल कर अलौकिक साधनों के साथ जुड़ जावें और वे ऐसी रूढ़ि में पड़ जावें कि उनके बिना आराधना असंभव बन जाय। परन्तु यह स्थिति बहुत संभव स्थिति नहीं है। सहस्रों गीतों में कुछ ही गीत इस स्थिति में मिल सकते हैं।

इस चरम अवस्था में यदि लोकसंगीत की कहीं अवस्थिति मिल सकती है तो वह वाद्यकारों की धुनों में। यह विशिष्ट दर्जा भी हजारों गीतों में से कुछ ही गीतों को मिलता है, क्योंकि लोकगीतों में स्वर-शब्द-संगति का यह विलगीकरण अत्यन्त असाधारण क्रिया है। यह विलगीकरण भी उन्हीं गीतों में संभव है जिनकी धुनें माधुर्य, लोकग्राह्यता तथा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली होती हैं तथा जो शब्दों के लालित्य पर विशेष निर्भर नहीं रहतीं। ऐसे गीत अपने स्वर-लालित्य तथा अनुपम हृदयग्राही बंदिशों के कारण लोकजीवन के अत्यन्त रंगीले गीत बन जाते हैं, जिन्हें जनसाधारण हर परिस्थिति में गाता है तथा जो उनके कंठों का हार बन जाते हैं। उनका प्रचार, व्यवहार तथा प्रभावक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। वे जाति, क्षेत्र, परिवार तथा व्यक्ति की सीमा से बाहर निकलकर दीर्घजीवी तथा दीर्घक्षेत्री गीत बन जाते हैं। उनमें शब्दों का प्राधान्य नहीं होता इसलिए प्रत्येक प्रयोक्ता उनमें आजादी लेता है, अपनी तरफ से उनमें नये शब्द जोड़ता है, पुरानों से खिलवाड़ करता है, फिर भी उनका स्वाभाविक सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहता है। विद्वज्जन धुनों का संग्रह करते हैं, ध्वनि-संकलन-यंत्र पर उनका संकलन करते हैं, कविगण ऐसे गीतों की धुनों पर अपनी कविताएँ रचते हैं, फिल्मी निर्माता ऐसी धुनों को शब्द देकर अपनी फिल्म-रचनाओं में प्रयुक्त करता है। कई शौकिया लोग ऐसी धुनों को टकसाली धुनें मानकर उन पर आधारित अपने गीत रचकर पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं तथा प्रत्येक स्वरचित गीत पर शीर्षकरूप में "तर्ज फलानी" का संकेत करता है। ऐसे गीतों का यह बहुमुखी प्रचार और प्रसार इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि ये गीत अपने शब्दों की संगति से मुक्त होकर अपनी धुनों के कारण ही अमर बन रहे हैं। उनकी वैज्ञानिक अवस्थिति

वाद्य-संगीत की धुन के रूप में है। शब्दों के प्रभुत्व से मुक्त होकर यदि ये धुनें कहीं दीर्घकाल के लिए सम्मानपूर्वक उच्चासीन हो सकती हैं तो वाद्यों पर ही हो सकती हैं। लोकसंगीत में स्वतन्त्र वाद्यसंगीत बहुत ही असाधारण विशेषता है, क्योंकि वाद्यसंगीत के योग्य वे ही धुनें समझी जाती हैं, जिनके बजाने मात्र से श्रोतागण उन मूल गीतों का अंदाजा लगा सकें। ऐसे गीत वे ही हो सकते हैं जो अपनी धुनों के कारण ही प्रभुता प्राप्त हों और जो उनके शब्दों की प्रभुता से प्रायः मुक्त हो चुके हों और जिन्हें श्रोता वाद्यों पर सुनते ही स्वयं गा उठते हों।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि क्या प्रत्येक लोकगीत इसी उत्कर्ष को प्राप्त करने को लालायित है ? इसमें काफ़ी हद तक सच्चाई का अंश है, क्योंकि शब्दों की सर्वग्राह्यता सदा ही स्वर से कम होती है। शब्दों का प्रसार विशिष्ट क्षेत्र तथा समाज तक ही सीमित रहता है। परन्तु स्वरों की प्रायः कोई सीमा नहीं होती। वे सर्वक्षेत्रीय, सर्वग्राह्य तथा सर्वप्रिय होते हैं। इसीलिये स्वर संकीर्ण दायरे से बाहर निकलने की चेष्टा में सदा ही शब्दों से मुक्त होने की कोशिश में रहते हैं, चाहे उनकी संगति से कितनी ही रसनिष्पत्ति क्यों न होती हो। वे सदा ही इस कोशिश में रहते हैं कि वह रसनिष्पत्ति उन्हें शब्द-संगति के बिना ही मिल जाय। यह चेष्टा प्रत्येक लोकगीत में सदा ही विद्यमान रहती है, चाहे उसे सफलता मिले या न मिले। अनेक ऐसे लोकगीत हैं जो इस स्थिति तक पहुँच भी जाते हैं, परन्तु अधिक समय तक स्थिर नहीं रहते। अनेक ऐसे सामाजिक और भावात्मक कारण होते हैं, जो उन्हें इस स्थिति तक नहीं पहुँचने देते। अधिकांश धुनें तो शब्दों के साथ चिपकी रहती हैं। कुछ ऐसी भी होती हैं जो इस स्थिति को प्राप्त करने से पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं और कुछ ही ऐसी हैं, जो शब्दों के जंजाल से मुक्त होकर वाद्यात्मिक लिबास में लिपटकर दीर्घजीवी हो जाती हैं।

लोकसंगीत और सामाजिक परिष्कार

लोकसंगीत केवल मनोरंजन और आत्मानन्द का ही साधन नहीं है, उससे कहीं अधिक उसका सामाजिक महत्त्व है। जिस जाति या समाज में लोकसंगीत का प्रचलन नहीं है, वह राग-द्वेष, पारस्परिक विद्वेष तथा पारिवारिक उलझनों में फँसी रहती है। यह भी अध्ययन से सिद्ध हो चुका है कि जिस जाति में लोकसंगीत का सर्वाधिक प्रचलन है, उसमें मुकदमेबाजी तथा लड़ाई झगड़े कम होते हैं। यह ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो मनुष्य के भावों का संस्कार

करती है, विकृत भावों को सही दिशा देकर उनको मधुर बनाती है। वह मनुष्य जो गाता नहीं, उसको क्रोध जल्दी आता है और वह लड़ता-झगड़ता भी बहुत है। उसके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध अच्छे नहीं होते। लोकसंगीत सारे समाज का संगीत है। किसी व्यक्ति, परिवार, गुट या क्षेत्रविशेष का नहीं। वह सबका है, अतः सबके मिलाप के लिये वह एक सामान्य रंगमंच है। यहाँ सभी लोग भेदभाव रहित मिलते हैं, गाते हैं और मिल-बैठकर आनन्द मनाते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई पारस्परिक विद्वेष के कारण नहीं भी बोलते हैं तो भी सामूहिक गान के समय वे सब मिलकर गाते हैं।

लोकसंगीत के विविध रंगमंच हैं, मंदिर, गांव का चौराहा, घर का आंगन, सार्वजनिक मेले, बाजार, हाटबाट, बाग-बगीचे, खेत, खलिहान, देवल, मठ आदि-आदि। यहाँ मनुष्य अकेला नहीं गाता। वैयक्तिक अभिव्यंजना लोकगीतों में प्रायः नहीं के बराबर है। अतः जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय संगठन का यह सबसे अधिक शक्तिशाली मंच है, जिसके द्वारा बिखरे हुए समाज तथा परिवार पुनः जुड़ जाते हैं, क्रोध शान्त हो जाता है, विद्वेष मिट जाता है और प्रेम, सौहार्द तथा दया के अनंत स्रोत बहने लगते हैं। संगीत की इस अथाह शक्ति का कौन मुकाबला कर सकता है? ये ही लोकगीत विरहिणी स्त्री के विदग्ध हृदय को शान्ति पहुँचाते हैं, माता-पिता, भाई-बहिन, परिवार, सास-बहू, देश, समाज, जाति, धर्म की तरफ कर्तव्यपालन का पाठ पढ़ाते हैं। इन स्नेह-संबंधों की पवित्रता सदा ही अक्षुण्ण बनी रहे, इस ओर ये लोकगीत सदा ही संकेत करते रहते हैं। ये ही लोकगीत मानव-कंठ के हार बनकर अनन्त सुख का अनुभव कराते हैं, कर्तव्यच्युत को कर्तव्य का रास्ता दिखलाते हैं, संतप्त हृदय को सुख पहुँचाते हैं, अतीत की मधुर स्मृतियों को ताजा करते हैं तथा वर्तमान और भविष्य के लिये हममें शक्ति का संचार करते हैं। इन्हीं लोकगीतों की स्वर-लहरियाँ नवीन गीतों की ओर हमें प्रेरित करती हैं और इस तरह गीतों की इस अमर परम्परा का चक्र चलता ही रहता है।

लोकसंगीत के पोषक तत्त्व

लोकसंगीत को पुष्ट करनेवाली सबसे महान् शक्ति सामाजिक प्रतिभा है। सांस्कृतिक धरातल समान होते हुए भी कभी-कभी जातिगत प्रतिभा लोकसंगीत को सुसमृद्ध करने में सहायक होती है। कई जातियाँ स्वभाव से ही संगीत के विशिष्ट तत्त्वों से विभूषित होती हैं। जिस समाज या क्षेत्रविशेष

में ऐसे तत्वों का बाहुल्य है, वहाँ लोकसंगीत को विशेषरूप से पोषण प्राप्त होता है और सच पूछिये तो ऐसे ही स्थलों से लोकगीतों की प्रारंभिक निष्पत्ति भी होती है। ऐसे तत्त्व स्थान-संगत नहीं, जाति-संगत होते हैं। इन जातियों की वंशपरम्परा से ही ये तत्त्व विरासत में मिलते हैं, जो तनिक अवसर पाकर सामाजिक पोषण पाने लगते हैं। लोकसंगीत की दृष्टि से अधिकांश प्रतिमाएँ ऐसी ही जातियों में छिपी रहती हैं। इन जातियों से तात्पर्य संगीत की व्यवसायिक जातियों से नहीं है बल्कि उन जातियों से है जिनका संगीत व्यवसाय नहीं है, वरन् जिनमें संगीत की वंशानुगत प्रतिभा होती है। जब ये गीत इनमें संचरित होते हैं तो उनको ये जातियाँ अपनी वंशानुगत प्रतिभा तथा स्वर-शब्द-संगति से ऐसे मधुर तत्त्व प्रदान करती रहती हैं, जिनसे लोकगीतों की संचरण और प्रभावशक्ति बढ़जाती है।

इन पोषक तत्त्वों में समाज के सांस्कृतिक धरातल का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि समाज हीनावस्था को प्राप्त होता है तो कला के प्रति उसकी जागरूकता नष्ट सी हो जाती है और लोकगीतों को पोषण प्राप्त होने की अपेक्षा उनको स्वयं की प्रतिभा भी घटने लगती है। सुसंस्कृत और सभ्य समाज लोकगीतों को अपना अलंकार बनाये रखता है और उसके प्रत्येक सांस्कृतिक, पारिवारिक और सामाजिक समारोह की वे शोभा बनते हैं।

लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व परंपरागत संस्कृति के प्रति आस्था है। जिस समाज में अपनी संस्कृति के प्रति कोई आस्था नहीं है तथा जो बाह्य प्रभावों से प्रभावित होकर अपनी सांस्कृतिक परम्परा को खो बैठा है, वह समाज अपने लोकगीतों के प्रति उदासीन सा रहता है। अपनी अतीत की थाती पर गर्व का अनुभव करनेवाले सुसंस्कृत समाज में ये लोकगीत सर्वाधिक पोषण प्राप्त करते हैं। लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सामाजिक समता, स्वस्थ सामाजिक मस्तिष्क तथा धार्मिक जीवन अत्यन्त सहायक हैं। कलहपूर्ण समाज, संघर्षमय जीवन, असंस्कृत तत्त्वों का प्रभुत्व तथा जातिगत सामाजिक व्यवधान लोकगीतों के शत्रु हैं। ये तत्त्व आज सर्वाधिक वृद्धि पा रहे हैं, इसीलिये लोकगीतों के प्रति सामाजिक उदासीनता भी बढ़ रही है।

लोकगीतों के पोषण में स्त्रियों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने ही लोकसंगीत की अक्षुण्ण धाराएँ सुरक्षित रखी हैं। बालक का जन्म, विवाह, त्योहार, पर्व, संस्कार, मेले, उत्सव, रात्रि-जागरण, देव-मनौतियाँ आदि अवसरों पर गायेजानेवाले सभी गीत स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं। सच पूछिये तो लोकगीतों को सुरक्षित और पुष्ट करनेवाली स्त्रियाँ ही होती हैं।

लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सामाजिक भावप्रवणता का प्रमुख स्थान है। यह प्रवणता आज के यांत्रिक जीवन में कम होती जा रही है। मनुष्य बुद्धिजीवी होता जा रहा है अतः साहित्य, संगीत तथा कला-सर्जन के कार्य में यह स्थिति घातक सिद्ध हो रही है। जहां समाज का भावपक्ष दुर्बल हो जाता है या समाप्त हो जाता है और बुद्धितत्त्वों का बाहुल्य होता है वहां कला, लोकानन्द और आत्मानन्द से दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में मनोरंजित और मनोरंजक की दो अलग-अलग श्रेणियां बन जाती हैं और कला आत्मानन्द की वस्तु न रहकर केवल मनबहलाव की वस्तु बन जाती है। यह मनोरंजक का विशिष्ट वर्ग जनता को मनोरंजित करता है और सामाजिक तथा सामुदायिक मनोरंजन का पक्ष सदा के लिए उठ जाता है।

लोकसंगीत के पोषक तत्त्वों में संगीत का बाह्य आदान-प्रदान भी प्रमुख भाग अदा करता है। जहां विविध क्षेत्रीय, जातीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का पारस्परिक मेल होता हो वहां मेलजोल, सहयोग-संसर्ग से गीतों को पोषण मिलता है। जहां ऐसे अवसर अधिक होते हैं, वहां का संगीत एक दूसरे से पोषण-तत्त्व प्राप्त करके सम्पन्न और समृद्ध बनता है। जो समाज आदिवासी समाज की तरह अपने आपको अलगथलग तथा सांस्कृतिक आदानप्रदान और सभ्यता के प्रसंगों से बचा-बचाकर रखता है, उसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कृपण के धन के समान जहां की तहां रहती है।

लोकसंगीत की निष्पत्ति के लिये सांस्कृतिक संघर्षण, भावात्मक उथल-पुथल तथा आध्यात्मिक क्रान्ति का वातावरण अत्यन्त अनुकूल होता है। लोक-गीतों के पौष्टिक संवर्धन से अनेक सांस्कृतिक तत्त्व मिलते हैं, एक दूसरे से बिछुड़ते हैं, नये तत्त्व आते हैं, पुराने लड़खड़ाते हैं, नवीन धरातल बनते हैं, जिनसे गीतों को स्वर-शब्द-संगति में विलक्षण ताजगी आती है। भावात्मक उथलपुथल, धार्मिक संघर्ष तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष-अपकर्ष के वायु-मंडल ही में नवीन रचनाओं के पोषक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में निराशा उत्पन्न होती है तब आध्यात्म की शरण ली जाती है। ऐसे ही समय धार्मिक लोकगीत, भजन आदि का सृजन होता है।

शब्दसापेक्ष और स्वरसापेक्ष लोकगीत

लोकगीतों को लोककाव्य की संज्ञा न देकर गीत की संज्ञा इसलिये दी गई है कि उनमें गेय गुण विशेष है। विशुद्ध साहित्यिक कृतियों में भी कविता

और गीत की अवस्थिति अलग-अलग दर्शाई गई है, जैसे तुलसीकृत रामायण महाकाव्य है और गीतावली गीतिकाव्य। रामचरितमानस में काव्यतत्त्व विशेष है और गीतावली में गेय तत्त्व अधिक। ठीक यही स्थिति लोकगीतों की नहीं है। लोकगीतों का गेय तत्त्व साहित्यिक गीतों के गेय गुणों से बहुत भिन्न है। साहित्यिक गीतों में कविता को किसी भी धुन में गा लेने से वह गीत की श्रेणी प्राप्त कर लेती है, परन्तु लोककाव्य अथवा लोककविता को गा लेने से गीत नहीं बन जाता। साहित्य में तो छन्दविहीन तथा अतुकान्त गद्य को भी गद्यगीत की संज्ञा दी गई है, परन्तु अतुकान्त और छन्दहीन लोकगद्यगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। लोकगीतों की कविता साहित्यिक गीतों की कविता के समान नहीं है। लोकमानस में स्वतन्त्ररूप से कवित-रचना की शक्ति कहाँ से आ सकती है, उसके लिये विशिष्ट संस्कार, शिक्षा तथा साहित्यिक स्तर की आवश्यकता होती है। फिर भी यह प्रश्न उठता है कि लोकगीतों में काव्य की इतनी ऊँची उठान कहाँ से आई? वे जीवन के ऐसे पहलुओं को स्पर्श करते हैं तथा उनकी अभिव्यंजनाएँ इतनी मार्मिक होती हैं कि बुद्धि काम नहीं करती। लोकगीत में जिस विषय का प्रतिपादन होता है तथा उसे जितने सुन्दर ढंग से निभाया जाता है, उतना कोई महान् आचार्य भी नहीं कर सकता। विषय और अभिव्यंजनाओं का सुन्दर प्रतिपादन, शब्दों का सुन्दर चुनाव तथा उनकी अद्‌भुत व्यंजनाशक्ति, सामाजिक जीवन की युक्तियुक्त मार्मिक स्थितियाँ, चारित्रिक वर्णन में स्वाभाविकता तथा सामाजिक मूल्यों का सुमधुर तथा यथातथ्य चित्रण, भावों और अर्थों की उत्कृष्टता तथा उनका समष्टिगत निभाव, ये सब गुण लोकगीतों के साहित्य में इतने सुन्दर ढंग से निभाये गये हैं कि कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि ऐसी कृतियाँ लौकिक जीवन में बिना साहित्यिक ज्ञान के कैसे संभव हुई? इन सबके पीछे एकमात्र तत्त्व यही है कि इनकी निष्पत्ति मार्मिक स्वरों के साथ हुई है। स्वर–शब्द-संगति के पीछे किसी व्यक्ति, परिवार, प्रतिभा तथा क्षेत्रविशेष का हाथ नहीं। ये समष्टिगत कृतियाँ हैं, असंख्य जनसमुदाय की मिलीजुली योग्यता, अनुभूतियाँ, प्रतिभाएँ उनके पीछे छिपी हुई हैं, तभी यह सौन्दर्य संभव हुआ है। गीतों में शब्द के अनुरूप ही स्वर-संगति का चमत्कार यदि कहीं देखना है तो इन गीतों में ही देखा जा सकता है।

साधारणतः लोकगीतों की स्वर-रचना तथा शब्द-रचना में सौन्दर्य-सामञ्जस्य रहता है, परन्तु अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनमें इस तथ्य का निभाव पूरी तरह नहीं हुआ है। कुछ लोकगीत अपनी स्वर-रचना के लिये जाने गये

हैं तथा कुछ अपने साहित्यिक गुणों के कारण ही प्रचलित हुए हैं। अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनकी स्वररचना अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध है, परन्तु जिनका साहित्यिक पक्ष इतना निखरा हुआ नहीं है। ऐसे गीत स्वरप्रधान गीत हैं। इनका महत्त्व केवल उनकी सुमधुर धुनों के कारण ही है। ऐसे गीतों की प्रवृत्ति सदा ही शब्दों से मुक्ति पाने की होती है, जिससे स्वर अक्षुण्ण रह जाते हैं और शब्द मौका पाकर बदलते रहते हैं। परन्तु साहित्यिक गीतों में शब्द-तत्त्व कभी भी स्वर-तत्त्व से अलग होने की चेष्टा नहीं करते। वे सदा ही एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। एक स्वरप्रधान राजस्थानी लोकगीत स्वरलिपि सहित उद्धृत किया जाता है।

टिड्डी गीत

आवियो गाजे रे टीडू धरती धूजे रे
धूजे म्हारे टीडूए री पांख – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
आवियो बरसे धरती भीजे रे
भींजे म्हारा टीडूए री पांख – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
मोठ बाजरो सगळो ई खाग्यो रे
खाग्यो म्हारी हरयोड़ी जवार – टीडूआ रे लाल
काचरया ई खाग्यो म्हारा मतीरा ई खाग्यो रे
खाग्यो म्हारा सजना रो खेत – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल
म्हारोड़े खेत में फेर मती आजे रे टीडू
बोवा करूं रे जुवार – टीडूआ रे लाल
म्हारा टीडूआ रे लाल – टीडूआ रे लाल

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

ग	ग	–	म	ग	ग	सा	सा	–	सा	सा	–	सा	–
आ	वि	ऽ	यो	ऽ	गा	ऽ	जे	ऽ	रे	टी	ऽ	डू	ऽ
सा	म	–	म	–	म	ग	म	प	–	म	प	ग	–
ध	र	ऽ	ती	ऽ	ऽ	ऽ	धू	जे	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ

म	प	—	म	—	ग	—	म	प	—	म	—	ग	रे
धू	जे	ऽ	म्हा	ऽ	रे	ऽ	टी	डू	ऽ	ए	ऽ	री	ऽ
रे	म	ग	—	—	—	ग	ग	म	—	सा	म	ग	सा
थां	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	म	टी	डू	ऽ	था	ऽ	रे	ऽ
सा	—	सा	सा	—	सा	नी	सा	ग	—	म	प	ग	म
ला	ऽ	ख	म्हा	ऽ	रा	ऽ	टी	डू	ऽ	था	ऽ	रे	ऽ
म	नी	प	—	—	—	—	—	—	—	म	ग	सा	ग
ला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ग	म	—	—	—	—	—	—	—	—	ग	प	म	ग
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
सा	—	—	—	—	—	—	—	—	सा	सा	—	सा	नी
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	म्हा	ऽ	रा	ऽ
सा	ग	—	म	प	ग	म	पम	नीप	—	—	—	—	—
टी	डू	ऽ	था	ऽ	रे	ऽ	लाऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
प	—	—	म	ग	सा	ग	ग	म	—	—	—	म	—
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	ऽ
ग	म	—	सा	म	ग	सा	सा	—	—	—	—	सा	—
टी	डू	ऽ	था	ऽ	रे	ऽ	ला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	ऽ
×			२				०			३			

(शेष गीत भी इसी धुन में गावें।)

इस गीत में एक कृषक टिड्डियों से कहता है कि कृपा करके मेरे खेत में दुबारा पदार्पण नहीं करें, क्योंकि पहले भी मेरा भारी नुकसान हुआ है। इस अनुनययुक्त कथन की बार-बार आवृत्ति हुई है। समस्त गीत में शब्दों का

कोई महत्त्व नहीं है, न उनसे कोई काव्य की ही अभिव्यक्ति होती है, परन्तु स्वररचना इतनी मधुर और मार्मिक हुई है कि उसे सुनकर किसी का भी हृदय द्रवित हो सकता है। इस गीत में से यदि शब्दों का लोप भी हो जाय तो भी स्वर अपनी सुदृढ़ रचना के कारण अक्षुण्ण रह सकते हैं।

लोकगीतों का साहित्यिक पक्ष सरल, स्वाभाविक तथा साहित्यशास्त्र की पेचीदगियों से मुक्त होता है। उसको प्रौढ़ता और व्यंजकता प्रदान करनेवाला काव्यशास्त्र नहीं है, वह उसका स्वर-पक्ष ही है। कुछ लोकगीत तो ऐसे भी हैं, जो केवल धुन मात्र हैं। कुछ ही शब्द असंयत रूप से उनके साथ जुड़े हुए होते हैं। ऐसे गीतों की धुनें ही इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे स्वभाव से ही शब्द-शक्ति को अपने से दूर रखती हैं। शब्दों की वांछित शक्ति उन्हें अपने स्वरों से ही प्राप्त होती है। वे इस स्थिति की प्रतीक्षा में रहते हैं कि शेष शब्द भी उनसे सदा के लिये मुक्ति पा जावें; परन्तु विपरीत इसके गीतों का शब्दपक्ष सर्वदा ही स्वरों को पकड़े रहना चाहता है, क्योंकि जन-मानस भी उन गीतों को उनकी सुमधुर और प्रभावशाली धुनों के कारण ही पकड़े रहता है।

लोकगीतों के साहित्यिक पक्ष के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रृंगारिक और पारिवारिक गीतों का ही साहित्यपक्ष प्रबल होता है। मनुष्य में पारिवारिक भावनाएँ सर्वाधिक प्रबल होती हैं, वह प्रतिदिन उन्हीं में विचरता है और नाना प्रकार के कड़वे और मीठे अनुभव करता है; उनके प्रति उसकी ममता और वैयक्तिक भावना लिपटी रहती है। अपने दुःख-सुख, आनन्द-उल्लास की अभिव्यक्ति का वही एकमात्र साधन है। पारिवारिक जीवन के अनेक पहलुओं के बीच वह गुजरता है। पति-पत्नी, माता-पिता, ननद-भोजाई, प्रेमी-प्रेमिका आदि अनेक मधुर पारिवारिक संबंधों में वह गुथता है और परिवार की भूमिका में जीवन के अनेक अनुभव प्राप्त करता है। मानवी भावनाओं में डूबे हुए ये मधुर संबंध मनुष्य को विरह-मिलन, संयोग, मैत्री, स्नेह, प्रेम तथा ममता के अनेक क्षेत्रों में प्रवेश कराता है और वह इन जीवन-तत्त्वों से परिपूर्ण और भावनाओं से सराबोर अपनी अनुभूतियों के मोतियों को स्वरों के धागे में पिरोता है। ये अनुभूतियाँ धीरे-धीरे एक से अनेक की तथा व्यक्ति से समष्टि की अनुभूतियाँ बन जाती हैं और सुन्दर, श्रृंगारिक और पारिवारिक लोकगीतों में प्रकट होती है। इन सब वैविध्यपूर्ण और सारगर्भित अनुभूतियों को व्यक्त करने का सर्वाधिक प्रबल माध्यम शब्द

ही है। यहाँ स्वरशब्द की शक्ति को नहीं पहुँच सकता। यही कारण है कि पारिवारिक और शृंगारिक गीतों का साहित्यिक पक्ष प्रबल होता है। वे इसी पक्ष के कारण मनुष्य की अत्यन्त मूल्यवान धरोहर बने रहते हैं।

अन्य स्वरपक्षीय गीतों का संचरण परिवार के साथ संस्काररूप में परम्परागत परिजन के नाते उत्सव, त्योहार, विवाह, पर्व आदि के उपयोगार्थ होता है और समाज के साथ उनका संबंध समष्टिगत तथा सामुदायिक होता है। क्योंकि ये गीत सामाजिक और सामुदायिक धरातल पर विचरते हैं, तथा सहस्रों नर-नारी उन्हें एक साथ गाते हैं अतः उनका संचरणक्षेत्र बहुत बड़ा होता है तथा असंख्य जन-समुदाय की स्मृतियों में उनका सदा ही सजीव रहना आवश्यक होता है, इसीलिए वे शब्दों के बोझ से हल्के रहते हैं।

गीत के साहित्य तथा स्वरपक्ष की आदर्श संगति उसकी आदर्श स्थिति में सम्भव है, परन्तु यह अवस्थिति बहुत कठिन है। जहाँ शब्दपक्ष प्रबल होता है वहाँ स्वर को दबना ही पड़ता है और जहाँ स्वरपक्ष प्रबल होता है, वहाँ शब्दपक्ष को झुकना ही होता है। अतः लोकगीतों का स्वर-शब्द-संतुलन तभी कायम रह सकता है, जब उनके साथ कुछ संस्कारिक परम्पराएँ जुड़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी परिवर्तन अनधिकार चेष्टा और सामाजिक अपराध समझा जाता है। स्वरपक्षीय गीतों का संचरणक्षेत्र सर्वाधिक विशाल, उनका जीवन अधिक लम्बा तथा उनके सामाजिक तथा सामुदायिक गुण अधिक प्रबल होते हैं। साहित्यपक्षीय गीतों का संचरणक्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और वैयक्तिक और पारिवारिक दायरे में अधिक लिपटा रहता है।

लोकगीतों का रचनाकाल तथा स्थायित्व

किसी भी रचना की आयु का अनुमान बहुधा उसके रचयिता से लगाया जाता है, परन्तु जिस रचना के रचयिता का ही पता नहीं और जिसका कोई एक रचयिता नहीं, उसके रचनाकाल का कैसे पता लगाया जाय, यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि लोकगीत किसी एक रचनाकार की कृति के रूप में मान्यता प्राप्त है तो निश्चय ही उसे लोकगीत की गलत पदवी मिली है। लोकगीत समाज की धरोहर है। अनेक रचनाकारों की प्रतिभा के परिणाम-स्वरूप उसका स्फुरण होता है, अतः किस युग की छाप उस पर स्पष्ट है यह जानना बहुत ही कठिन है। एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी लोकगीत पर किसी कालविशेष की छाप अंकित नहीं रहती। कभी-कभी

अज्ञानवश कई महानुभाव यह कहते देखे गये हैं कि अमुक गीत पर डिंगल भाषा का प्रभाव है तथा अमुक पर प्राय: से ५० वर्ष पूर्व की ब्रजभाषा की छाप है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि अमुक लोकगीत हिन्दी का है और अमुक उर्दू का तथा अमुक गीत की रचनातिथि १०० वर्ष पहले की है।

उक्त सभी अटकलों के पीछे लोकगीत विषयक सैद्धान्तिक विश्लेषण की कमी है। सर्वप्रथम तो यह मान लेना चाहिये कि लोकगीत एक निर्मल निर्झर की तरह है, जो प्रतिपल बहता रहता है। उसमें अनेक छोटे बड़े झरने मिलते रहते हैं और उसके प्रवाह और गतिशीलता को कायम रखते हैं। यदि यह प्रक्रिया बन्द हो जावे तो लोकगीत की स्वाभाविक प्रकृति विकृत हो जाती है और वह लोकगीतों के दर्जे से गिर जाता है। किसी भी रचयिता के कंठ से उद्भावित हुआ गीत यदि समाज के कंठ पर उतरने की क्षमता रखता है तो वह तत्काल ही उस प्रक्रिया में संचरित होने लगता है, सहस्रों कंठों पर चढ़कर उसके स्वरों तथा अभिव्यंजनाओं में प्रांजलता और प्रौढ़ता का संचार होने लगता है और उस पर से रचयिता का व्यक्तित्व समाप्त होकर समस्त समाज का व्यक्तित्व अंकित हो जाता है। मूल रचयिता के गीत का स्वरूप उसी तरह का होता है, जिस तरह एक संकीर्ण कृषकाय निर्झर का अपने उद्गम स्थल पर होता है और बाद में जिसके साथ सहस्रों निर्झर मिलकर जिसे एक गंभीर तथा भीमकाय नदी का व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। किसी भी लोकगीत में यह प्रक्रिया शाश्वत रहती है। पार्थिव नदी भले ही अपने स्वरूप को अधिक समय तक कायम न रख सके, परन्तु लोकगीत अपने शाश्वत निर्झरी स्वरूप को नहीं छोड़ता। यदि कोई लोकगीत किसी कारणवश अपने इस स्वभाव को त्याग देता है तो निश्चय ही वह अपने दर्जे से गिर जाता है और धीरे-धीरे वह प्रचलन से बाहर होकर लुप्त भी हो जाता है। लोकगीतों की यह शाश्वत प्रक्रिया हजारों गीतों को जन्म देती है। उनमें से अनेक अपनी दुर्बलता के कारण आधे रास्ते चलकर बैठ जाते हैं, कुछ समाप्त हो जाते हैं, कुछ लड़खड़ाने लगते हैं और कुछ मेधावी तथा सशक्त गीत चल निकलते हैं और सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहते हैं।

इस विश्लेषण के अनुसार किसी भी सजीव लोकगीत की भाषा-शैली पुरानी नहीं पड़ती, न उसकी अभिव्यंजनाएँ, उसके विषय एवं संदर्भ ही पुराने पड़ते हैं, अत: किसी भी क्षेत्रीय भाषा के लोकगीत अपनी स्थलीय नवीनतम भाषाशैली में ही जीवित रहते हैं। उनकी भाषा की प्रकृति कभी पुरानी नहीं

पड़ती। यह बात दूसरी है कि किसी क्षेत्र के लोकगीत की भाषा उसी भाषा के सुदूर क्षेत्र के उसी लोकगीत की भाषा से भिन्न है, परन्तु एक ही क्षेत्र में प्रचलित उसी लोकगीत की भाषा की शैली नवीनतम भाषा-शैली के ही अनुरूप होगी। अन्यथा यह मान लेना चाहिए कि वह लोकगीत मृतप्राय हो चुका है और वह लोकगीतों के दर्जे से गिर गया है। वह केवल इतिहास के पन्नों में लिखने योग्य गीत है, जो अपनी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण अब लोकगीत नहीं रहा है।

सजीव लोकगीत समाज से सदैव प्रेरणा लेता रहता है। उसकी अभिव्यंजनाओं में सामाजिक अभिव्यंजनाओं के अनुरूप ही संशोधन होता रहता है, भाषा भी प्रचलन के अनुसार बदलती रहती है तथा स्वरों में सामाजिक भावनाओं के अनुरूप परिवर्तन, परिवर्धन होता रहता है। लोकगीत समाज के बदलते हुए स्वरूप का सच्चा दर्पण है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी लोकगीत को सुनकर हम इतिहास या अतीत का चित्र अंकित नहीं कर सकते। किसी ऐतिहासिक तथा धार्मिक व्यक्तिविशेष के गीतों के सैकड़ों संकलन हमारे साहित्य में हुए हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन का भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। राजस्थान का सच्चा इतिहास तो इन्हीं वीरगीतों तथा काव्य-ग्रन्थों से लिखा गया है। इसी तरह रामायण तथा महाभारत से तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का भली प्रकार अंदाज लगाया जा सकता है। परन्तु लोकगीतों से यह अंदाज नहीं लग सकता। व्यक्तिविशेष के गीत व्यक्ति के स्वयं के होते हैं। उनमें उसकी स्वयं की वे अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ व्यंजित रहती हैं, जिनमें उसका स्वयं का अपनत्व है। यह आवश्यक नहीं कि समाज उन्हें स्वीकार करे या उनके प्रति अपना ममत्व प्रकट करे। वे कृतियाँ ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। भाषा, भाव, शैली तथा अभिव्यंजनाओं की दृष्टि से रचयिता स्वयं ही उनके लिए उत्तरदायी है, समाज नहीं। यदि रचयिता बहुश्रुत, लोकप्रिय तथा लोकमानस का परम पारखी है तो उसकी कृतियों में समाज चित्रित होगा, परन्तु फिर भी उसकी रचनाएँ सामाजिक रचनाएँ नहीं हो सकतीं, उनमें संशोधन परिवर्धन भी एक तरह से सामाजिक अपराध ही समझा जायेगा, अतः उनका काल-निर्धारण बड़ी आसानी से हो सकता है। ये रचनाएँ नामांकित न भी हों और वे लोकरचनाओं में घुलमिल भी गई हों तो भी उनकी शैली, भाषा एवं स्वर-संयोजन की प्रकृति, भावाभिव्यंजना तथा विषय-प्रतिपादन

की परिपाटी से उनका काल-निर्धारण हो सकता है। परन्तु लोकरचनाओं के निरन्तर निर्झरी स्वभाव के कारण यह कार्य दुर्लभ ही नहीं असंभव भी है।

यहाँ तक भी देखा गया है कि कई वर्ष पूर्व रचित लोकगीत आज भी अपने नवीन रूप में विद्यमान है। उस गीत में कोई भी ऐसी बात नहीं जो उसे नवीनतम गीत का दर्जा नहीं देता हो। लोकगीत का दर्जा उसे इसीलिये प्राप्त है कि उसका प्रचलन अनेकों वर्षों से विस्तृत क्षेत्र में विशाल समाज द्वारा होता है और समाज ही अपने को उसका रचयिता मानकर उसे अपनी धरोहर समझता है। कभी-कभी लोकगीतों के ऐसे पुराने संस्करण भी मिल जाते हैं जो किसी की पुरानी पोथड़ी में लिखे हुए है या छिपे हुए हैं। उनमें ऐसे अनेक गीतों के पुरातन संस्करण भी उपलब्ध होते हैं जो नवीन संस्करणों से सर्वथा भिन्न हैं। वे गीत संगीत, साहित्य तथा समाज-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण गीत होते हैं और इस दिशा में कार्य करनेवालों के लिये अत्यन्त मूल्यवान सामग्री हैं। इन गीतों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से यह पता चल सकता है कि किन-किन महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं के बीच उसी गीत का आधुनिक संस्करण गुजरा है। मोटे-मोटे रूप में वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार होती हैं—

(१) स्वर-नियोजन की दृष्टि से पुरातन संस्करण अधिक सरल तथा न्यूनतम स्वरों में रचा हुआ होता है। आधुनिक संस्करण में स्वरों का चलन विस्तृत तथा उनके उतार-चढ़ाव अधिक तीव्र होते हैं।

(२) दोनों ही गीतों के मूल में धुन का प्रकार एक ही है। उनकी लय भी प्रायः समान ही होती है। पुरातन संस्करण की लय धीमी और नवीन संस्करण की तनिक तेज होती है।

(३) पुरातन संस्करण के लोकगीत में धुन प्रायः सामान्य होते हुए भी उसके लहजे बड़े विचित्र और प्रभावशाली होते हैं। आधुनिक संस्करण में वे लहजे प्रायः लुप्तप्राय से रहते हैं।

(४) शब्दों में परिवर्तन प्रायः कम ही होता है, क्योंकि लोकगीतों की प्रधानता उनके स्वरों में है तथा शब्दों से पूर्व ही स्वरों के प्रति लोक की ममता जागृत होती है। व्यक्ति से समष्टि की सामग्री बनने की प्रक्रिया के बीच स्वर शब्द से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। लोकगीतों का अपनाव भावमूलक होने से उनकी लय और धुन सर्वाधिक सामाजिक कसौटी

पर उतरती है और सामाजिक प्रक्रियाओं से लोकगीतों में जितना भी परिवर्तन होता है, वह अधिकांश धुनों में होता है। शब्द और उनकी व्यंजनाएँ भी बदलती हैं, परन्तु उनकी गति और सीमा अत्यंत न्यून होती है।

(५) पुरातन गीतों की शब्दावली और व्यंजनाएँ अधिक सरल होती हैं और उनके आधुनिक संस्करण में वे वैविध्यपूर्ण होती हैं।

उदाहरण के लिए राजस्थान के लोकगीत राजस्थानी भाषा में हैं। उनके क्षेत्रीय स्वरूप भी अलग-अलग क्षेत्र की राजस्थानी में हैं। जो प्रथम श्रेणी के लोकगीत हैं, जिनका प्रचलन अपने गेय गुणों के कारण समस्त राजस्थान में है, जैसे कुरं, घूमर, पनिहारी, गोरबन्द, मायरा, बधावा, ओलू आदि; उनकी मूलधुन वही होते हुए भी लय, गति तथा लहजों की दृष्टि से उनके क्षेत्रीय संस्करण काफी हद तक भिन्न हैं। द्वितीय श्रेणी के लोकगीत वे हैं जो समस्त राजस्थान में तो प्रचलित नहीं हैं, परन्तु राजस्थान के विस्तृत क्षेत्रों में बहुश्रुत और बहु प्रयुक्त हैं; उनमें भी मूलधुन में साम्य होते हुए भी लय तथा लहजों की दृष्टि से भिन्नता है। तृतीय श्रेणी के गीत वे हैं जो केवल क्षेत्रीय हैं, उनकी धुनें तथा भाषा भी क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त होती हैं। इन सभी प्रकार के गीतों से यही भली प्रकार ज्ञात होता है कि कम-ज्यादा करके सभी गीतों में भाषा की दृष्टि से नवीन भाषाशैली का प्रतिपादन हुआ है। जो भाषा आज लोक में प्रचलित है वही लोकगीत की भाषा है। चाहे वह गीत ३०० वर्ष पूर्व ही क्यों न रचा गया हो। गोस्वामी तुलसीदास के ४०० वर्ष पूर्व लिखे हुए अवधी भाषा के गीत भाषा की दृष्टि से आज की अवधी से बिल्कुल भिन्न हैं, परन्तु लोकगीत चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो वह सदा ही समाज के साथ-साथ चलता है, वह सभी परिवर्तन अपने में ऐसे समा लेता है कि उनका पता भी नहीं लग सकता। यही कारण है कि राजस्थान में डिंगल के लोकगीत आज ढूंढे भी नहीं मिल सकते। कारण स्पष्ट है, डिंगल आज लोकभाषा नहीं, अत: डिंगल के लोकगीत भी बदलते-बदलते आज की राजस्थानी में बदल गये हैं। गीतों की व्यंजनाएँ, धुनें प्राय: वही हैं परन्तु शब्द समय के साथ घिस-घिसकर रूपान्तरित हो गये हैं।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी अथवा खड़ीबोली में लोकगीत क्यों नहीं हैं ? खड़ीबोली अभी लोकभाषा का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है। उसकी आयु ही लगभग १०० वर्ष की है। लोकभाषा बनने के लिये

यह अवधि कुछ नहीं के बराबर है। जिन क्षेत्रों में खड़ीबोली लोकाचार की भाषा बन गई है, जैसे दिल्ली, मेरठ आदि वहाँ इस भाषा में लोकगीतों की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अभी तक उनका सामाजिक तथा लोकस्वरूप परिलक्षित नहीं हुआ। साधारणतः एक गीत को लोकगीत का दर्जा प्राप्त करने में डेढ़ सौ दो सौ वर्ष लगते हैं। जो लोकगीत सर्वसाधारण द्वारा गाये जाते हैं, वे ही लोकगीत हैं, यह बात ठीक नहीं है। उनकी अनेक कसौटियां हैं जो लोकजीवन में निहित रहती हैं। लोकगीत लोक के साथ संस्कारवत् जुड़े रहते हैं, उनके साथ उनका न केवल भावनात्मक बल्कि सामाजिक और धार्मिक गठ्बंधन भी रहता है। वे आसानी से उनसे छूटते नहीं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि ये लोकगीत सामाजिक प्रक्रियाएं हैं और समाज उन्हें परिजन के रूप में देखता है तो उनकी पहिचान कैसे की जानी चाहिये ? आज हजारों गीत विस्तृत क्षेत्रों में विशाल समुदाय द्वारा लम्बे समय से गाये जा रहे हैं। उनमें से सैकड़ों गीत ऐसे हैं, जो कुछ ही समय पूर्व रचे गये हैं। उनके रचयिताओं ने उनका यह विस्तार स्वयं अपने जीवनकाल में देखा है। फिर लोकगीतों की परिभाषा में वे गीत क्यों नहीं सम्मिलित होते ? सामान्य दृष्टि से यह बात ठीक मालूम पड़ती है। लोकगीतों का इतना दुर्व्यवहार लोकप्रियता के नाम पर इन दिनों हुआ है कि मौलिक और अमौलिक लोकगीतों के भ्रम में जनता भरमा गई है। अतः आज इस ओर निश्चय ही एक वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है।

लोकगीतों की उक्त कसौटियों के अलावा उनकी पहिचान के लिए कुछ विशिष्ट कसौटियां नीचे दी जाती हैं। ये ही कसौटियां ऐसी हैं जो लोकगीतों को स्थायित्व प्रदान करती हैं, उन्हें बहुश्रुत, बहुप्रयुक्त तथा सामाजिक धरोहर बनाती हैं।

लोकगीतों की रचना अनन्तकाल से हो रही है। सहस्रों गीत बनते हैं, सामाजिक स्तर को प्राप्त करते हैं और मिट भी जाते हैं। कुछ अल्प आयु के होते हैं, कुछ दीर्घायु होते हुए भी बहुश्रुत और बहुप्रयुक्त नहीं होते। लोकगीतों के स्थायित्व के लिये उनके ध्वनिजन्य तथा भावजन्य गुण तो विद्यमान होने ही चाहिए, परंतु उनका संस्कारगत लगाव उससे भी अधिक आवश्यक है। किसी भी परिवार में अच्छे-बुरे सभी तरह के बालक पैदा होते हैं। अच्छे तो अच्छे होते ही हैं, परंतु रूप और गुणहीन बालक भी संस्कारवत् मातापिता तथा परिजन से लगाव प्राप्त कर लेते हैं, जिससे उनके प्रति परिवार की स्वभावगत ममता हो जाती

है। यही संस्कारगत लगाव कभी-कभी साधारण कोटि के लोकगीतों को उच्च श्रेणी के लोकगीतों से भी कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्रदान कर देता है। ऐसे लोकगीत उनसे भी अधिक स्थायित्व प्राप्त करते हैं और उन्हें अपेक्षाकृत अधिक लम्बी आयु भी प्राप्त हो जाती है। ऐसे लोकगीतों की धुनें तथा उनके शब्द उन विषयों के साथ ऐसे रूढ़ हो जाते हैं कि प्रयोक्ताओं के साथ उनकी अगाढ़ ममता हो जाती है, जो छुड़ाये भी नहीं छूटती और कभी-कभी अन्ध-विश्वास की तरह उन पर छा जाती है।

ऐसे गीतों में सर्वाधिक स्थायित्व लिये हुए वे गीत हैं जो धार्मिक संस्कारों, विवाहों, उत्सवों तथा पर्वों के साथ जुड़े हुए हैं। जिस तरह संस्कार के साथ परम्परागत आस्था जम जाती है वैसे ही इन गीतों के साथ भी परम्परागत विश्वास बैठ जाता है। जिस तरह किसी धार्मिक गुरु या पुरोहित के बिना कोई संस्कार पूरा नहीं होता, वैसे ही इन अनुष्ठानिक गीतों के बिना भी वे संस्कार पूरे नहीं होते। ऐसे लोकगीत सैकड़ों वर्षों से स्थायित्व का बाना पहिनकर समाज में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इन गीतों में बहुधा उन्हीं धुनों की प्रधानता रहती है, जो सामूहिक रूप से जनसमुदाय द्वारा बिना अधिक प्रयास के गाई जा सकती हैं। ये गीत इन समारोहों के मांगलिक प्रतीक होते हैं।

दूसरी श्रेणी के लोकगीत वे हैं, जो जीवन के विशिष्ट मार्मिक प्रसंगों के साथ जुड़े हुए होते हैं। ये मार्मिक प्रसंग प्रेम, शृ गार, विरह, मिलन आदि के हैं, जिनकी मार्मिक अभिव्यक्ति लोकगीतों के माध्यम से ही होती है। ऐसे प्रसंग जीवन के सर्वाधिक प्रिय प्रसंग होते हैं, जिनके साथ मनुष्य का घनिष्ट लगाव होता है। इन्हीं प्रसंगों पर मनुष्य के जीवन का आनन्द और विषाद निहित रहता है। ऐसे प्रसंगों के लोकगीतों में युगानुयुग से चली आई मनुष्य के मूल स्वभाव की मनोरम अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं, जिनसे उसका मन गुदगुदाता रहता है और उन्हीं से वह जीवन का अमृत प्राप्त करता है। इन गीतों में अभिव्यक्त व्यंजनाएँ अनुकूल मार्मिक धुनों के सम्मिश्रण से मनुष्य के मन को गुदगुदाती हैं, उनमें संतोष और तुष्टि के भाव भरती हैं तथा उनका मनोविनोद करती हैं। इन गीतों में अभिव्यक्त व्यंजनाएँ शाश्वत होती हैं और समष्टि के सामान्य अनुभव की प्रतीक होने से सबके मन को भाती हैं। ये लोकगीत पति पत्नी, प्रेमी प्रेमिका, देवर भौजाई आदि के मधुर संबंधों से जुड़े रहते हैं और सैकड़ों वर्षों से लोकसाहित्य में क्षेत्रीय गीतों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इन

गीतों में शब्दों का अद्‌भुत माधुर्य और चातुर्य तथा साहित्य की अनुपम निधि है। उनके साथ धुनों का सौन्दर्य सोने में सुगन्ध का काम करता है।

तृतीय श्रेणी के गीत वे हैं, जो खेलकूद, हासविलास, विनोद, वात्सल्य तथा दैनिक पारिवारिक संबंधों से संबंधित हैं। ये गीत भी पारिवारिक जन की तरह ही परिवार के साथ लगे हुए होते हैं और जिनका प्रयोग तथा समय संस्कारवत्‌ ही होता रहता है। ये गीत भाईबहिन, मातापिता, ननदभौजाई, सासबहू के संबंधों से जुड़े रहते हैं। ये सभी गीत प्रसंगवश ही गाये जाते हैं। इनके स्थायित्व में भी कोई शंका नहीं है, क्योंकि वे भी जीवन के प्रमुख अंग बन गये हैं।

चतुर्थ श्रेणी के गीत वे हैं, जो मनुष्य के मन की मौज के साथ संबंधित हैं। उनका मनुष्य के साथ कोई संस्कारवत्‌ संबंध नहीं होता। वे गीत चाहे कितने ही सुन्दर और प्रौढ़ क्यों न हों, उनके स्थायित्व का कोई विश्वास नहीं। ऐसे गीत बुलबुले की तरह उठते हैं। समाज अपनाता है और त्यागता है, उनका कोई स्थायित्व नहीं बन पाता। अतः यह निश्चित है कि प्रत्येक लोकगीत को स्थायित्व प्राप्त करने के लिये समाज के साथ संस्कारवत्‌ जुड़ जाना पड़ता है।

२

लोकनृत्य

लोकनृत्य

लोकगीत व्यक्ति विशेष के किसी भावात्मक क्षण में गुनगुनाहट के रूप में उद्भासित होकर शब्दों के मेल से वैयक्तिक गीत बनता है, तथा बाद में अपनी लोकप्रियता के कारण वह सामाजिक स्वरूप प्राप्त करके लोकगीत में विकसित होता है। ठीक विपरीत इसके लोकनृत्य व्यक्ति की देन नहीं होकर समष्टि ही की उपज है। अनादिकाल से मनुष्य अपने आनन्द मंगल के समय अंगभंगिमाओं का जो अनियोजित प्रदर्शन करता आ रहा है, वही धीरे-धीरे समष्टि के रूप में आयोजन-नियोजन द्वारा लोकनृत्यों का स्वरूप धारण करने लगा। जैसे-जैसे नृत्य अपनी आदिम अवस्था से निकलकर उन्नत और सभ्य समाज का शृंगार बनने लगा वैसे-वैसे उसके साथ गीत, नाट्य आदि भी जुड़ने लगे और व्यवस्थित नृत्यनाट्य तथा गीतनाट्य का भी प्रादुर्भाव होने लगा। साधारणतः सभी मानव को नाचने गाने का अधिकार होता है और वे आनन्द और उल्लास के समय भाँति-भाँति की शारीरिक क्रियाओं की सृष्टि करते हैं; परंतु वे ही क्रियाएँ लोकनृत्यों का स्वरूप प्राप्त करती हैं, जिनमें सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्वों की प्रधानता होती है, तथा जिनका व्यवहार और प्रचारक्षेत्र व्यापक होता है। ऐसे ही नृत्य सामाजिक दृष्टि से अधिक से अधिक प्रयोग में आने लगते हैं। प्रत्येक प्रयोक्ता उनमें अपनी प्रतिभा का परिचय देता है तथा उनकी विविध सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण उनमें निरन्तर संशोधन परिवर्तन होने लगते हैं। ऐसे नृत्य उनके उद्भवकाल से ही सामूहिक होते हैं, तथा मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और उसके सामूहिक उल्लास के समय ही उनकी सृष्टि होती है। व्यक्ति अकेले में चाहे कितना ही भावविह्वल हो उसके सामने कितनी ही प्रेरणामूलक तथा उद्दीपनकारी स्थितियाँ हों, स्वभावतः उसके अंग नृत्यमयी मुद्राओं में चलायमान नहीं होते। यदि कभी हो भी जाते हैं तो वह उसकी अस्वाभाविक स्थिति के ही द्योतक होते हैं। प्रेरणामूलक रचनाकारी स्थितियाँ सामूहिक रूप में ही उद्भासित होती हैं तथा किसी एक को प्रेरित देखकर समूह के सभी प्रेरित हो जाते हैं, और भावोद्वेग के कारण उनके अंग-प्रत्यंग किसी विशिष्ट गीत पर सामान्य रूप से अनायास ही चलायमान हो जाते हैं।

मनुष्य की प्रकृति, स्वभाव से ही अनुकरणमूलक होती है, अतः ऐसे नृत्य जो प्रारंभ से ही सामूहिक आनन्द के स्रोत होते हैं, समाज की अमूल्य

धरोहर बन जाते हैं। धीरे-धीरे उनका प्रयोग विशद रूप से उत्सव, समारोह तथा पर्वों के संबंध में होने लगता है, तथा निरन्तर प्रयोग और अभ्यास से वे सरल से कठिन बनते जाते हैं। वे नृत्य प्रारम्भ में समस्त शरीर की अनियोजित क्रियाओं में निहित रहते हैं, तथा काफ़ी लम्बे समय तक उनमें व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करता रहता है। समूह में नृत्य करते हुए भी उसको अपनी अंगभंगिमाओं में परिवर्तन करने की काफी छूट रहती है। धीरे-धीरे निरंतर प्रयोग और अभ्यास से ये क्रियाएँ मर्यादित होती रहती हैं, और उनका टकसाली स्वरूप मुखरित होता है। नृत्यों को नियोजित करने तथा उन्हें निश्चित स्वरूप देनेवाला सर्वप्रथम मनुष्य का हाथ होता है, जो पाँवों को सर्वाधिक योग प्रदान करता है। नृत्य करते समय सामूहिक अंगभंगिमाओं के साथ क्रियाशील होनेवाले ये ही पाँव प्रारम्भिक चापों के साथ लड़खड़ाते-लड़खड़ाते ठोस कदम भरने लगते हैं, तथा किसी निश्चित लय पर नियोजित रूप से आगे बढ़ते हैं। उस समय तक कमर से ऊपर का भाग अपनी भंगिमाओं में पूर्णरूप से आज़ाद रहता है। ये ही पद सामूहिक नृत्य के समय अन्य सभी पदों के साथ क़दम से क़दम भरते हैं, तथा सामान्य रूप से संचरित होते हैं। पाँवों के ठोस संचालन के बाद ही शरीर के अन्य अंग अपनी संभाल स्वयं कर सकते हैं। उस समय हाथ ही सर्वाधिक क्रियाशील रहता है और अन्य अंगों को समन्वित करने में योग प्रदान करता है। कमर, स्कंध, ग्रीवा आदि का नियोजन सबसे बाद में होता है और समस्त नृत्य, जब विकास के उच्चतम स्तर पर पहुँच जाते हैं तभी वे विविध सुन्दर स्वरूप प्राप्त करते हैं और हाथों और पाँवों के साथ अपना कलात्मक और सजीव संबंध स्थापित करते हैं। अंगभंगिमाओं का यही सुन्दर और समन्वित स्वरूप नृत्यमुद्राओं की सृष्टि करता है, जिन्हें शास्त्रकार बाद में अनेक भेद-उपभेदों तथा प्रकारों में बांधकर शास्त्रीय नृत्य का स्वरूप प्रदान करते हैं।

लोकनृत्यों की अंतिम विकास-सीढ़ी उनके साथ स्वरों तथा शब्दों का संयोजन है। इससे पूर्व की स्थिति उनकी प्रारम्भिक और प्राथमिक स्थिति ही मानी जाती है। उनको अपना सामाजिक स्वरूप भी स्वरों एवं शब्दों के योग से ही प्राप्त होता है, उससे पूर्व की स्थिति समूहविशेष की प्रतिभा का ही परिणाम होता है। इन प्रारम्भिक समूह के नृत्यों में समरसता तथा समरूपता का नितान्त अभाव रहता है। उनके साथ जब गीत जुड़ने लगते हैं तथा स्वर-शब्दों का योग होता है, तो ये छोटे-छोटे समूह एक दूसरे में मिलने लग जाते हैं तथा सभी छिटपुट नृत्य-प्रयोग सामूहिक प्रयोग बनकर समस्त समाज की

धरोहर बन जाते हैं। कई ऐसे भी छिटपुट नृत्य-प्रचलन होते हैं, जो अपनी सामंजस्यशक्ति के दरवाजे बन्द रखते हैं। परन्तु वे जो समस्त जनसमुदाय की श्रद्धा और अभिरुचि को अपनी ओर खींचने में समर्थ होते हैं वे अमर हो जाते हैं। वे मनुष्य के सुख दुःख के साथ जुड़ जाते हैं तथा उनके विश्वासों एवं धार्मिक अनुष्ठानों के अंग बनकर उनके जीवन के भी अंग बन जाते हैं।

जब ये नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय हो जाते हैं, तो उनमें लोग नानाप्रकार की आज़ादी लेने लगते हैं और उन्हें क्लिष्ट बनाने की चेष्टा करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे लोकनृत्यों की परिधि से हटने लगते हैं और उनका प्रचारक्षेत्र कम होने लगता है, अतः सामाजिक शक्ति इस बात की कोशिश करती है कि ये नृत्य अधिक क्लिष्ट न बनें। कुछ नृत्यप्रवर उन्हें क्लिष्ट बनाने की चेष्टा भी करते हैं और उन्हें सामाजिक क्षेत्र से वैयक्तिक स्तर तक पहुँचाने की चेष्टा में वे उनके लोकतत्त्वों को भी खो बैठते हैं।

नृत्यों के साथ गीतों का समन्वय

लोकनृत्य जैसे प्रारंभ से ही एक सामाजिक क्रिया है, उसी तरह उनके साथ जुड़नेवाले गीत भी सामाजिक क्रिया ही हैं। स्वतन्त्र लोकगीत की उत्पत्ति जिस प्रक्रिया से शासित होती है, उससे ये नृत्य के साथ जुड़नेवाले गीत शासित नहीं होते। लय और शब्दहीन धुनों के साथ बँधी हुई उल्लासमयी अंगभंगिमाएँ नर्तकों में स्वभाव से ही गीतों की सृष्टि करती हैं और नृत्य को स्थायित्व प्रदान करती हैं। ये सब प्रक्रियाएँ संस्कार तथा अद्‌भावत्‌ ही होती हैं, प्रयास से नहीं। गीतनृत्यों के ये सुखद संसर्ग धीरे-धीरे परिमार्जित होते रहते हैं और नृत्य के अभिन्न अंग बन जाते हैं। उन्हें अलग कर देने से गीत गीत नहीं रहता और नृत्य नृत्य नहीं रहता। दोनों ही एक दूसरे के बिना अधूरे तथा अपरिपक्व रह जाते हैं।

यहाँ एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि जब गीत सामाजिक मानस के उच्चस्तरीय धरातल के कारण क्लिष्ट बनने लगता है तो उसके साथ जुड़ा हुआ नृत्य, स्वभाव से ही सरलता की ओर प्रवृत्त होता है। इसी तरह जब नृत्य क्लिष्ट बनने लगता है तो उसके साथ जुड़ा हुआ गीत सरलता की ओर झुकता है। यह क्रम इन लोकनृत्यों में उनके जीवनकाल तक चलता रहता है। इन प्रक्रियाओं में जब संतुलन बना रहता है तभी तक नृत्य की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी है। यह संतुलन बिगड़ा और नृत्य भी रसातल तक पहुँचा समझिये। नृत्य जब क्लिष्ट होने लगता है तो उसके साथ

लगा हुआ गीत डगमगाने लगता है तथा उसका साथ छोड़ने या मौन रहने की चेष्टा करता है, इसी तरह गीत जब क्लिष्ट होने लगता है तो नृत्य डगमगाने लगता है और दोनों का पारस्परिक संबंध टूट जाता है। इसके साथ एक प्रक्रिया और विशेष उल्लेखनीय है। जब ऐसे नृत्यों का प्रचार और व्यवहार-क्षेत्र बढ़ जाता है और उनके प्रयोक्ताओं की संख्या में वृद्धि होती है तो नृत्य की स्वाभाविक चेष्टा सरलीकरण की ओर ही रहती है और जब उसका व्यवहार और प्रचारक्षेत्र घटकर कुछ ही प्रयोक्ताओं तक सीमित रहता है तो यह निश्चित ही समझ लेना चाहिये कि नृत्य क्लिष्ट से क्लिष्टतर बन गया है।

नृत्य की क्लिष्टता और उसकी भंगिमा-वैविध्य में बहुत अन्तर है। नृत्य जब सामाजिक स्थिति से बाहर निकलकर वैयक्तिक दायरे में प्रवेश करता है, तथा किसी व्यक्तिविशेष की प्रतिभा की अभिव्यक्ति बनता है, तो वह भंगिमाओं के जंजाल में फँसकर क्लिष्ट बनता जाता है और अपने सामाजिक गुणों को खोने लगता है, परन्तु नृत्य जब सामाजिक आनन्द और उल्लास का माध्यम बनता है तो उसमें भंगिमाओं के वैविध्य का लालित्य निखरता है, प्रत्येक व्यक्ति आनन्द-विभोर होकर नवीन भंगिमाओं का संचार करता है और अन्य नृत्य-सहयोगी उनमें अपनी प्रतिभा से चार चाँद लगाते हैं। परिणाम यह होता है कि सरल उछलकूद तथा अंगभंगिमाओं से प्रारम्भ हुआ नृत्य अनेक मुद्राओं और भंगिमाओं से सम्पन्न बनता है और उसका सौन्दर्यपक्ष अधिकाधिक आकर्षक होता है। ऐसे नृत्य जब आनन्द और उल्लास के दायरे से निकलकर केवल धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ संस्कारवत् जुड़ जाते हैं, तो वे अपना वैविध्य खो देते हैं और केवल लययुक्त उछलकूद मात्र रह जाते हैं। यह धार्मिक तत्त्व विशिष्ट समाज, व्यक्ति तथा संप्रदाय के हितचिन्तन से बाहर निकलकर समष्टिगत हितचिन्तन का स्वरूप धारण कर लेता है। ये नृत्य पुनः धार्मिक और वैयक्तिक दायरे से बाहर निकलकर समष्टिगत दायरे में पहुँच जाते हैं और उनमें पुनः निखार आने लगता है। ऐसे नृत्य राष्ट्रीय पर्वों, मेलों, उत्सवों, त्यौहारों तथा सामाजिक अनुष्ठानों में प्रचुरता से देखे जा सकते हैं। सदियों के व्यवहार से उनमें एक प्रकार का ऐसा टकसालीपन आगया है कि सर्वत्र ऐसे अनुष्ठानों के समय नाचेजानेवाले लगभग सभी नृत्य एकसे लगते हैं। उनमें मुद्राएँ तथा भावभंगिमाएँ कदाचित् ही उनके साथ जुड़ी हुई हैं। कोई भी व्यक्ति उनमें स्वतन्त्रता नहीं ले सकता। यही कारण है कि ऐसे अनुष्ठानिक नृत्य सदियों से वहीं के वही रहते हैं। उनकी मुद्राओं, पदचाप, गीत, स्वर-रचनाओं आदि में विशेष परिवर्तन नहीं होता, परन्तु विपरीत इसके

विशुद्ध आनन्दोल्लास के लिए नाचेजानेवाले नृत्य प्रतिपल अपनी सौन्दर्यनिधि को बढ़ाते जाते हैं, उनके बाह्य सौन्दर्य के साथ ही उनका आंतरिक सौन्दर्य भी उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है। ऐसे नृत्यों के साथ जुड़े हुए गीत भी अत्यधिक मधुर और मर्मस्पर्शी होते हैं। ये ही उल्लासकारी नृत्य आगे जाकर शास्त्रीय नृत्यों की परिधि में प्रवेश करते हैं। इन नृत्यों का भावपक्ष प्रबल होता है तथा आनन्दोल्लास की स्थिति में प्रत्येक नर्तक अपनी सृजनात्मक शक्ति का अनजाने ही परिचय देने लगता है तथा नवीनतम भंगिमाओं की सृष्टि करता है। ये नृत्य इस ढंग से परिवर्तन को स्वीकार करते हैं कि सैकड़ों वर्षों की उनकी आयु होते हुए भी प्रत्येक नर्तक उनमें नवीनता का अनुभव करता है। प्रतिक्षण उनमें परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनकी मूल पृष्ठभूमि प्राचीन ही रहती है। इन नृत्यों में प्रवेश पाने के लिये किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र तथा देश की मर्यादा बाधक नहीं बनती और प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय को अपना-अपना योगदान देने का समान अधिकार होता है।

नृत्यनाट्य की पृष्ठभूमि

सहस्रों वर्ष पूर्व नृत्य और गीत जब पूर्णरूप से समन्वित हो गये तब नाट्य की कल्पना साकार हुई। नाट्य कभी भी स्वतन्त्ररूप से विकसित नहीं हुआ। जब मनुष्य को अपने पूर्वजों तथा विगत चमत्कारिक पुरुषों के सुकृत्यों के अनुकरण की आवश्यकता हुई तब उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर सर्व-प्रथम गीत रचे गये, तत्पश्चात् उनके साथ उपयुक्त नृत्यमुद्राएँ जोड़ दी गईं। ऐसे ही नृत्यनाट्य सामुदायिक तथा सामाजिक रूप से अभिनीत होते थे, जिनमें गीतों का अंश प्रधान तथा नृत्य-संचालन गौण था। इस समय तक जमीन से उठे हुए रंगमंच की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी, न इन नाट्यों में नाट्य के सभी तत्त्व विकसित हुए थे। संवाद केवल गीतों ही में गाये जाते थे, जिनकी समाप्ति पर पदचाप द्वारा नृत्य होता था, जो गीत-संवादों को प्रभाव शाली बनाने में सहायक होते थे। इस समय तक भावभंगिमाओं तथा आंगिक मुद्राओं द्वारा मूक भाषा में संवाद कहने की प्रणाली भी प्रारम्भ नहीं हुई थी। ये नृत्यनाट्य बहुधा धार्मिक अनुष्ठानों, सांस्कृतिक पर्वों तथा पूर्वजों के स्मृति-दिवसों से संबंधित रहते थे। इन नाट्यों के नृत्य अत्यधिक शक्तिशाली तथा द्रुत गति में होते थे तथा नाट्य-तत्त्वों को उद्दीप्त करते थे। इन नाट्यों के प्रदर्शक और दर्शक एक ही होते थे, उनकी पृथक् अवस्थिति नहीं थी, वे सभी स्वान्तःसुखाय थे। प्रदर्शन तथा दिखावे के लिए नृत्य तथा नाट्य करने की

प्रवृत्ति बहुत बाद की है। वैदिककाल में इन सभी स्वरूपों का व्यवस्थीकरण प्रारम्भ हुआ। ऐसा सामवेद तथा ऋग्वेद की ऋचाओं से ज्ञात होता है। व्यवस्थित संवाद तथा गीतों की प्रथा इस युग में पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थी। यही ऐसा समय था जब कि समाज में वर्णव्यवस्था के अंकुर लगने प्रारंभ हो गये थे तथा सामाजिक भावना से ओतप्रोत होकर मनुष्य अपने जीवन को सजाने-सँवारने लगा था।

मनुष्य के जीवन में उस समय भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठापन होगया था। नृत्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीतों में भी भाषा की दृष्टि से निखार आया और नृत्य की भावभंगिमाएँ भी परिस्फुटित होने लगीं। समाज के विकास के साथ ही मनुष्य की बुद्धि प्रखर होने लगी तथा भावों का परिष्करण होने लगा। उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष, रहनसहन, खानपान, निवास, पारस्परिक संबंध तथा सामाजिक आदानप्रदान में प्रौढ़ता आने लगी। मनुष्य अपने सजाव शृंगार की तरफ भी अधिक ध्यान देने लगा। जीवन के आनन्द के लिए भी वैदिककालीन 'समज्जा' आदि सांस्कृतिक मेलों का आयोजन होने लगा, जिनमें स्त्री पुरुष मिलते, नाचते, गाते और वैवाहिक सम्बन्धों में जुड़ जाते थे। उनके पारस्परिक आकर्षण के लिए इन नृत्यों में नानाप्रकार की सजाव-शृंगार की प्रवृत्ति जाग उठी। उनके हृदय में हर्ष और उल्लास था, अपने आपको सजाने-सँवारने में एक प्रकार से होड़ सी लगी हुई थी। उसी उन्माद और उल्लास के वातावरण में शरदोत्सव, बसन्तोत्सव, ग्रीष्मोत्सव तथा पावसोत्सव मनाने की चेष्टा जागृत हुई। प्रकृति भी उनके उल्लास में साथ देती थी। मानव भी मलय-समीर से आह्लादित होता था, कोयल के मधुर कंठ के साथ अपना सुर मिलाता था, दामिनि-दमक और मेघ-गर्जन पर किलोलें करने लगता था, तथा बसंत की बहार में स्वयं मुखरित होता था। ऐसे ही समय मेले, सांस्कृतिक पर्व तथा समज्जाओं के लिये उपयुक्त वातावरण उपस्थित होता था और मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अपने सौन्दर्य की होड़ लगाता था। इसी मादक उन्माद में वह नाचता गाता था, स्वतः ही उसकी भावभंगिमाएँ मुखर उठती थीं और नानाप्रकार के भाव विभावों को जन्म देती थीं। नृत्य अब केवल आंगिक सौन्दर्य का ही माध्यम नहीं रहा, वह मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का भी प्रबल माध्यम बन गया। केवल उछलकूद और पदसंचालन मात्र से उद्भासित हुआ नृत्य आंगिक उभार तथा नानाप्रकार की अंगभंगिमाओं में विकसित हुआ, तदुपरान्त चेहरे की

भाव-मुद्राओं में अद्वितीय उभार आया। इस तरह नृत्य के सर्वाङ्गीण स्वरूप के अंकुर परिस्फुटित होने लगे।

इन भाव-मुद्राओं में जो सर्वाधिक प्रकट होनेवाली मुद्रा परिस्फुटित हुई, वह स्त्री को पुरुष की ओर तथा पुरुष को स्त्री की ओर आकर्षित करनेवाली भाव-मुद्रा थी। स्त्रियों के नृत्य लास्यप्रधान थे और पुरुषों के नृत्य शौर्य और वीरत्वप्रधान। इस प्रकार ये नृत्य लाज, लज्जा, शृंगार, धार्मिक तथा सात्विक मुद्राओं की दृष्टि से संपन्नता तथा वैविध्य को प्राप्त करने लगे। इनके साथ नाना प्रकार के भावमय गीतों तथा मधुर स्वर-लहरियों के सम्मिश्रण से ये गीत-नृत्य समाज की सांस्कृतिक एवं रागात्मक चेष्टाओं के महान् प्रतीक बन गये।

नृत्यों के विकास के इसी स्तर पर ही गीतिनाट्यों की परम्परा परिस्फुटित हुई, जिसमें स्त्री-पुरुष पारस्परिक गीत-संवादों में प्रवृत्त होते थे। स्त्रियाँ गीतों में प्रश्न करती थीं और पुरुष उनका गीतों ही में जवाब देते थे। ये गीतिनाट्य बहुधा शृंगारिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित रहते थे। इन गीत-संवादों में यद्यपि गीतों की ही प्रधानता रहती थी, परन्तु नृत्यमुद्राएँ भी विविध अनौपचारिक अंगभंगिमाओं में परिस्फुटित होती थीं। मानवीय विकास के सैकड़ों वर्ष तक इसी तरह नृत्य, गीत आदि विकसित होते रहे और उनके नाना रूप जैसे आनुष्ठानिकनृत्य, पूजानृत्य, भावनृत्य, उल्लासनृत्य, फसलनृत्य, विवाहनृत्य, बसंतनृत्य, वर्षारंभनृत्य तथा अनेक मांगलिक प्रसंगों के नृत्यों के रूप में मानवजीवन को परिस्फुटित करते रहे। इनके साथ सहस्रों गीतों की सृष्टि हुई, नाना प्रकार की धुनों ने जन्म लिया तथा सार्वजनिक लोक-साहित्य के सृजन में एक शक्तिशाली परम्परा प्रतिष्ठापित हुई।

शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव

लोकसंगीत की तरह ही शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव भी लोकनृत्य से ही हुआ। जिस तरह लोकसंगीत की मूल स्वर-रचनाओं से राग-रागिनियों की प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय संगीत की सृष्टि की, उसी तरह लोकनृत्यों की मूल धार्मिक मुद्राओं तथा भावमुद्राओं से प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय नृत्य को जन्म दिया। शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य के विकसित रूप की तरह सम्मुख नहीं आया और न लोकनृत्य ही उसका अविकसित रूप बना। दोनों ने ही अपनी पृथक्-पृथक् दिशाएँ ग्रहण कीं। शास्त्रीय नृत्य ने अपनी प्रेरणाएँ लोकनृत्यों से प्राप्त करके अपना विकास-क्षेत्र अलग ही बनाया,

परन्तु लोकनृत्य का विकसित स्वरूप बनने का दंभ उसने कभी नहीं भरा। इस विशिष्ट लोकशैली के नृत्य को स्थान, समय तथा स्थिति के अनुसार शास्त्रकारों ने अनेक नियमों-उपनियमों से बांध दिया। पद-संचालन की अनेक कठिन कल्पनाएँ इसमें साकार हुईं। अंगभंगिमाओं तथा मुखाकृतियों में अभिव्यक्त नाना प्रकार की भावमुद्राओं का एक अत्यन्त उलझा हुआ स्वरूप सामने आया। इन्हीं नाना प्रकार की विधाओं को लेकर शास्त्रकारों ने अनेक शास्त्र लिख डाले, जिनमें भरतमुनिकृत भरतनाट्य शास्त्र सर्वोपरि है। इसमें नृत्य तथा नाट्य के नाना स्वरूपों का निरूपण हुआ है।

नृत्य के साथ जुड़े हुए इस विषद शास्त्र के पीछे लोकनृत्य ही की प्रेरणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह सामाजिक धरोहर के रूप में विकसित हुआ है। लोकगीतों की तरह ही एक अत्यन्त परिपुष्ट परंपरा के रूप में उसका एक अलिखित शास्त्र है, जो समाज के बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुरूप ही अविकसित, विकसित, अतिविकसित तथा अतिसंस्कृत लोकनृत्यों की परम्परा के रूप में आज भी जीवित है। जबतक मनुष्य का भावात्मक एवं लौकिक पक्ष अक्षुण्ण बना रहेगा तबतक लोकनृत्यों का यह विकासक्रम भी निश्चित परम्पराओं में बँधता चला जावेगा। शास्त्रीय नृत्य विशिष्ट कला-आचार्यों की उपज है तथा समाज के विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है। स्थान, समय तथा प्रयोक्ताओं की विशिष्ट कल्पनाओं के साथ उसका विकास जुड़ा रहता है। भारतीय लोकनृत्य जिस तरह सामाजिक भावना, सामुदायिक आनन्द तथा सांस्कृतिक प्रसंगों से जुड़े रहते हैं तथा जिस तरह उन पर समष्टिगत अभिव्यक्ति की छाप अंकित रहती है, ठीक विपरीत उसके शास्त्रीय नृत्य वैयक्तिक आधार पर सृजित तथा विकसित होते हैं। व्यक्ति ही उसे चरम सीमा तक पहुँचाता है तथा उसकी प्रतिभा का ही उसमें अंकन होता है। शास्त्रीय नृत्य शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार रचे जाते हैं, जबकि लोकनृत्य स्वनिर्मित होते हैं तथा सामूहिक भावनाओं के अनुरूप ही उनका रूप निर्धारित होता है।

शास्त्रीय नृत्य की मुद्राओं का प्रेरक लोकनृत्य

जिस तरह शास्त्रीय संगीत की रागों का उद्गमस्थल लोकसंगीत है, उसी तरह शास्त्रीय नृत्य की समस्त परम्पराएँ लोकनृत्यों से प्राप्त हुई है। लोकनृत्य जब सामाजिक पृष्ठभूमि में आयहृत होते हैं तो अनेक मुद्राएँ स्वभाव से ही नर्तक के अंग में समा जाती हैं। हर्ष, उल्लास, कारुण्य, उत्साह, वीरत्व तथा शौर्य के भाव चेहरे पर व्यक्त होते हैं, उनके साथ ही ग्रीवा, स्कंध, कटि,

जंघा आदि की विशिष्ट मुद्राएँ नर्तकों के अंग-प्रत्यंग में प्रकट होती हैं, जो किसी विशिष्ट भावभूमि के प्रसंग ही में जन्म लेती हैं। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे परिष्कृत होती रहती हैं, जिनकी जानकारी नर्तकों को नहीं होती। इनमें से अधिकांश मुद्राएँ लय, ताल, स्वर के क्रम से भावोद्रेक के विशिष्ट क्षणों में बनती हैं और अंगभंगिमाओं के माध्यम से नृत्य को सौन्दर्य प्रदान करती हैं। लोकनृत्यों के संदर्भ में इन मुद्राओं का तात्पर्य केवल नृत्य को सुन्दर बनाना है और उनकी सामाजिक भूमिका में व्यक्ति के कलात्मक उत्कर्ष को दर्शाना है। ये मुद्राएँ नाचते समय हाथ के विविध कलात्मक मोड़-तोड़ में, ग्रीवा के लय-बद्ध संचालन में तथा नयनों के विविध भावात्मक कटाक्षों में अन्तर्हित रहती हैं। ये मुद्राएँ जब स्त्री-पुरुष के सम्मिलित नृत्य में विविध भावात्मक स्थितियों के कारण प्रोत्साहित होती हैं तब इनके सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। नाचते समय स्त्री-पुरुष के पारस्परिक स्पर्श से वह नृत्य उद्दीप्त होता है, तथा इनके विविध मोड़-तोड़ तथा मरोड़ों में निखार आता है। यही बात क्रिया-समन्वित नृत्यों में परिलक्षित होती है।

नृत्यनाट्यों में ये मुद्राएँ अपने विकसित रूप में परिलक्षित होती हैं। गीत-संवादों को व्यक्त करते समय अभिनेता के अंग-प्रत्यंग अनायास ही संवादों के अर्थों के साथ चलने लगते हैं। एक ही प्रसंग की अभिव्यक्ति में नाना प्रकार के पात्र इन अनियोजित तथा तात्कालिक भावोद्रेक की मुद्राओं का प्रयोग करते हैं। अतः एक ही मुद्रा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे निरंतर प्रयोग से परिष्कृत होती जाती हैं। साधारण जीवन में भी किसी को बुलाने, बिठाने, खिलाने, रुलाने, हँसाने, सुलाने, नचाने, गवाने तथा स्वागत-सत्कार, पूजापाठ करने आदि में स्वभावगत ही विविध मुद्राओं का प्रयोग होता है। वे भी निरंतर अभ्यास से धीरे-धीरे स्पष्ट होती जाती हैं। जो मुद्राएँ काफी लम्बे समय से इस तरह व्यवहार में आती हैं, वे ही एक तरह से नृत्यकारों के लिए परम्परा बन जाती हैं और जब शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य से प्रेरणा प्राप्त करता है तो सर्वप्रथम ये ही मुद्राएँ उसे सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। शास्त्रकारों ने लोकनृत्यों की इन्हीं स्वाभाविक हस्तमुद्राओं तथा अंग-संचालन के विविध प्रकारों को अपनी आधारशिला बनाकर अनेक नवीन मुद्राओं का सृजन किया है। ये ही मुद्राएँ बाद में शास्त्रीय नृत्यों की रीढ़ बन गई हैं। नृत्यों की ये लोकमुद्राएँ कुछ शास्त्रीय नृत्यों में तो लोकपक्ष से बहुत ही दूर हो गई हैं और कुछ में ये अपने लोकपक्ष को काफ़ी अंश में बनाये हुए हैं। ऐसे नृत्यों में मणिपुर का मणिपुरी नृत्य विशेष उल्लेखनीय है। यह नृत्य

शास्त्रीय नृत्य में शुमार होते हुए भी लोकनृत्यों के सभी सामाजिक गुणों से युक्त है। विकास की चरम सीमा तक पहुँचे हुए भरतनाट्यम, कथकली और कत्थक जैसे शास्त्रीय नृत्य इतने अधिक शास्त्रीय बन गये और इनका तालतन्त्र इतना जटिल बन गया कि इन्होंने अपना लोकपक्ष प्रायः खो ही दिया है। वे इतने क्लिष्ट बन गये कि स्वयं इनके प्रयोक्ता भी इनके महत्त्व को नहीं समझते। ये नृत्य न केवल अपने सामुदायिक तथा सामाजिक लोकधर्म को भूल गये वरन् इनका व्यवहारक्षेत्र भी कुछ ही पंडितों, कलाविदों तथा विशेषज्ञों तक सीमित हो गया। उन पर अनेक शास्त्र भी रचे गये, जिनका क्रम ईसा पूर्व ५०० वर्ष से शुरू होकर आज भी चल रहा है। लोकनृत्य के कुछ विशिष्ट अंगों को पूर्णतः शास्त्र की पकड़ में आने से पूर्व उन्हें एक मध्य की स्थिति के बीच और गुजरना पड़ता है और वह है व्यवसायिक लोकनृत्यकारों की पकड़। लोक-नृत्यों से ही उपजी हुई यह व्यवसायिक लोकनृत्य की विशिष्ट श्रेणी उन नृत्यों के साथ विशेष रूप से लागू होती है, जो अपने चमत्कारिक एवं अतिशय कलात्मक गुणों के कारण कुछ पेशेवर जातियों की धरोहर बन जाती है और कुछ अंश में शास्त्रीय नृत्यों की तरह ही व्यवहार करने लगती है। ये विशिष्ट जातियाँ इनका विशेष रूप से परिष्कार करती हैं, तथा उन्हें अत्यधिक चमत्का-रिक और प्रभावशाली बनाने की कोशिश करती हैं, उन्हें अपने सामुदायिक दायरे से निकालकर अपने परिवार की परिधि में डाल देती हैं। ये नृत्य उनकी आजीविका उपार्जन के प्रमुख साधन बन जाते हैं। उनमें लोकनृत्यों के गुण विद्यमान होते हुए भी वे अतिशय चमत्कारिक बन गये हैं और उनका सामुदायिक पक्ष भी दुर्बल पड़ गया है। ये ही नृत्य शास्त्रकारों की निगाह में आकर शास्त्रीय स्वरूप धारण करने लगते हैं।

गीतों की अपेक्षा लोकनृत्यों की न्यूनतम रचना

गीत की उद्भावना व्यक्ति से होती है, समष्टि से नहीं। उद्भवोपरान्त अपने सामाजिक तथा सर्वमान्य गुणों के कारण वह समष्टि का रूप धारण करता है। परन्तु लोकनृत्य किसी व्यक्तिविशेष की उपज नहीं होता। उसका प्रारम्भ ही समष्टि से होता है। किसी व्यक्ति के आनन्द-उल्लास के समय जो अंगभंगिमाओं की उछलकूद होती है, वह इतनी निजी और वैयक्तिक होती है कि उसका समष्टिगत प्रदर्शन संकोच और लाज के कारण असंभव ही होता है। वह उछलकूद उसके लिए क्षणिक आनन्द की ही अनुभूति होती है, जो किसी आवेग या भावावेश ही का परिणाम होती है। गीतों की प्रारंभिक

गुनगुनाहट की तरह वह उसके लिए स्थायी आनन्द का विषय नहीं बनती। वह आवेग के कारण जहाँ प्रकट होती है वहाँ खत्म भी हो जाती है। वह उसको स्थायी भावनाओं का अवलंबन नहीं पकड़ती है, परन्तु उसकी प्रथम उद्भासित गुनगुनाहट उसमें स्थिर आनन्द के अंकुर उगाती है, उसके अंतराल के कण-कण में समाकर आनन्द का संचार करती है और उपयुक्त शब्दों के गठबंधन से मूर्तगीत का स्वरूप ग्रहण करती है, परन्तु आनन्दोद्रेक की वैयक्तिक उछलकूद एकदम क्षणिक और तात्कालिक होती है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति के स्थायी भावों से बिल्कुल नहीं होता और कभी भी वह गौरव और आनन्द का अनुभव नहीं करता। अतः उसका सामाजिक संपत्ति बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में समष्टि की संगति से तथा समष्टिगत आनन्द के क्षणों में ऐसी अंगभंगिमाओं की उद्भावनाएं होती हैं, जो अनुकूल वातावरण एवं प्रेरणामूलक क्षणों में उद्दीप्त होकर नाना प्रकार के स्वरूप सौंदर्य की सृष्टि करती है। जब कहीं बादल गरज रहे हों, बिजली चमक रही हो, कोयल, मोर आदि अपने मधुर स्वरों से सृष्टि को आह्लादित कर रहे हों, ढोल, नक्काड़े तथा विविध वाद्यों का निनाद हो रहा हो, लोकगीतों से समस्त वातावरण आनन्दित हो रहा हो, तब कभी-कभी समष्टिगत आल्हाद उमड़ पड़ता है और गतिशील हो जाता है। अनायास ही पाँवों में थिरकन होने लगती है और मनुष्य अनियोजित ढंग से नाच पड़ते हैं। उनके पदों में नई-नई कल्पनाएं जाग्रत होती हैं, और अंग-प्रत्यंग में नवीन भंगिमाएं थिरक उठती हैं, जो धीरे-धीरे नृत्य का रूप धारण कर लेती है। ऐसे अनुभव अनेक बार होते हैं, असंख्य कल्पनाएं भी जागती हैं, परंतु अधिकांश जन्म के साथ मृत्यु को प्राप्त करती है। उनमें से कुछ ही कल्पनाएं सामाजिक धरोहर बनकर परम्पराओं का रूप धारण करती हैं और किसी सांस्कृतिक पर्व तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ संस्कारवत् बंधकर अमरत्व प्राप्त करती हैं।

यही कारण है कि लोकनृत्यों की संख्या संस्कारवत् होने के कारण अत्यन्त अल्प होती है। वे कुछ विशिष्ट मर्यादाओं में बंध जाते हैं, तथा उनका स्वतन्त्र उपयोग एक प्रकार से असामयिक क्रिया बन जाती है। यही कारण है कि ये लोकनृत्य धार्मिक अनुष्ठानों तथा सांस्कृतिक पर्वों को पकड़ लेते हैं और उन्हीं के साथ ऐसे जुड़ जाते हैं कि उनका बिलगाव अत्यन्त अवांछित समझा जाता है। कुछ नृत्य विशुद्ध आनन्द-उल्लास के क्षणों के साथ भी जुड़ जाते हैं, परन्तु वे भी मन की मौज के साथ जुड़कर दैनिक संस्कारों का दामन पकड़ लेते हैं। वे इतने टकसाली हो जाते हैं और उनके साथ परंपराएं इस

तरह जुड़ जाती है कि बरसों तक नवीन रचनाओं की गुंजाइश नहीं रहती। इनकी आयु भी अत्यधिक लम्बी होती है। कुछ नृत्य तो सैकड़ों वर्ष पुराने पड़ जाते हैं और पुश्तों से सामाजिक धरोहर बने रहते हैं। विपरीत इसके लोक-गीत सैकड़ों की संख्या में बनते हैं, क्योंकि उनका रचना-बिन्दु व्यक्ति होता है और बाद में सामाजिक प्रतिभा का उन पर पुट चढ़ता है। इनमें से अनेक गीत असफल होकर गिर पड़ते हैं और कुछ सामाजिक प्रतिभा को पकड़कर समष्टि का दामन पकड़ लेते हैं। यही कारण है कि लोकगीतों की संख्या अनगिनत होती है और लोकनृत्य उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। लोकगीत भी लोकनृत्यों की तरह संस्कारवत् पर्वों और धार्मिक अनुष्ठानों के साथ जुड़ जाते हैं, परन्तु अनगिनत गीत ऐसे भी हैं, जो सामाजिक पृष्ठभूमि पर रहते हुए भी हजारों व्यक्तियों के कंठों के हार बने रहते हैं, जो किसी विधि-विधान के साथ न जुड़कर वैयक्तिक आनन्द, उल्लास तथा पारिवारिक जीवन के विविध प्रसंगों के साथ जुड़ जाते हैं तथा हजारों लोग उन्हें स्वतंत्र रूप से गाते हैं तथा अपने जीवन का शृंगार बनाते हैं। लोकनृत्यों की तरह उनका प्रसार-क्षेत्र सीमित नहीं होता। उनका संचार सर्वक्षेत्रीय तथा सर्वजातीय होता है। वे उन्मुक्त जल-प्रपात की तरह बहते रहते हैं।

लोकनृत्यों के प्रसार तथा प्रयोगक्षेत्र की सीमाओं के कुछ कारण और हैं। लोकगीत प्रधानतः भावनाप्रधान होते हैं। मनुष्य के अंतराल से उद्भासित भावभीने स्वर तुरन्त ही हृदय को स्पर्श करते हैं। उनके साथ उपयुक्त गीतों का शब्द-संयोग सोने में सुहागे का काम करता है। भावनाप्रधान व्यक्ति इनको तुरन्त पकड़ लेते हैं और अपने में आत्मसात् कर लेते हैं। गीत प्रधानतः श्रव्य गुण सम्पन्न होता है और नृत्यों में दृश्य गुणों की प्रधानता रहती है। नृत्य नयनाभिराम होते हुए भी स्वरों की मर्मस्पर्शिता को नहीं पहुँच सकते। श्रोता पर पड़े हुए किसी मर्मस्पर्शी गीत का प्रभाव तुरन्त उसके व्यवहार में आ जाता है। वह श्रोता के कंठ पर विराजकर उसके हृदय का हार बन जाता है; परन्तु नृत्य प्रभावशाली होते हुए भी दर्शक के व्यवहार में इतनी आसानी से नहीं आता और गीत की तरह उसके जीवन-व्यवहार का अंग नहीं बनता। नृत्य-दर्शक केवल सराहक बनते हैं, विरले ही उसे व्यवहार में लाने में समर्थ होते हैं। किसी भी वैयक्तिक दायरे में फिरनेवाला कोई भी सशक्त गीत किसी भी भावनाप्रधान श्रोता को आह्लादित करके उसके व्यवहार में इसलिये भी उतर जाता है, क्योंकि गीत-रचयिता की दृष्टि से समष्टिगत होते हुए वह व्यक्तिगत व्यवहार के लिए भी पूर्णरूपेण योग्य होता है, परन्तु नृत्य प्रारम्भ

से ही रचना और व्यवहार की दृष्टि से समष्टिगत होने के कारण वैयक्तिक व्यवहार में इसलिये नहीं आता, क्योंकि व्यक्ति अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। सामूहिक नृत्य वैयक्तिक बन नहीं सकता तथा व्यक्ति का प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकता।

जिस तरह लोकगीत एक कंठ से दूसरे कंठ पर चढ़कर सहस्रों कंठों पर चढ़ जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्य एक पद से दूसरे पद पर और फिर अनेक पदों पर नहीं चढ़ते, क्योंकि नृत्य के व्यवहार में समष्टि तथा समूह की अवस्थिति आवश्यक है। अनेक कंठों पर चढ़कर लोकगीत अपना पुष्ट स्वरूप प्राप्त करते हैं, परन्तु व्यवहार में पुनः वैयक्तिक कंठ पर आ जाते हैं। परन्तु लोकनृत्य प्रारम्भ से ही समूह से घिरे रहते हैं और समूह में ही संचरित होते हैं। लोकगीत व्यक्ति से संचरित होकर समूह की ओर प्रवृत्त होते हैं और पुनः व्यक्ति का सहारा पकड़ लेते हैं। लोकनृत्य समूह में ही संचरित समूह में ही व्यवहृत होते हैं और सामाजिक व्यवहार से ही परिपुष्ट होते हैं। लोकगीतों की तरह वे निरंतर समाज के अन्तराल में परिस्फुटित होकर उत्कर्ष प्राप्त नहीं करते। वे तो व्यवहार के समय ही प्रयोक्ताओं तथा दर्शकों को प्रेरित करते हैं। उसके बाद उनकी क्रियाएँ अशक्त होकर बैठ जाती हैं और प्रयोक्ताओं के अंतराल में गीतों की तरह सोते, जागते, बैठते वे विकासक्रम को प्राप्त नहीं करते। उनका विकास पुनः सामूहिक व्यवहार में आने पर ही होता है। इस तरह जब सामूहिक व्यवहार के अनेक अवसर आते हैं तब नृत्य में प्रौढ़ता आती है और अनेक वर्षों के व्यवहार के उपरांत वह टकसाली बनकर लोकनृत्य का दर्जा प्राप्त करता है।

लोकनृत्य स्थिति, समय तथा सामूहिक गठन की मर्यादाओं में रहने के कारण लोकजीवन में गीत की तरह घर-घर व्यापी नहीं बनता। वह लोकधर्मी होकर भी लोकधर्म को गीत की तरह नहीं निभाता। वह लोकधर्मी इसलिये है क्योंकि उसका सामूहिक स्वरूप होता है तथा सामाजिक आनंद, उल्लास और संस्कारों की गहरी छाप उस पर रहती है। इन कठिन मर्यादाओं के कारण ही वह लोकगीत की सामाजिक शक्ति तथा व्यापकता को प्राप्त नहीं कर सका। लोकनृत्य अधिक अनुष्ठानिक एवं संस्कार संगत हो जाने से दीर्घजीवी है। वह यदि किसी गृहस्थ या व्यक्तिविशेष से जुड़ जाता तो उसका नाम निशान भी नहीं रहता।

लोकनृत्य की प्रकृति तथा स्वभाव

लोकनृत्यों की प्रकृति तथा स्वभाव की विवेचना करते समय हम यह

मानकर चलते हैं कि वे केवल ग्राम्य वातावरण में ही सृजित और विकसित नहीं होते, वरन् उनके लिए उन्मुक्त वातावरण गाँवों से बाहर भी हो सकता है। हम यह मान सकते हैं कि लोकनृत्यों के विकास और स्वस्थ संचार के लिये गाँवों का वातावरण अधिक अनुकूल होता है और उनके अनुरूप ही लोकनृत्यों के स्वरूप और प्रकृति में भी अंतर पड़ जाता है, परन्तु हम यह बात नहीं मानते कि गाँवों के जो नृत्य हैं वे ही लोकनृत्य हैं, शहरों के नहीं। आज तो यह भेद और भी कम हो गया है, जबकि गाँव और शहर एक दूसरे के निकट आ रहे हैं।

लोकनृत्यों की विशेषताएँ

(१) लोकनृत्य सरल, सर्वगम्य और सर्वसुलभ होते हैं। सरल इस अर्थ में कि उन्हें सीखने समझने और प्रदर्शित करने में सरलता रहती है। ये तीनों ही गुण न केवल लोकनृत्यों के सामाजिक और सामुदायिक रूप में विद्यमान हैं, वरन् उनके व्यवसायी रूप में भी उनका समावेश होता है। उनकी सरलता, सर्वगम्यता और सर्वसुलभता की कसौटी यही है कि वे कहीं किसी के द्वारा सिखाये नहीं जाते। उन्हें समझने और सुधारने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। अपने पूर्व संस्कारों तथा अनुकूल वातावरण के कारण ही बालक उन्हें बचपन से ही सीख जाते हैं। स्त्रियाँ विवाह-समारोह आदि पर जो नाचती, गाती हैं, उसकी शिक्षा कहीं किसी से नहीं लेनी पड़ती। यही बात उन नृत्यों के लिए भी प्रयुक्त होती है, जो व्यवसायिक लोकनृत्य-कारों द्वारा ही नाचे जाते हैं। यद्यपि ये नृत्य अपेक्षाकृत कठिन हैं उनकी ताल, लय तथा अंगभंगिमाओं में पर्याप्त मात्रा में तंत्र और कौशल है, फिर भी उनकी सरलता और सर्वसुलभता के गुण कम नहीं हुए हैं। व्यवसायिक लोकनृत्यकारों के घरानों में किसी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। जन्म से ही बच्चे अपनी परम्परागत कला को संस्कारवत् सीख जाते हैं।

(२) लोकनृत्यों में अप्रयत्नशील सरलता होती है। जब लोग नाचते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ताल, लय और अंगभंगिमाएँ एकरस होकर अवतरित हुई हैं। नृत्यकारों के अंग में ये सब स्वभावगत ही शुमार होती हैं। शास्त्रीय नृत्य की तरह उनमें गिनतियाँ नहीं गिननी पड़तीं, खाली भरी का ख्याल नहीं रखना पड़ता तथा ताल में सम पर आने के लिए नाचनेवाले का पसीना नहीं उतरता। लोकनृत्यों में ऐसा लगता है कि ताल और लय स्वयं

नृत्यकार की चेरी बनकर पीछे-पीछे चलती है। नृत्यकार को ताल, लय के पीछे नहीं चलना पड़ता। नाचनेवाले को क़दम से क़दम नहीं मिलाना पड़ता। हाथ, पाँव, कंधा, ग्रीवा आदि की भंगिमाओं की एकरूपता के लिए कलाकारों को एक दूसरे की क्रियाओं को देखकर अनुकरण नहीं करना पड़ता। ऐसा लगता है कि लोकनृत्यों में ताल, लय तथा अंगभंगिमाओं का सृजन स्वयं में ही होता है।

(३) लोकनृत्य स्व-सर्जित होते है। जिस तरह लोकगीत बनाये नहीं जाते, अपने आप बनते हैं, उसी तरह लोकनृत्य किसी के द्वारा बनाये नहीं जाते, वे अपने आप बनते हैं। लोकनृत्यों पर किसी व्यक्ति तथा विशिष्ट सृजनकर्ता की छाप नहीं होती, उन पर किसी व्यक्तिविशेष का व्यक्तित्व अंकित नहीं होता, सारे समाज द्वारा ही वे बनाये जाते हैं, सारे समाज के व्यक्तित्व की छाप उन पर अंकित होती है; यही कारण है कि लोकनृत्य सर्वगम्य, सर्वसुलभ और सर्व-ग्राह्य होते हैं। यदि एक ही व्यक्तित्व की उस पर छाप हो तो दूसरे व्यक्ति उसे अनिवार्य रूप से क्यों पसंद करें? उस पर कई व्यक्तित्वों की छाप है, इसलिये उसमें व्यक्तिगत दोष की मात्रा अत्यंत न्यून सी रह जाती है। वह सर्वग्राह्य और सबकी संपत्ति भी इसीलिये है कि वह किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं, उस पर सबका अधिकार है, समस्त समाज ही उसका सृजनहार है।

(४) लोकनृत्यों में जन-जीवन की परम्परा, उसके संस्कार तथा जनता का आध्यात्मिक विश्वास निहित होता है। यही कारण है कि लोकनृत्यों की आयु लम्बी तथा उद्गमकाल अत्यन्त प्राचीन होता है। जिस तरह कोई व्यक्तिविशेष जन-जीवन में देवता का रूप तभी ले सकता है, जबकि उसके कार्य लम्बे समय तक, उसकी मृत्यु के सैकड़ों वर्ष बाद भी जन-जीवन को प्रभावित करते रहें। राजस्थान के गोगा चौहान तथा पाबूजी राठोड़ सैकड़ों वर्षों के बाद देवता बने। उनके पीछे संस्कार, सद्भावना तथा सत्कर्मों के प्रति विश्वास की लम्बी परम्परा है। लोकनृत्यों के लिए भी यही बात लागू है। वही लोकनृत्य जन-जीवन में लोकनृत्य के रूप में प्रतिष्ठित होता है, जिसने काल, स्थान और परिस्थितियों की अनेक गतिविधियों को देखा, प्रभावित किया और जन-जीवन को लम्बे समय तक उल्लसित किया है। वही लोकनृत्य आज जनता के जीवन में धार्मिक विश्वास की तरह प्रतिष्ठित हुआ है। इसीलिये लोकनृत्य जनता के जीवन को उन्नत, विकसित और स्वस्थ बनानेवाले सिद्ध हुए हैं। उनके पीछे कोई सामाजिक बन्धन (Social Taboos) नहीं होते, न उनके साथ नव-निर्मित नृत्यों की तरह कोई हीनता की भावना जुड़ी रहती है।

(५) लोकनृत्यों के वैविध्य में भी साधारणतः एकरूपता होती है। लोकनृत्यों में अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं, जिनमें अंगभंगिमाओं तथा चालों की विविधता है। उनकी खूबी इसी में होती है कि सभी कलाकार एक ही ताल और एक ही नृत्यविशेष की सीमा में रहते हुए भी विविध दिशाओं में फिरते हैं तथा विविध अंगभंगिमाएँ सृजित करते हैं। एक ही नृत्य रचना-विधि (Choreography) की मर्यादा में रहते हुए भी यह विविधता इन नृत्यों की विशेषता है। उनका पूरा और सम्यक् प्रभाव एकरसमय और एकरूपमय होता है।

(६) लगभग सभी लोकनृत्य सामूहिक होते हैं। उनमें वैयक्तिक-नृत्य की कल्पना आधुनिक है। ये व्यक्तिगत आनन्द, व्यक्तिगत लाभ, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत भावना से रहित होते हैं। सामुदायिक, सामाजिक या नागरिक भावना से वे ओतप्रोत होते हैं। व्यवसायिक लोकनृत्यकार भले ही आर्थिक लाभ के कारण नृत्यों का आयोजन अपने यजमानों के यहाँ करते हों, परन्तु उनके पीछे भी सामुदायिक भावना का ही प्राधान्य है। किसी जाति-विशेष या समुदाय विशेष को मनोरंजन प्रदान करना उनका जातिगत कर्तव्य है, जो भले ही आज की बदली हुई सामाजिक व्यवस्था में दोषपूर्ण समझा जाता हो, परन्तु उनका प्रारंभ सामुदायिक भावना से ही हुआ। उन्हें पारिश्रमिक के रूप में जो भी धन उपलब्ध होता है, वह उनकी आजीविका की दृष्टि से ही समाज ने नियत किया है।

लगभग सभी लोकनृत्य वैयक्तिक भावनाओं से ऊपर होते हैं, तभी उनको जनजीवन में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है तथा वे समाज के सामाजिक, सामुदायिक और धार्मिक कर्तव्यों में शुमार हो गये हैं। हमारे पर्व, समारोह, त्योहार तथा संस्कारों पर कोई लोकनृत्य नहीं हो तो वे अशुभ माने जाते हैं। इन नृत्यों में जहाँ सामुदायिक और सामाजिक भावना प्रमुख है, वहाँ आनन्द की भावना भी सर्वोपरि रहती है। आत्मानन्द और सामाजिक कर्तव्य का इतना सुन्दर, स्वस्थ और उपयोगी समन्वय लोकनृत्यों के अलावा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता।

(७) लोकनृत्य शास्त्रीय नृत्यों की तरह शास्त्रीय नियमों के बंधनों और सीमाओं से परे होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि लोकनृत्य शास्त्रोक्त नियमों और मर्यादाओं से हीन होने से अत्यन्त प्राथमिक या अपरिपक्व होते हैं। यह भी समझना गलत है कि लोकनृत्य, आदिनृत्य होने के कारण अत्यन्त प्रारंभिक होते हैं। लोकनृत्यों के आधार पर ही शास्त्रीय नृत्य विकसित हुए हैं, परन्तु

यह समझना भी बिल्कुल ग़लत है कि नृत्यों की चरम विकसित सीढ़ी शास्त्रीय नृत्य है और उसकी सबसे निम्न सीढ़ी लोकनृत्य है। जिस तरह कुछ विशिष्ट आचार्यों और विशेषज्ञों ने अपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए लोकनृत्यों पर शास्त्रोक्त नृत्यों के भवन बनाये और शास्त्र की विविध कलमों में उन्हें बांधा, उसी तरह समाज ने और सामाजिक भावनाओं ने प्रारंभिक लोकनृत्यों को भी विकास की ऊंची सीढ़ी तक पहुँचाया। जिस तरह एक गुलाब के तने से कई प्रकार के गुलाबों के प्रकार विकसित किये जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्यों को आधार मानकर कई प्रकार के सांस्कृतिक नृत्यों का प्रादुर्भाव होता है। शास्त्रीय नृत्य उसका एक प्रकार है तो लोकनृत्य उसका दूसरा प्रकार।

किसी शास्त्रीय नृत्य में जितनी संस्कारिता, प्रभावोत्पादकता, कला, आनन्दप्रदायिनी शक्ति, रचना-कौशल तथा उच्चस्तरीय गुण हो सकते हैं, उतने ही गुण लोकनृत्यों में भी हो सकते हैं। सौराष्ट्र का रासगरबा, राजस्थानी घूमर, नवाई नृत्य, गरासियों की वालर, भीलों का घूमरा तथा मणिपुर का लौहारबा नृत्य में जो आनन्ददायिनी शक्ति तथा रचनाविधि के गुण हैं वे किसी भी शास्त्रीय नृत्य से कम नहीं हैं। किसी नृत्य में नियमों की अधिकता, बाह्याडंबर तथा चमकदमक होने से ही उसकी सुन्दरता बढ़ती है, ऐसी बात नहीं है। लोकनृत्य अपनी सरलता, आडम्बरहीनता तथा अपनी स्वभावगत सुन्दरता के कारण प्रभावशाली होते हैं, जबकि कभी-कभी शास्त्रीय नृत्य अपने नियमों के बंधनों के कारण अपनी लोकप्रियता खो देते हैं।

लोकनृत्यों पर प्राकृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण का प्रभाव

यह कहना बहुत कठिन है कि समस्त भारतवर्ष में उक्त तीनों परिस्थितियों का प्रभाव एकसा होता है। किसी स्थलविशेष के प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव किसी नृत्यविशेष पर एक प्रकार का है तो यह आवश्यक नहीं कि उसी तरह ही प्रकृति का प्रभाव किसी दूसरी जगह के नृत्यों पर वैसा ही हो। इसका कारण यह है कि किसी जगह प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव दूसरे प्रभावों से दब जाता है। किसी जगह प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव कम है तो धार्मिक वातावरण का प्रभाव अधिक। किसी जगह सामाजिक बंधन (Social Taboos) इतने अधिक होते हैं कि नृत्य सामाजिकता से घिरा हुआ होता है। वहाँ प्राकृतिक, सामाजिक और दूसरे कारण उन्हें इतना प्रभावित नहीं करते। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम भारतवर्ष के

समस्त लोकनृत्यों की विशेषताओं का पता लगा सकते हैं। पंजाब और राजस्थान के सामाजिक वातावरण में मुगलशाही तथा सामंती प्रभाव होने के कारण कला को सामाजिक और धार्मिक रूप प्राप्त नहीं हो सका। पिछले चारसौ वर्षों में कला जीवनोपयोगी नहीं समझी जाकर विलास की ही सामग्री समझी गई। यह प्रभाव शहरों में तो अधिक था ही, परन्तु गाँवों की परिधि में भी घुस गया। अतः लोकनृत्य धार्मिक समारोहों, मंदिरों, सामाजिक पर्वों में विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं करके जीवन के कुछ ही प्रसंगों में उपयोगी सिद्ध हुआ। वहाँ लोगों को वर्षभर में कुछ ही अवसरों पर अपनी आनन्द की भावना तृप्त करने के लिए नृत्य जायज समझा गया। वे अवसर थे, होली तथा शादी विवाह के विशेष प्रसंग।

राजस्थानी घूमर तथा होली के अवसर के लगभग सभी लोकनृत्य इसी श्रेणी के लोकनृत्य हैं। इनमें शृंगारिक भावना की प्रधानता रहती है। इसी बंधन के कारण राजस्थान और पंजाब में स्त्रियों को पुरुषों के साथ नाचने की छूट नहीं दी गई। पुरुषों के नृत्यों में यदि स्त्रियों की आवश्यकता होती है तो पुरुष ही स्त्री का रूप बनाकर नाचते हैं।

राजस्थान में आदिवासियों के नृत्यों को छोड़कर धार्मिक और सामाजिक लोकनृत्यों की बहुत ही कमी है। नृत्य के प्रति सामाजिक बंधन की भावना होने के कारण ही राजस्थान में व्यवसायिक लोकनृत्यों का विकास अधिक हुआ। जिस देश या प्रान्त में व्यवसायिक लोकनृत्य अधिक होते हैं, वहाँ यह समझ लेना स्वाभाविक है कि नृत्यों के प्रति वहाँ आध्यात्मिक भावना नहीं है, या यों कहिये कि समाज ने नृत्य को हीन और हेय समझकर ही व्यवसायिक लोकनृत्यकारों की रचना की। भवाइयों का इतिहास भी यही बतलाता है कि उन्हें उनके मूल समाज ने अपनी जाति से निर्वासित भी इसी कारण किया था। जिन क्षेत्रों में नृत्य को हीन भावना से नहीं देखा जाता है वहाँ नृत्य जन-जीवन में व्याप्त रहता है और नृत्यकारों की व्यवसायिक जातियाँ नहीं के बराबर होती हैं। बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत के सभी क्षेत्र इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

इन सामाजिक और धार्मिक भावनाओं के अलावा प्राकृतिक वातावरण का भी प्रभाव नृत्यों पर पड़ता है। राजस्थान के रेतीले प्रदेशों में मनुष्य के सामने सबसे बड़ा प्रश्न आजीविका का है। नृत्य के लिए उसे फुर्सत ही कहाँ ? इसलिए इन क्षेत्रों में भोपे, कामड़, नट, कठपुतलीकार आदि व्यवसायिक

नृत्यकारों का जितना बाहुल्य है, उतना राजस्थान के अन्य क्षेत्रों में नहीं। वहाँ पर दूर-दूर तक किसी भी प्रकार के सामाजिक लोकनृत्य के दर्शन नहीं होते।

राजस्थान में स्त्रियाँ मध्यकालीन ऐतिहासिक कारणों से बड़े-बड़े लहँगे तथा लम्बी-लम्बी घूँघटदार साड़ियाँ पहिनती हैं। सामाजिक प्रथा के कारण उन्हें घूँघट भी निकालना पड़ता है, इसलिये वहाँ स्त्रियों में जो भी नृत्य प्रचलित हैं, उनमें घाघरे और घूँघट की कला बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुकी है। स्त्रियों के नृत्य का सृजन भी इसी प्रकार हुआ कि वे अधिक से अधिक चकरियाँ लें, ताकि घाघरे का घेर मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाय। राजस्थान में घूँघट की प्रथा है, इसीलिये वहाँ के लोकनृत्यों में घूँघट की कई कलाएँ व्यक्त की जाती हैं। यही कारण है कि राजस्थान के नृत्य वृत्ताकार होते हैं तथा घूँघट की प्रथा वहाँ निखर आई है। यही बात कुछ हद तक पंजाब के लिए भी लागू है। एक विशेष बात राजस्थान और हरियाना के लोकनृत्यों में जो देखने योग्य है, वह यह है कि सामाजिक कारणों से क्योंकि स्त्रियाँ पुरुषों के साथ वहाँ नहीं नाचतीं इसलिये पुरुषों को ही स्त्रियों का नृत्य करना पड़ता है। पुरुषों में स्त्रीसुलभ हावभाव स्वभाव से नहीं होते, इसीलिए उनको स्त्रियों के हावभाव सीखने पड़ते हैं। परिणाम यह होता है कि पुरुष चाहे पुरुष का ही काम करता हो, स्त्रियों के ये लटके-मटके उसकी आदत में शुमार हो जाते हैं, इसलिए अधिकतर यह देखा गया है कि राजस्थान के व्यवसायिक लोकनृत्यों में जनानापन अधिक है। उन्हें किसी तरह स्त्रीत्व की कमी को अपने हावभाव द्वारा ही पूरी करनी पड़ती है।

यही विश्लेषण यदि दक्षिण भारतीय नृत्यों का करें तो उनमें भी कई विशेषताएँ मिलेंगी। दक्षिण भारत में उत्तर भारत की तरह विदेशी प्रभाव बहुत कम है। इसलिए वहाँ की कलाओं में हिन्दुत्व की उदार और उदात्त भावनाएँ आज भी अक्षुण्ण रूप में विद्यमान हैं। नृत्यसंगीत के प्रति प्रायः कोई सामाजिक बंधन (Taboos) वहाँ नहीं है। कला के पीछे धार्मिक और सामाजिक भावनाएँ वहाँ पर्याप्त मात्रा में हैं इसलिए वहाँ प्रत्येक ऊँचे और नीचे दर्जे की जातियों में नृत्य के प्रति सद्भावना है। राजस्थान की तरह नृत्य निम्न श्रेणी की धरोहर नहीं बनकर नंबूदरी ब्राह्मणों के घरों में ऊँचा से ऊँचा स्थान प्राप्त किये हुए है। बल्कि वहाँ तो नृत्य कहीं अपवित्र नहीं हो जाय, इसलिए उसे शूद्रों से बचाकर रखा जाता है। इसके विपरीत राजस्थान में कहीं ऊँची जातियाँ नृत्य के कारण भ्रष्ट नहीं हो जायँ इसलिए उसे निम्न जातियों में धकेल दिया गया है।

दक्षिण भारत में नृत्य का सामाजिक और धार्मिक रूप चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है, इसलिए वहाँ नृत्य की व्यवसायिक जातियाँ नहीं के बराबर हैं। सच पूछिये तो दक्षिण भारत में कला के प्रति इतनी स्वस्थ भावना होने के कारण वह प्रत्येक घर की शोभा बनी हुई है। लोकनृत्य स्वयं इतना अधिक व्यवस्थित और संस्कृत बना दिया गया है कि वह भी शास्त्रीय कला का रूप धारण करने लगा है। जब कलाप्रियता चरमोत्कर्ष तक पहुँचती है और वह जीवन और धर्म के बहुत निकट होती है तो सभी कलाएँ चाहे वह लोक हों चाहे शास्त्रीय, चरमोत्कर्ष तक पहुँचने लगती हैं तथा लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे के समीप आने की कोशिश करती है। शास्त्रीय कला में लोककला के सामाजिक और लोकग्राह्यता के गुण समाविष्ट होने लगते हैं और लोककला में शास्त्रीय कला के संस्कार और परिष्कार की प्रवृत्ति प्रविष्ट होने लगती है। यही कारण है कि दक्षिण भारत में लोककला और शास्त्रीय कलाएँ काफी समरूप होने लगी हैं। कथकली और कुचपुड़ी नृत्य किसी समय नृत्य की लोकशैली में ही शुमार थे, परन्तु वे आज चरम दर्जे के शास्त्रीय नृत्य बन गये हैं। जिस तरह दक्षिण भारत में लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे का रूप धारण कर रही है, उसी तरह वहाँ लोकनृत्य और शास्त्रीय नृत्य भी समरूप होते जा रहे हैं।

धार्मिक, सामाजिक तथा कलाप्रियता की दृष्टि से दक्षिण भारत की कला का विश्लेषण ऊपर किया गया है। अब कुछ और कारणों से भी उनका विश्लेषण होना आवश्यक है। उधर अत्यधिक गर्मी के कारण लोग कपड़े नहीं पहिनते। उन्हें अपने शरीर की गरिमा दर्शाने के लिए कपड़ों से कहीं अधिक नग्न शरीर के शृंगार-सजाव पर ध्यान देना पड़ता है। कपड़ों की कमी-पूर्ति करने के लिए उन्हें गले में अच्छे कंठे पहिनने पड़ते हैं। मस्तक और शरीर पर केशर, अबीर आदि के तिलक लगाने होते हैं और नृत्य में भी अंग संचालन के वैविध्य पर ही अधिक ध्यान देना पड़ता है। भरतनाट्यम में स्त्रियों को ही नाचने का अधिकार प्राप्त है, पुरुषों को नहीं। अतः स्त्रियों के नृत्य में पुरुषसुलभ क्रियाओं का बाहुल्य है।

इसी तरह बंगाल और मणिपुर के लोकनृत्यों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। वहाँ पर धार्मिक भावनाओं का बाहुल्य होने के कारण वहाँ के लोकनृत्य बहुधा धार्मिक होते हैं। मंदिर, देवस्थल तथा धार्मिक अवसर ही उनके नृत्यों के विषय बन जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी वहाँ कोई बंधन नहीं है। इसलिए पुरुष स्त्री मिलकर नाचते हैं। स्त्री पुरुष के व्यवहार में

स्वाभाविकता है अतः नृत्यों में कोई शृंगारिकता तथा अश्लीलता का चिह्न नहीं है। बंगाल तथा मणिपुर में इन लोकनृत्यों को जनता बड़े सम्मान और धार्मिक दृष्टि से देखती है। इसके विपरीत राजस्थान, हरियाणा और पंजाब के कुछ क्षेत्रों में यदि कोई लोकनृत्य का आयोजन किया जाय तो सामाजिक बन्धनों (Social Restrictions) के कारण लोग स्त्रियों को नृत्य करते देखकर शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। बंगाल, आसाम, और मणिपुर में व्यवसायिक लोकनृत्य जैसी कोई परम्परा नहीं है। इसका मूलकारण यही है कि यहाँ लोकनृत्यों के पीछे सामाजिकता की भावना है।

उत्तर प्रदेश की स्थिति राजस्थान, पंजाब और बंगाल के बीच की है। उत्तर प्रदेश के वे क्षेत्र जो ब्रज संस्कृति से प्रभावित हैं, तथा जो भगवान् रामकृष्ण की क्रीड़ाओं से ओतप्रोत हैं, वहाँ रामलीला और रासलीला जैसी दो लोकनृत्य-नाट्यों की शैलियाँ प्रचलित हैं, परन्तु वे भी व्यवसायिक लोककला के रूप में हैं। उधर भी बाहरी प्रभावों के कारण सामाजिक बंधन पर्याप्त मात्रा में हैं, इसलिए व्यवसायिक लोकमंडलियाँ ही इधर विशेष विकसित हुईं। इनमें भी सामाजिक बंधनों के कारण पुरुष ही स्त्रियों की भूमिका अदा करते हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों (हिमालय) के नृत्यों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि वहाँ के पहाड़ी जीवन की उन पर छाप स्पष्ट है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण बाहरी विदेशी प्रभाव इन पर नहीं के बराबर है। सामाजिक और धार्मिक भावनाओं पर भी कोई विशेष प्रतिबंध नहीं है। यहाँ पर भी इसी कारण अधिकतर लोकनृत्य व्यवसायिक लोकनृत्यों के रूप में नहीं हैं। इन पहाड़ी क्षेत्रों में स्त्री पुरुष मिलकर नाचते हैं तथा इनके नृत्यों पर प्राकृतिक वातावरण का पर्याप्त प्रभाव है। पहाड़ों पर समचौरस या एक ही स्थल पर लम्बी-चौड़ी जगह का अभाव रहता है, इसलिए लोग थोड़ी जगह में भी नृत्य कर सकते हैं। कतार बनाते समय कभी गोलाकार घूमने की बजाय सर्प की तरह टेढ़ेमेढ़े चलकर पुनः समचौरस भूमि पर सीधे हो जाते हैं। हिमाच्छादित पर्वतों की असहनीय शीत के कारण इन्हें शरीर पर अत्यधिक कपड़े पहिनने पड़ते हैं, अतः इनके नृत्यों में शारीरिक गरिमा तथा अंगभंगिमाओं की कमी रहती है। केवल सीधे-सीधे जड़ रूप में चलना-फिरना ही इनके नृत्य की विशेषता है। नृत्य में संगठित संचालन के अलावा विशेष गरिमा नहीं। उसमें शृंगारिकता और कलावैविध्य की भी कमी है। ये दोनों ही बातें व्यापक

संपर्क तथा दुनियावी परिचय और प्रभाव से आती है। पर्वतों के एकाकी और शान्त वातावरण में उनका प्रभाव रहता है।

सौराष्ट्र के नृत्यों में इस दृष्टि से अनुपम विविधता और कारीगरी है। समुद्री वातावरण में समुद्री लहरों की चहलपहल और सौंदर्य के बीच रहकर उधर के लोककलाकारों में कल्पना की अद्‌भुत सूझ और कला की अद्वितीय विविधता है। इनके नृत्यों में समुद्र की सी गम्भीरता, तरंगों की सी चपलता, समुद्री-जलवायु की सी मनोरमता और बाहरी प्रभावों से अछूते लोक-जीवन की पवित्रता है। यहाँ के नृत्य सामाजिक नृत्यों के अद्वितीय उदाहरण हैं। उनमें कला, सौंदर्य, सरलता और मनोभावनाओं का जैसा सामंजस्य हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं।

भारतीय लोकनृत्यों के प्रकार

भारतीय लोकनृत्यों के निम्नांकित प्रकार हैं—

(१) **स्वान्तःसुखाय लोकनृत्य**—वे लोकनृत्य जो केवल हर्ष, उल्लास तथा आनन्दोद्रेक से संबंधित हैं, उनमें अंगभंगिमाओं की प्रांजलता, वैविध्य तथा भावनाओं का अद्वितीय रंग चढ़ा होता है। वे नदी के प्रवाह की तरह बहते हैं। लहरों की तरह उछलते हैं तथा अद्वितीय आनन्द की सृष्टि करते हैं। इन नृत्यों में नृत्यकारों को एक निर्दिष्ट योजना में रहते हुए भी, अंग-भंगिमाओं की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। इन नृत्यों में नृत्यकार बाह्य आडम्बरों का विशेष सहारा नहीं लेता। उसकी वेशभूषा, अलंकरण तथा प्रस्तुतीकरण में किसी प्रकार का दिखावा नहीं होता। वह सादी पोशाक ही में आकर्षक लगता है। इन नृत्यों में व्यक्तिगत प्रतिभा तथा दिखावे की अधिक प्रवृत्ति रहती है। इन नृत्यों के लिए कोई विशेष पर्व, उत्सव तथा अवसर निश्चित नहीं होते। ये स्वान्तःसुखाय नृत्य कभी भी मन की मौज पर प्रकट होते हैं। उनमें नित्य-प्रति परिवर्तन होता रहता है, तथा वे जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताओं से ओतप्रोत रहते हैं। इन नृत्यों में नृत्यकारों का वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय जीवन विशेष रूप से झलकता है।

(२) **आनुष्ठानिक लोकनृत्य**—इस कोटि में वे लोकनृत्य आते हैं, जो वैयक्तिक नृत्यों के दायरे में से निकलकर किसी उत्सव, पर्व, रीतिरिवाज तथा संस्कार के साथ जुड़ जाते हैं। स्वान्तःसुखाय तथा वैयक्तिक नृत्यों को जीवित रखने तथा उनको विशिष्ट स्वरूप देने में इन पर्व, उत्सवों का बहुत बड़ा हाथ है। भावोद्रेक के साथ श्रद्धा तथा कर्तव्य जुड़ जाने से इन नृत्यों में तनिक गंभीरता आती है और सामाजिक तत्वों का समावेश होता है। बिखरी

हुई नृत्य-भंगिमाएँ नियमित होती है, तथा उन्हें सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है। सामाजिक श्रद्धा और परम्परा के साथ जुड़ जाने से उनमें स्थायित्व आता है तथा उनके प्रति लोगों का प्रेमभाव बढ़ता है। उनमें वैयक्तिक प्रयोग की अपेक्षा सामाजिक प्रयोग को विशेष महत्व मिलता है। ये नृत्य प्रत्येक पर्व, उत्सव तथा समारोह के प्रतीक होते हैं। उनकी भावाभिव्यंजनाओं में उन पर्वों का पूरा विवेचन होता है। जैसे धार्मिक नृत्यों में पूर्ण गंभीरता, मौसम के नृत्यों में पूर्ण शृंगार और साहित्यिकता तथा मेलों और सार्वजनिक पर्वों के नृत्यों में विस्तार, भव्यता तथा विभिन्नता के गुण परिलक्षित होते हैं। ऐसे नृत्य भी बहुत हैं, जो केवल रूढ़ि मात्र रह गये हैं, जिनमें कोई अनुराग और रस नहीं है। जैसे वैवाहिक प्रसंगों के साथ चिपके हुए नृत्य, जिनमें कोई वैचित्र्य और रस नहीं होता। सरलता तथा सीमापन ही उनका खास गुण है। ऐसे नृत्य धीरे-धीरे विविध रीतियों तथा परम्पराओं से जुड़ जाने के कारण रूढ़िगत हो गये हैं और रूढ़ि बनकर ही संचरित होते हैं। उनके साथ कभी-कभी अंधानुशीलन और अंधविश्वास भी जुड़ जाते हैं, जो लकीर की तरह सदा ही चलते रहते हैं।

(३) **श्रमसाध्य लोकनृत्य** – ऐसे नृत्य भी अनेक हैं जो धीरे-धीरे मनुष्य की क्रियाओं के साथ जुड़ गये हैं। श्रमजनित थकान तथा उसकी नीरसता को कम करने के लिये जिन अनेक नृत्यों की सृष्टि हुई, वे मनुष्य के जीवन में घुलमिल गये। सड़क कूटते हुए, छत दबाते हुए, पानी भरते हुए, वजन उठाते हुए तथा खेती की अनेक क्रियाएँ करते हुए, अनेक अंगमुद्राएँ लयबद्ध होकर धीरे-धीरे नृत्य का रूप धारण करने लगती हैं। ऐसी भंगिमाएँ गीतों से प्रेरणा लेती हैं और शारीरिक लय से ताल ग्रहण करती हैं। चूँकि इन नृत्यों में श्रम की प्रधानता रहती है, इसलिये उन की चालें, भंगिमाएँ तथा मुद्राएँ अत्यंत गौण हो जाती हैं। ये नृत्य विशिष्ट स्वरूप धारण नहीं करते। बहुधा क्षेत्रीय, जातीय एवं भौगोलिक विशेषताओं के साथ उनके स्वरूप भी बदलते रहते हैं। ऐसे नृत्यों में काम करती हुई स्त्रियों की टोकरियाँ और हिलते हुए हाथ ही नृत्य की भंगिमाएँ बन जाते हैं। इसी तरह छत कूटती हुई स्त्रियों के हाथ के थोपे तथा सड़क बनाती हुई स्त्रियों की पदचापें ही इन श्रमसाध्य नृत्यों की चालें बन जाती हैं। ये नृत्यमुद्राएँ श्रमसाध्य क्रियाओं के साथ दूध पानी की तरह इस तरह घुलमिल जाती हैं कि यह पता नहीं लगता है कि श्रम कौनसा है और नृत्य कौनसा ? इन्हीं नृत्यों में वे नृत्य भी सम्मिलित हैं,

जो लम्बी यात्रा के फासले को काटने के लिये गीतों की पदचापों के साथ मिलकर स्वत: ही मनुष्य के अंग में समा जाते हैं।

(४) **सामाजिक लोकनृत्य** – ये लोकनृत्य किसी वर्ग, धर्म, जाति तथा दलविशेष से संबंध नहीं रखते। इनका संबंध समस्त समाज तथा राष्ट्र से होता है। वैयक्तिक, मनुरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक नृत्यों का विकसित रूप ही सामाजिक नृत्यों का रूप धारण करता है। जैसे-जैसे वर्गगत भावनाएँ विशाल बनती हैं, छोटे-छोटे समाज तथा वर्ग सर्वदेशीय भावनाओं से ओतप्रोत होकर विशाल रूप धारण करते हैं, वैसे-वैसे इन नृत्यों का स्वरूप भी विशाल और प्रांजल बनता जाता है। अनेक वैयक्तिक नृत्य सामाजिक कसौटी पर कस जाते हैं और पारस्परिक प्रभाव से विराट् रूप धारण कर लेते हैं। इन नृत्यों में समस्त समाज, क्षेत्र तथा देश की आत्मा झलकती है। इन नृत्यों के पीछे अनेक वर्षों की साधना निहित रहती है। उनमें समस्त सामाजिक आनन्द और समरसता के दर्शन होते हैं। इन नृत्यों की लोकप्रियता, उनके प्रसारक्षेत्र तथा उपभोक्ताओं के विशाल जनसमुदाय को देखकर ही यह पता लगाया जा सकता है कि वह क्षेत्र किन सामाजिक और मानवीय गुणों से ओतप्रोत है। इन नृत्यों के पीछे समस्त समाज का विश्वास, गौरव तथा उसकी आत्मा निहित रहती है। ये नृत्य अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, जातिपाँति, धर्म-संप्रदाय का भेद नहीं जानते। ऐसे नृत्यों में गुजरात का गरबा, राजस्थान का घूमर, पंजाब का भांगड़ा, बिहार का झूमर, महाराष्ट्र का लावणी, दक्षिण भारत का कोलटम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये नृत्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय परिधान, राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय समरसता और चारित्रिक समन्वय के द्योतक हैं।

ये नृत्य स्वभाव से सरल, पदचापों एवं भंगिमाओं की दृष्टि से सर्वगम्य, सर्वमान्य तथा सर्वग्राह्य होते हैं। इन्हें सीखने के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। ये नृत्य प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हैं, क्योंकि ये सर्वदा ही ताजा रहते हैं।

(५) **मनोरंजनात्मक लोकनृत्य**– लोकगीतों की तरह ही लोकनृत्य जब कुछ विशिष्ट गुणीजनों तथा कलाभिनिष्ठ व्यक्तियों की अभिरुचि के विषय बन जाते हैं तो उनमें शृंगार, सजाव होने लगता है और उनका सामाजिक तत्त्व तिरोहित हो जाता है। वे प्रयोक्ता की विशिष्ट अभिरुचि के अनुरूप रूपान्तरित होने लगते हैं तथा वे सजाव-शृंगार से चमत्कृत होते हैं। कभी-कभी वे

अपने अतिशय मनोरंजनात्मक गुणों के कारण कुछ विशिष्ट कलाकारों की आजीविका के साधन भी बन जाते हैं। इन विशिष्ट परिस्थितियों में प्रदर्शक कभी-कभी दर्शक बन जाता है। वह स्वयं नृत्य करके आनन्दित होने की अपेक्षा, दूसरों के नृत्य देखकर आनन्दित होता है। ये विशिष्ट नृत्य दूसरों को आनंदित करने के लिये ही विशिष्ट स्वरूप धारण कर लेते हैं। ये नृत्य व्यवसायिक हो जाने पर लोकनृत्यों के गुणों को इसलिये नहीं खोते कि उनमें लोकनृत्यों की सभी परम्पराएँ फिर भी विद्यमान रहती हैं। व्यवसायिक नृत्यकारों को उनका सजाव-शृंगार करने की छूट है, परन्तु उनकी मूल रचनाओं को बदलने का उनको अधिकार नहीं रहता। उन नृत्यों के मान्य स्वरों में यदि कुछ भी अन्तर रह जाता है तो दर्शक तुरन्त ही अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने लगते हैं। राजस्थान के व्यवसायिक भवाई नृत्यकार के सभी नृत्य परम्परापोषित हैं। उनका तंत्र तथा रचना-वैशिष्ट्य पूर्वनिश्चित होता है। कलाकारों को उनमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की छूट नहीं रहती है। यदि कभी वह यह स्वतंत्रता ले भी लेता है तो उसे दर्शकों की भर्त्सना का पात्र बनना पड़ता है।

व्यवसायिक नृत्यकार अपने यजमानों को केवल अनुरंजित ही नहीं करता, वह उनके गौरव की रक्षा भी करता है। दर्शकों में स्वान्तःसुखाय होने की अपेक्षा दूसरों से अनुरंजित होने से जो हीनता की भावना का संचार होता है, उसे ये व्यवसायिक कलाकार काफी मात्रा में दूर करते हैं और अपने यजमानों की कलात्मक अभिरुचि का गौरव बढ़ाते हैं। दर्शक-प्रदर्शक की यह परम्परा जो आज भी विद्यमान है, लोकनृत्य की मूल आत्मा के अनुरूप ही है, क्योंकि प्रदर्शकों द्वारा प्रस्तुत किये हुए इन नृत्यों से दर्शक वही आनन्द ग्रहण करता है, जो उसे आत्मानंद द्वारा प्राप्त होता है। अतः जो दर्शक-प्रदर्शक का भेद है वह इस ममत्व के कारण काफी हद तक कम हो जाता है। इन नृत्यकारों के साथ उसका पारिवारिक और जातीय लगाव रहता है। वह इन व्यवसायिक नृत्यकारों की नृत्य-अदायगी में अत्यधिक रुचि लेता है और उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन तथा क्षेपक बर्दाश्त नहीं करता। उन पर वह सदा ही अपना आधिपत्य बनाये रखता है।

लोकनृत्य और परिधान

परिधान तथा अलंकारों का शौक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य अपने घर की चहारदीवारी में बन्द रहता है, तब वह साधारण कपड़े ही पहिने रहता है, परन्तु जब वह बाहर निकलता है तो उसके लिये परिधान

का महत्त्व बढ़ जाता है। लोकनृत्यों में चूंकि वैयक्तिक आनन्द की प्रधानता रहती है, अतः वेश-विन्यास के मामले में नर्तक अधिक रुचि नहीं लेता। दैनिक पोशाकें ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने में पर्याप्त होती हैं। पर्व उत्सवों पर जो विशेष पोशाकें पहिनने का रिवाज है, उसके पीछे नृत्य का महत्त्व जितना नहीं है उतना उत्सवों के सामाजिक गुणों का है। उत्सवों में सम्मिलित होनेवाले लोग उत्सवों के निमित्त पोशाक परिधान पहिनते हैं, नृत्यों के निमित्त नहीं।

कई भौगोलिक और सामाजिक कारण ऐसे भी हैं, जो नृत्यकारों को विशिष्ट पोशाकें पहिनने को बाध्य करते हैं। अत्यधिक शीतप्रदेशों में शीत के कारण लोगों को गर्म लबादों में रहना पड़ता है। वे कई बरसों में एक बार नहाते हैं तथा अधिकतर घरों में ही बंद रहते हैं। उनके सामाजिक आनंद के क्षण अत्यन्त सीमित होते हैं। अपनी आजीविका के लिये खेती आदि कार्यों में उन्हें इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि नृत्यों को आजीविका के साधन बनाने का उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भौगोलिक एवं मौसमी अनिश्चितताओं के कारण उनका प्रयोग अच्छी मौसम में ही होता है। यही कारण है कि नृत्यों के ये दुर्लभ आयोजन उनके लिये उत्सव, पर्व के समान हैं। उस अवसर पर वे आकर्षक पोशाकें पहिनते हैं और कीमती जेवरों से अपने को सजाते हैं।

ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नृत्य नित्यप्रति का ही कर्म बन गया है, वहाँ परिधान विशेष महत्त्व नहीं रखता। शृंगार के लिये जंगली फूलों का शृंगार ही पर्याप्त होता है। मध्यप्रदेश के माड़िया, मूड़िया, राजस्थान, गुजरात के भील तथा बिहार के उरांव, संथाल आदि जातियों के नृत्यों में जंगली फूल, कौड़ी, पक्षियों के पंख, पशुओं के सींग आदि का परिधान के रूप में बड़ा सुन्दर उपयोग होता है। इन जातियों के वे नृत्य जो मेलों तथा मड़इयों में नाचे जाते हैं, आदिवासियों की विशिष्ट तथा आकर्षक वेशभूषाओं से खिल उठते हैं। इन अवसरों पर जाति के सभी लोग बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, बाल-युवक नाचते हैं और अपने इष्टदेवों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। ये ही अवसर पारस्परिक मेलजोल, वैवाहिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक प्रेम बढ़ाने के लिये होते हैं। कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग नवयुवक और नवयुवतियों के लिये सौन्दर्य प्रतियोगिता के रूप में भी प्रकट होते हैं। आदिम पुरुष और स्त्री अद्वितीय पोशाकों और साज-सज्जाओं से सुसज्जित होकर आते हैं तथा इन नृत्यों को प्रभावशाली और दर्शनीय बना देते हैं।

इन जातियों के उन नृत्यों में, जो दिनभर के परिश्रम के बाद प्रत्येक गाँव में थकान मिटाने के लिये किये जाते हैं, पोशाकों का कोई महत्त्व ही नहीं है। राजस्थान, गुजरात तथा मध्यप्रदेश के भील भिलालों का गैर नृत्य, जो प्रतिदिन थकान मिटाने के लिये किया जाता है, साधारण पोशाकों में ही होता है।

आसाम, नेफा, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, मणिपुर तथा नागालैण्ड आदि के नृत्यों की पोशाकें जितनी आकर्षक होती हैं उतनी कदाचित् देश की किसी जाति की नहीं। ये पोशाकें केवल नृत्य के लिये ही पहिनी जाती हैं। दैनिक जीवन में उनका कहीं भी प्रयोग नहीं होता। मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, बंगाल, राजस्थान आदि समतल प्रदेश के विशिष्ट सांस्कारिक नृत्यों में अवश्य ही आकर्षक पोशाकें पहिनी जाती हैं, परन्तु दैनिक जीवन की पोशाकों में और उनमें कोई विशेष अंतर नहीं होता। वे तो दैनिक जीवन ही में फूल कौड़ियों के शृंगार से सुसज्जित रहते हैं। परन्तु पहाड़ी प्रदेश की पोशाकें नृत्य के समय अत्यंत आकर्षक बन जाती हैं, क्योंकि ये देश शीतप्रधान देश हैं। अतः वस्त्र परिधान अंग का आवश्यक अंग बनता है। ये प्रदेश फूलों तथा कौड़ियों की दृष्टि से अभावग्रस्त देश हैं, इसलिये इनकी शारीरिक सजावट में इनके कहीं दर्शन नहीं होते, अतः शरीर के परिधान में वस्त्र तथा पाँव और सिर के परिधान में पंख तथा हड्डियों का पूर्ण शृंगार रहता है। शीतप्रदेश होने के कारण गरम कपड़ों का महत्त्व भी विशेष है। इसलिये ये लोग कताई-बुनाई तथा कसीदाकारी में अत्यन्त प्रवीण होते हैं। यही कारण है कि इनकी वेशभूषा भी अत्यन्त आकर्षक होती है। इन पहाड़ी प्रदेशों के नृत्य भौगोलिक कठिनाइयों के कारण अधिक चमत्कारिक नहीं हैं। ऊबड़-खाबड़ रास्तों तथा पहाड़ों के कारण, उन्हें नृत्य के लिये समतल भूमि भी बड़ी मुश्किल से मिलती है, अतः इनके नृत्य अत्यन्त मन्थर, धीमे तथा वैविध्यहीन होते हैं। इसी कारण इस अभाव की पूर्ति के लिये तथा अपने नृत्यों को आकर्षक बनाने के निमित्त इन्हें अत्यन्त कलात्मक पोशाकें और जेवर पहिनने पड़ते हैं।

परिधान, अलंकरण आदि नृत्यों के शारीरिक संचार पर भी आधारित रहते हैं। महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा बिहार के मैदानी क्षेत्रों के कुछ पुरुषार्थी नृत्यों में पोशाकें अधिक कसी हुई, सरल और हलकी होती हैं, कारण कि ये नृत्य समुद्री तूफान की तरह चलते हैं और अंग-प्रत्यंग की भयंकर उछलकूद के कारण पोशाकों में कसावट तथा हल्कापन अत्यंत आवश्यक

है। ऐसे तूफानी नृत्यों में धातु के बने हुए बोझिल अलंकरणों के लिये कहीं स्थान नहीं रहता है। भयंकर गरम क्षेत्रों में जहाँ गरमी के कारण कोई वस्त्र शरीर बर्दाश्त नहीं करता, वहाँ वस्त्र परिधान की न्यूनता रहती है और उसकी पूर्ति नृत्यों की रंगीनियों तथा अंगभंगिमाओं के वैविध्य से की जाती है। ऐसे क्षेत्रों के नृत्यकार वस्त्र परिधान की जगह खुले बदन के प्राकृतिक शृंगार तथा शरीर के अत्यन्त कलात्मक गोदनों को महत्त्व देते हैं। मध्यवर्ती मध्यप्रदेश के भयंकर गरम और जंगली क्षेत्रों के आदिवासी कपड़े नहीं पहिनते, परन्तु उनकी जगह फूलों की वेणियों, कौड़ियों की मालाओं तथा पक्षियों के पंखों से वे अपने आपको अलंकृत करते हैं।

हिमाचल प्रदेश की १५००० और १८००० फीट की ऊँचाई पर रहने वाले नर-नारियों को सर्दी से बचने के लिये ऊन तथा सूत के भारी-भरकम लबादे पहिनने पड़ते हैं। पुरुष और स्त्रियों को एक ही तरह के ऊनी तंग पायजामें पहिनने होते हैं। पुरुष और स्त्रियों की पोशाकों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी नृत्य की पोशाक भी प्रायः वही होती है। स्त्रियों का सजाव-शृंगार, जो भी होता है वह इन लबादों के ऊपर ही होता है। अतः वह बहुधा अंग का शृंगार न होकर इन लबादों का ही शृंगार होता है, क्योंकि मुँह को छोड़कर शरीर के सब अंग-प्रत्यंग कपड़ों से ढके रहते हैं। केवल मुँह ही एक ऐसा प्रत्यंग है, जहाँ अलंकरण के लिए कुछ गुंजाइश रहती है। यही कारण है कि इनकी स्त्रियों के कान, नाक कई जगहों से छिदे रहते हैं और चांदी तथा अन्य धातुओं के अलंकरण से वे लदे रहते हैं।

लोकनृत्यों में मुखविन्यास की कल्पना प्रायः नहीं के बराबर है। अपने मुँह को सफेदी से पोतने तथा आँखों में काजल तथा ओठों पर लाली लगाने की समस्त कल्पना आधुनिक है और उसका सम्बन्ध केवल प्रदर्शन से है। लोकनृत्य प्रायः स्वान्तःसुखाय होते हैं, अतः उनमें दिखावे की भावना नहीं के बराबर है। व्यवसायिक लोकनृत्यों में भी मुख-शृंगार की प्रवृत्ति लगभग नहीं के बराबर है। साधारणतः काजल-टीकी से अपने को सजाने की जो आदत स्त्रियों में होती है, उसका सम्बन्ध नृत्य से न होकर उनकी नारीसुलभ आदत से है।

लोकनृत्य और गीत

लोकगीत नृत्यों के प्राण हैं, जो उनके साथ लिपटे रहते हैं। कुछ ही नृत्य ऐसे हैं, जो बिना गीतों के चलते हैं। ऐसे नृत्य लयप्रधान, शारीरिक

कसरतों के नृत्य होते हैं, जो ताल में शरीर के करतब दिखलाने मात्र के लिये होते हैं। स्वतंत्र गीत की रचना बिना नृत्य के होती है, परन्तु स्वतंत्र नृत्य की रचना बिना गीत के नहीं होती। भावनाओं के विशिष्ट क्षणों में, जब जनसमूह थिरक उठता है, तो उनके साथ ही कुछ लयप्रधान धुनें अज्ञात ही में शब्दों का परिधान पहिन लेती हैं। जब जनसमूह की भावोद्रेक की स्थितियाँ तीव्रतम होती हैं तो उनका अंग-संचालन भी अत्यन्त तीव्रतम होता है और उनके साथ जुड़ीहुई गुनगुनाहट भी अत्यन्त तीव्रतम धुनों का संचार करती। है कुछ व्यवसायिक नृत्यों को छोड़कर कोई भी लोकनृत्य ऐसा नहीं, जिसको गीतों का परिधान बाद में पहिनाया जाता हो। गीत नृत्य के साथ ही प्रकट होते हैं, तथा आधुनिक नृत्यों की तरह वे बाद में नहीं जोड़े जाते हैं।

भावोद्रेक के कुछ क्षण ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमें रचयिता की गुनगुनाहट, जो स्वरों के तानेबाने के साथ अज्ञात ही में रचयिता के कंठ पर बैठ जाती है, अंग-संचालन को भी प्रेरित करती है। अनायास ही ऐसी गुनगुनाहट के साथ अंग-प्रत्यंग चलने लगते हैं, तथा स्वयं गुनगुनाहट को शब्द मिलते हैं। ऐसी असाधारण परिस्थितियाँ असंख्य जनसमुदाय में असंख्य बार उपस्थित होती हैं, परन्तु बिरले ही योग ऐसे होते हैं जो नृत्य-गीतों का रूप धारण करते हैं। इन गीतों तथा गीतनृत्यों के पोषण के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं होने से वे अपनी उत्पत्ति के साथ ही नष्ट भी हो जाते हैं।

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि नृत्य-आवेगों के साथ गीतों का समागम नहीं होता। अंग-संचालन को जिस विशिष्ट भावोद्रेक की आवश्यकता होती है, वह असाधारण उद्रेक होता है। आवेग ही आवेग में शरीर का अंग-प्रत्यंग फड़क उठता है। उस समय शब्द-संचार की गुंजाइश इसलिये नहीं रहती कि वह आवेग तूफ़ानी होता है। शब्दों के तनिक नियोजन-प्रायोजन के लिये बोधगम्य आवेग की आवश्यकता रहती है। यह चैतन्य बहुधा विद्यमान नहीं रहता। यही कारण है कि लोकनृत्य की उद्गम-स्थितियाँ अत्यंत असाधारण और कठिन हैं। अतः जहाँ लोकगीत हज़ारों में विद्यमान हैं वहाँ लोक-नृत्य उंगलियों पर गिने जा सकते हैं।

लोकनृत्यों के साथ प्रायः वे ही गीत जुड़ते हैं, जिनके गेय तथा शाब्दिक गुण बहुधा नहीं के बराबर होते हैं। भावोद्रेक के समय वाणी का संचार स्वरों के रूप में सर्वप्रथम होता है, उसके बाद शब्दों का योग मिलता है। इनके साथ अंग-संचार एक असाधारण स्थिति में होता है, जो दोनों पूर्व की स्थितियों की

चरमसीमा है, जो बहुधा स्वर और शब्द को मारकर आगे बढ़ जाती है और बाद में सबको संग लेकर समाधिस्थ भी हो जाती है। यदि कोई चीज जीवित रह भी जाती है तो वह है अंगों का असंयत संचालन और उसके साथ चलनेवाले लयप्रधान स्वर सम्मिश्रित शब्द, जो अंग-संचालन को मरने से बचाते हैं। यही अंग-संचार बाद में संयत रूप धारण करता है। उसके साथ जो गीत जुड़ जाता है, वह केवल लय के रूप में जीवित रहता है। उसके शब्दों में कोई ताक़त नहीं रहती। शब्द और स्वर दोनों ही नृत्य को पुष्ट करते हैं। ये नृत्य धीरे-धीरे व्यक्ति से समष्टिगत होते हैं और सामाजिक स्तर प्राप्त करते हैं।

नृत्यों के साथ प्रयुक्त होनेवाले गीत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नृत्यों के साथ ही जन्म लेते हैं, अतः उनमें गीतों की प्रधानता रहती है। गीतों के साथ अंगभंगिमाएँ जुड़ी रहने के कारण गीतों की स्वर-रचनाएँ अत्यन्त सरल तथा लय अत्यन्त पुष्ट रहती है। पुष्ट लय के आधार पर ही अंगभंगिमाओं का लालित्य निर्भर है। इन गीतों का शाब्दिक कलेवर बहुधा महत्त्वहीन होता है। उनके वर्णनात्मक प्रसंग, जो बहुधा भावाभिव्यक्तिहीन होते हैं, नृत्यों की लय और भंगिमाओं को प्रधानता देते हैं। ये गीत इन नृत्यों के साथ आजीवन जुड़े रहते हैं। इनका पारस्परिक भावात्मक सम्बन्ध होता है, अतः इनके जोड़तोड़ से भारी नुकसान की आशंका रहती है। इन गीतों के शब्द-कलेवर से नृत्यों की भंगिमाओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीत केवल नृत्यों की गरिमा एवं उनके सामाजिक तथा संगठनात्मक तत्त्वों की मदद करते हैं। यदि गीत बन्द हो जायँ तो स्वभावतः नृत्य भी बन्द हो जाते हैं।

कुछ नृत्य ऐसे होते हैं, जो गीतों के साथ जन्म नहीं लेते। वे किसी लय विशेष पर आधारित रहते हैं। इन नृत्यों के उद्गम में प्राकृतिक ध्वनियों तथा जलप्रपातों की लयप्रधान चपेटों, बादलों के गर्जन तथा तूफ़ानी ध्वनियों का बड़ा हाथ रहता है। निरंतर ही इन आवाज़ों को सुनते हुए मनुष्य के अंग फड़कने लगते हैं और बार-बार इन क्रिया-प्रक्रियाओं से ये भंगिमाएँ शरीर में रूढ़ हो जाती हैं। मनुष्य अनादिकाल से इन ध्वनियों पर आनन्दोल्लसित होता आया है। ये ही भंगिमाएँ उसके जीवन की अज्ञात प्रेरणा बन जाती हैं। उनका स्थायित्व नहीं होता, क्योंकि वे आती हैं और नष्ट हो जाती हैं। ये प्रेरणाएँ मूर्तरूप तब धारण करती हैं, जब उनके अनुरूप ही उन्हें किसी अन्य

माध्यम से लय प्राप्त होती है। जैसे किसी ढोल की लय पर अनायास ही पद-संचार होना तथा अंगों का फड़कना। इस तरह ढोल, ढोलक, झांझ, नक्काड़े आदि की प्रेरणादायी चोटों पर मनुष्य की परम्परागत तथा अनुभवगत भंगिमाएँ स्वरूप धारण करती जाती हैं। इन वाद्यों की लयप्रधान चोटें ही भंगिमाओं को वैविध्य की ओर प्रवृत्त करती हैं। इन भंगिमाओं के साथ गीतों की संगति इसलिये आवश्यक नहीं होती कि इन वाद्यों द्वारा निकली हुई लय ही गीतों का काम करती है। ऐसे नृत्य अत्यंत प्रेरणादायी और ओजपूर्ण होते हैं।

लोकनृत्य और भंगिमाएँ

लोकनृत्यों की समस्त भंगिमाएँ स्वान्तःसुखाय, लयकारी, सहज तथा कल्पनासंगत और उल्लासकारी होती हैं। भावोद्रेक से उद्भूत भंगिमाएँ धीरे-धीरे अभ्यास, प्रचार, प्रसार तथा सामाजिक संपर्क से प्रांजल होती जाती हैं और पूर्णरूप से विकसित होकर रूढ़ सी हो जाती हैं। ये भंगिमाएँ लोकगीतों की स्वर-रचना की तरह ही सामाजिक धरोहर बनकर समस्त समाज की स्नेह-भाजन बनती हैं। रूढ़ भंगिमाओं का कोई निर्धारित अर्थ नहीं होता। अर्थ यदि है तो उनके साथ जुड़ी हुई धुनों तथा लय के विविध प्रकारों के साथ बंधा हुआ होता है। इन भंगिमाओं का गूढ़ अर्थ नृत्य की आत्मा के साथ जुड़ा हुआ होता है। लोकाधार प्राप्त करने के बाद तथा समाज की रीतिनीतियों तथा संस्कारों को आत्मसात् करने के उपरान्त इन नृत्यों में किसी प्रकार का आंतरिक परिवर्तन असंगत होता है। यही कारण है कि गुजरात के गरबे एवं राजस्थान के घूमरनृत्यों में क्षेत्रीय अंतर के उपरान्त उनका मूल स्वरूप प्रायः एक सा ही होता है।

शास्त्रीय नृत्यों की तरह लोकनृत्यों की मुद्राएँ पूर्वनिश्चित नहीं होती, न उनकी मुद्राओं का कोई शास्त्र ही होता है। प्रेरणामूलक जो भी भंगिमाएँ उनके साथ रूढ़ हो गई हैं उनका कोई अर्थ नहीं है। लोकनृत्यों में गीतों के अर्थों को मुद्राओं के माध्यम से उलथाने की भी कोई परम्परा नहीं है। उनमें नृत्यनाट्यों के अतिरिक्त अभिनय या अभिनयात्मक तात्पर्य प्रकट करने का कोई प्रचलन नहीं है, न उनका गीतों के अर्थों से ही कोई लाक्षणिक या व्यंजनात्मक सम्बन्ध होता है। लोकशैली के नृत्यनाट्यों में जहाँ भी संवादी गीतनृत्य हैं, वहाँ भी अंग-संचालन गीतों के आधार पर प्रेरणामूलक मुद्राओं तथा अंगभंगिमाओं के माध्यम से होता है, परन्तु लोकनृत्यों के गीतों के साथ अंग की

मुद्राएँ तथा पदचापें लय के साथ अपने बंधे हुए क्रम में पुनरावर्तित रहती हैं। गीत भी अबाध गति से उनके साथ चलता ही रहता है। प्रयोक्ताओं को यह भी भान नहीं रहता कि वे नाच के साथ गा भी रहे हैं। ये दोनों चीजें जुड़ी हुई होते हुए भी एक दूसरे से अलग ही हैं।

लोकनृत्यों की भंगिमाओं में हाथ, कंधे, कटि, ग्रीवा तथा पद-संचालन की प्रधानता रहती है। हथेली की कारीगरी तथा उंगलियों की बारीकियाँ उनमें नहीं होतीं। नयन, भृकुटि, ग्रीवा, ठुड्डी, कलई आदि के संचालन से लोकनृत्य अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता। सहजगति से ताल-स्वर पर चलने वाले ये अंग-प्रत्यंग नृत्य की शोभा में हाथ बंटाते हैं। लोकनृत्यों की पदचापें भी सरल और सहज होती हैं। उनमें चाल तथा लय का वैविध्य अवश्य होता है, परन्तु वे नृत्यकारों को क्लिष्टताओं में नहीं उतारतीं। गीत गाते हुए सहज गति से जो पद-संचालन होता है उसका ही निभाव लोकनृत्यों में हो सकता है। कभी-कभी तो लोकनृत्यों की बनावट सहज गति से ही इतनी प्यारी बन पड़ती है कि उल्लास ही उल्लास में नृत्यकार अनेक कठिन पदचापों की सृष्टि करता है।

लोकनृत्यों में अंगभंगिमाओं की विविधता उनकी उल्लासकारी प्रकृति पर आधारित रहती है। यदि गीतों की लय में और उनकी रचना में प्रेरणा-मूलक गुण है तो निश्चय ही अंगों का संचालन भी उनके साथ प्रेरणामूलक होता है। यदि लय ही मृतप्राय और प्रेरणाहीन है तो पद-संचालन के अतिरिक्त मुद्राओं का वहाँ कोई विशेष लालित्य दृष्टिगत नहीं होता है। गीतों की स्वर-रचना में यदि प्रेरक तथा मनोमुग्धकारी गुण हैं तो नृत्यमुद्राओं का भी उन्हें सहज संयोग मिल जाता है। ये स्वर-रचनाएँ जो मूल में किसी विशेष भावोद्रेक की स्थिति में ही होती हैं, रचयिता की उल्लासकारी मनः स्थिति की ही द्योतक होती हैं। ये ही मनःस्थितियाँ उनके साथ जुड़ी हुई अंगभंगिमाओं में भी स्वर-रचना की तरह ही व्यक्त होती हैं। उनका समस्त वैविध्य स्वर-रचना और उनमें निहित लय के वैविध्य पर निर्भर करता है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया से असंख्य कल्पनाओं और उल्लासकारी रचनाओं को अपने में निहित करके स्वतः ही परिपुष्ट होता रहता है।

आदिवासियों के लोकनृत्य

आदिवासियों के नृत्य यद्यपि लोकनृत्यों की श्रेणी में ही आते हैं, परन्तु कई कारणों से उनका पृथक् वर्गीकरण आवश्यक है। इन कुछ वर्षों में लोक-नृत्यों से सम्बन्धित सैद्धान्तिक ज्ञान की कमी के कारण आदिवासियों के नृत्य

ही लोकनृत्य समझे जाते हैं। आदिम लोकनृत्यों के पीछे एक विशिष्ट भावना है। उसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

आदिवासी वे ही हैं, जो अपने रहनसहन, वेशभूषा, आचारविचार, रस्मरिवाज तथा धार्मिक और सामाजिक भावनाओं में आदिम हैं, अथवा जिन्होंने आदिम मानव की कई विशेषताओं को आज की सभ्यता से बचाकर सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि आदिवासी, जो किसी समय भारतवर्ष के आदिनिवासी थे, धीरे-धीरे अपने को बाहरी आक्रमणकारियों के प्रभाव से बचाने के लिये घाटियों और जंगलों में चले गये। इसलिये आज के भील, गोंड, कोरकू, बेगा, मूड़िया, उरांव, संथाल, नागा आदि जातियां पहाड़ों और घाटियों में ही निवास करती हैं। इनमें से कुछ पर सभ्यता का कम और कुछ पर अधिक प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु फिर भी वे आदिमजातियों के मूल तत्वों को आज भी बचाये हुए हैं। इन सभी आदिम जातियों में, चाहे वे अरावली और विन्ध्याचल की पहाड़ियों में रहनेवाली हों, चाहे आसाम की पहाड़ियों में, चाहे नीलगिरि के निवासी हों, मूल मानवीय तत्वों (आकृति के अलावा) में समानता है। उनकी कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—(१) खुली हवा के प्रेमी तथा प्रकृति से अधिक निकट रहने के अभ्यस्त। (२) दैनिक मानवीय आवश्यकताओं से दूर और आजीविका के सम्बन्ध में प्रकृति पर अधिक निर्भर। (३) वस्त्राभूषण के मामले में भी प्रकृति के निकट और प्राकृतिक अलंकरण के रूप में ही अपने स्वयं के अलंकरण की रचना। (४) अत्यन्त सरल और मौलिक सामाजिक संगठन, जिसमें आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं की कमी। (५) वैयक्तिक कौटुम्बिक जीवन और स्वतंत्र एवं ढीला वैवाहिक सम्बन्ध, मूल आदिवासियों की तरह ही। (६) नृत्यगीत के शौकीन। (७) मौलिक प्रसाधनों की पूजा, धार्मिक विश्वासों में प्राथमिकता और जटिलता की कमी। (८) मौलिक प्राकृतिक शक्ति पर अंधभक्ति। (९) दुःख, सुख तथा अन्य मानवीय भावनाओं के संबंध में अत्यन्त व्यवहारिक और निरासक्त।

आदिमजातियों के ये गुण न केवल भारत ही की आदिमजातियों में पाये जाते हैं, वरन् संसार की सभी आदिमजातियों के भी प्रायः ये ही प्राथमिक गुण हैं।

यह भी स्वयंसिद्ध बात है कि किसी भी जातिविशेष के लोकनृत्यों में उस जाति की सामाजिक और धार्मिक विशेषता के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

आदिवासियों के लोकनृत्यों में भी उन विशेषताओं की पूर्ण झलक है। यही कारण है कि समस्त संसार के आदिवासियों के नृत्यों की ये विशेषताएँ हैं–

(१) अत्यंत ओजपूर्ण, शक्तिशाली अंगभंगिमाओं और लय-ताल की दृष्टि से अत्यंत सरल और सुगम।

(२) कतारबद्ध, गोलाकार तथा चौकौर और अर्ध-गोलाकार कतारों में संगठन और अंगभंगिमाओं के गठन में अत्यन्त चपल और चुस्त।

(३) अधिकतर मिश्रित नृत्य, स्त्री पुरुषों की भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, नृत्य के संग नाचते हुए भी अत्यन्त स्वस्थ और स्वाभाविक।

(४) नृत्यों के साथ चलनेवाले गीतों तथा ध्वनियों में सरलता, एक-रूपता तथा एकरसता। कभी-कभी वाद्यों का मूक प्रयोग, उनका दिखावा अत्यधिक आकर्षक, परन्तु वादन अत्यन्त सरल और प्राथमिक।

(५) नृत्यों के साथ चलनेवाले गीतों में शब्दों से अधिक ध्वनि का प्राधान्य तथा अधिकतर गूंज पैदा करनेवाले स्वर।

(६) सामाजिक नृत्य, कथानृत्यों का नितान्त अभाव।

(७) आकर्षक अलंकरण तथा प्राकृतिक पोशाक।

ये गुण लगभग सभी आदिम जातियों के नृत्यों में कुछ कम-ज्यादा अनुपात में पाये जाते हैं। उन पर अन्य स्थानीय विशेषताएँ तो हैं ही, फिर भी इन नृत्यों में पुरातन परिपाटी और परम्परा का बड़ा प्रभाव है। उनमें आधुनिक जोड़तोड़, बनाव, सजाव, शृंगार उनके गुणों को कम कर देते हैं। इनके नृत्यों में सहज संचालन का ही प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष के आदिमनृत्यों की अपनी अलग श्रेणी है। उन्हें अन्य लोकनृत्यों की श्रेणी में डालना उचित नहीं।

नृत्यों एवं नृत्यनाट्यों की लोकशैली का व्यवसायीकरण

पिछले परिच्छेद में यह दर्शाया गया है कि किसी भी विशिष्ट परिस्थिति में आनन्द का अतिरेक होता है तो हृदय में स्फुरण तथा अंगों का संचालन होना अत्यन्त स्वाभाविक है और जब वह प्रक्रिया कोई सामूहिक रूप धारण कर लेती है तो वह अधिक समय तक टिक कर जनरुचि का विषय बन जाती

है। इस परिस्थिति के साथ कोई विशेष मंतव्य, समारोह या विश्वास जुड़ जाता है तो इन लयबद्ध क्रियाओं की पुनरावृत्ति होने लगती है और अनेक वैयक्तिक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से वे एक बृहद् आनन्ददायी नृत्य का रूप धारण कर लेती हैं।

इस प्रक्रिया के अनेक रूप प्रकट होते हैं। कभी वह प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारणों से सामूहिक आनन्द का प्रतीक बन जाती है। कभी किसी धार्मिक तथा परम्परागत पर्व के साथ जुड़कर वह सामाजिक अनुष्ठान में बदल जाती है और कभी दैनिक एवं पारिवारिक जीवन के किसी विशिष्ट अनुष्ठानिक अवसर पर समस्त परिवार के आनन्द और विश्वास की अभिव्यक्ति बन जाती है। ये प्रक्रियाएँ बहुधा आदिमजातियों के जीवन में अधिक उभार पाती हैं, परन्तु अन्यत्र लोकजीवन में भी उनके नाना स्वरूप दृष्टिगत होते हैं।

लोकशैली के व्यवसायीकरण की पृष्ठभूमि

इस सामूहिक आनन्द का स्फुरण लोकजीवन में आंगिक अभिव्यक्ति से कहीं अधिक लय की अभिव्यक्ति में प्रकट होता है और वह आनन्द नानाप्रकार के गीतों को जन्म देता है। ये गीतनृत्य प्रारम्भ में केवल आनन्द ही की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं, बाद में आयोजन, नियोजन तथा सामाजिक प्रतिभा के जोड़तोड़ से उनमें कलात्मक निखार आता है और वे विशिष्ट त्यौहार, पर्व तथा समारोहों की शोभा बन जाते हैं। गीत नृत्यों की यह अनूठी गंगा लम्बे समय तक बहते, घिसते तथा व्यवहृत होते-होते अपनी विशुद्ध आनंदोद्रेक की सीमा छोड़कर प्रदर्शनात्मक गुण पकड़ लेती है और आगे जाकर धीरे-धीरे व्यवसायिक कला में परिवर्तित हो जाती है। व्यवसायिक लोकगीत-नृत्यों का यह विशिष्ट प्रकार आदिमकला और सामुदायिक लोककला की तीसरी सीढ़ी है, जो अपनी समस्त प्रेरणाएँ अपने पूर्व के दो स्वरूपों से प्राप्त करती है। आदिमकला विशुद्ध स्वान्तःसुखाय भावोद्रेकमयी कला है और उसी दायरे में बढ़ती, पनपती तथा संचरित होती है, परन्तु सामुदायिक लोककला, जिसका उपयोग अन्य ग्रामीण जातियाँ करती हैं तथा जिसकी व्यंजनाएँ अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण होती हैं, सीमाओं को नहीं मानती और नितप्रति अपनी कला-सामग्री की अभिवृद्धि में नवीन रस-स्रोत की ओर उन्मुख रहती है। यही सामुदायिक लोककला अपने सामुदायिक रूप से बाहर निकल कर कुछ विशिष्ट कलाकार एवं कलादल की प्रतिभा के साथ जुड़ जाती है और समाज के प्रबल मनोरंजन की साधन बन जाती है।

आदिम जीवन में नृत्य के व्यवसायीकरण तथा प्रदर्शनीकरण की कल्पना ही अत्यंत हेय कल्पना है, क्योंकि कोई भी आदिवासी अपने आनंद के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पसंद नहीं करता। वह आनन्द स्वयं प्रकट करता है और उसके साथ संस्कारवश जुड़ जाता है, परन्तु अन्य ग्रामवासी अनेक सामाजिक परिस्थितियों के कारण बहुधा इस सहज और अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया से कतराता है, जिसके फलस्वरूप वह आनन्दप्रदायन का कार्य कुछ व्यवसायिक जातियाँ स्वयं उठा लेती है। ये विशिष्टजन अपनी विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा से कुछ प्रचलित नृत्यगीतों को अत्यंत रंगीन एवं चमत्कारिक बनाकर पेश करते हैं।

आनंदाभिव्यक्ति में गायन ही ऐसी प्रक्रिया है, जो आदिम जीवन, लोक-जीवन तथा शहरी जीवन में कोई फर्क नहीं देखती और कहीं न कहीं उसका प्रकटीकरण किसी न किसी रूप में होता ही है। इस प्रक्रिया को सामाजिक हीनता का शिकार तब तक नहीं होना पड़ता, जब तक वह केवल आत्मानन्द तक ही सीमित रहे। जब वह व्यवसाय या विशिष्ट प्रदर्शनात्मक तत्त्वों से घिर जाती है तो निश्चय ही उसका दायरा छोटा हो जाता है। आदिमजीवन में तो इसका कोई भी भय नहीं है, क्योंकि वहाँ सामाजिक बंधन है ही नहीं। वहाँ तो गीत ही क्या स्वयं नृत्य भी सामाजिक गौरव का प्रतीक होता है। दोनों गेय प्रक्रियाओं में इतना फर्क अवश्य है कि आदिम-गेय अभिव्यक्ति में गीतों की रंगीनियाँ कम होती हैं तथा विषय, शब्द तथा स्वर का वैविध्य प्रायः नहीं होता जबकि अन्य लौकिक गेय अभिव्यक्ति में इनका बहुत ही सुन्दर विस्तार होता है। यही बात नृत्यों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

नृत्य एवं गीतों की इन विविध प्रक्रियाओं को नाना स्वरूप तथा स्तर पकड़ते हुए सहस्रों वर्ष बीत गये हैं और जैसे-जैसे समाज का विकास होता है तथा अपनी विशुद्ध भावात्मक पक्ष से बाहर निकलकर वे बौद्धिक तत्त्वों का सहारा पकड़ती है, वैसे-वैसे इनका स्वरूप भी बदलता रहता है। आज तो नृत्यगीतों की अनेक श्रेणियाँ बन गई हैं। कहीं वे केवल आनन्द की अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं। कहीं वे जीवन के अनुष्ठान के रूप में नजर आते हैं। कहीं वे केवल रूढ़िमात्र रह गये हैं। कहीं वे शास्त्रीय कला के समकक्ष आगये हैं तो कहीं वे स्वयं शास्त्रीय बन गये हैं। अतः आज नृत्यगीत की स्थिति केवल आनन्दोद्रेक तक ही नहीं रही है। स्वयं आदिमजातियाँ भी सभ्यता की नवीन

रोशनी देखकर बड़ी तेजी से अपनी नृत्यगीत-परम्परा को खो रही है। लोकजीवन में तो नृत्य केवल कुछ अनुष्ठानों तथा त्योहारों तक ही सीमित रह गया है और वह भी अपने सामूहिक तथा सामुदायिक रूप में नहीं।

इसी सामाजिक हीनता के कारण नृत्यगीतों का बड़ी तेजी से व्यवसायीकरण होने लगा है। शास्त्रीय कला तो व्यवसाय पर आधारित है ही और वही उसके विकास का माध्यम भी है, परन्तु लोकनृत्य में भी यह प्रक्रिया अधिक से अधिक बलवती बनती जा रही है। आज यदि विशुद्ध सामुदायिक एवं आनन्दप्रद नृत्य देखना है तो वह केवल आदिमक्षेत्रों में ही देखा जा सकता है। लौकिक जीवन में केवल उसकी कहीं-कहीं झाँकियाँ ही प्राप्त होती हैं। शहरी जीवन में प्रायः उसका लोप ही हो गया है। ये विशिष्ट कला-जातियाँ अपने व्यवसायिक नृत्य एवं नृत्यनाट्यों से समाज के विशिष्ट तत्त्वों को पारिश्रमिक लेकर मनोरंजित करती हैं।

इस विशिष्ट प्रक्रिया के कारण हमें आज लोकनृत्यों को इस पृष्ठभूमि में देखने की आदत डालनी है। इसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण आज सामुदायिक लोकनृत्य आदिम लोकनृत्यों के रूप में ही देखने को मिलते हैं। अन्य जातियों के सामुदायिक लोकनृत्य कुछ ही अवसरों पर देखे जा सकते हैं। ये जातीय नृत्य राजस्थान में होली तथा गणगौर के अवसर पर, घूमर, घूमरा, गींदड़ के रूप में, असम में शादी-विवाह के अवसर पर हुरि-बजनाई, बैलागु, बोड़ आदि के रूप में, पंजाब में कातिक एवं बैसाखी के अवसर पर भांगड़ा तथा गिद्दा के रूप में, ब्रजभूमि में होली या चैती के मौके पर नानाप्रकार के रास तथा फाग के रूप में, महाराष्ट्र में जन्माष्टमी के अवसर पर दही काला तथा गणपति उत्सव पर लेझिम नृत्य के रूप में, आंध्र-प्रदेश में दशहरा के अवसर पर डंडारिया नृत्य के रूप में, मणिपुर में बसंत के अवसर पर राखल एवं मंडल भु'रवी के रूप में तथा मध्यप्रदेश के आदिम-क्षेत्रों में विविध पर्व, उत्सवों पर होनेवाले कर्मा एवं डमकच नृत्यों के रूप में भली प्रकार देखे जा सकते हैं। इनके अलावा जीवन के दैनिक प्रसंगों में तो इनका प्रायः लोप ही हो गया है।

आदिमनृत्यों को छोड़कर अन्य जातियों के सामुदायिक लोकनृत्यों में भी बहुधा निम्नवर्गीय या श्रमवर्गीय जातियाँ ही भाग लेती हैं। उच्च-वर्गीय जातियों में तो नृत्य आज केवल अनुष्ठानिक रूप में चिपका रह गया है। जैसे राजस्थान की घूमर जो विशिष्ट पर्वों पर उच्चवर्गीय स्त्रियों द्वारा

भी नाची जाती है और जिसमें केवल औपचारिकता के अलावा विशेष कला नहीं है। यही घूमर जब राजस्थान की व्यवसायिक जातियों की स्त्रियां जैसे ढोलन, पातरन, सरगड़िन, दरोगन आदि नाचती हैं तो उसमें नानाप्रकार की रंगीनियों एवं नृत्यरचनात्मक (Choreographical) सामग्री के दर्शन होते हैं। इसी तरह दशहरा, दिवाली के अवसर पर गुजरात की प्रायः सभी वर्ग की स्त्रियां गरबा या डांडिया रास करती हैं, परन्तु व्यवसायिक या निम्नवर्गीय जातियों द्वारा किये हुए गरबे अन्य उच्चवर्गीय या केवल औपचारिक रूप से किये हुए नृत्यों से कहीं अधिक रंगीन एवं वैविध्यपूर्ण होते हैं। राजस्थान में भी होली के अवसर पर गैर नामक नृत्य सामुदायिक रूप से अनेक जातियों द्वारा किया जाता है। स्वांतःसुखाय एवं विशाल समुदाय द्वारा एक ही साथ होने के कारण यह नृत्य अत्यन्त सरल होता है। ढोल या नक्काड़े की लय पर जन-समुदाय गोलाकार चलते हुए अपने डंडों को आपस में टकराता है। उसमें कहीं विशेष रंगीनी या दर्शनीय सामग्री नहीं होती। यही नृत्य राजस्थान के शेखा-वाटी क्षेत्र में गींदड़ के रूप में बदल जाता है। वहां के प्रत्येक गांव और शहर में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के रूप में इस नृत्य ने बड़ी महिमा प्राप्त करली है। इसमें लगभग सभी वर्ग के लोग भाग लेते हैं, तथा यह एक सार्वजनिक अनुष्ठान के रूप में विकसित हुआ है। शेखावाटी का एक अन्य अनुष्ठा-निक नृत्य चौकचांदनी और है जो गणेशचतुर्थी के दिन एक विशाल सामुदा-यिक जलूस के रूप में प्रकट होता है। कुछ अनुष्ठानिक नृत्य ऐसे भी हैं, जो न केवल निम्नवर्गीय जातियों के साथ ही बल्कि उच्चवर्गीय जातियों के साथ भी जुड़े हुए हैं, जिनके बिना कोई भी विशिष्ट प्रसंग सम्पन्न हुआ नहीं समझा जा सकता। राजस्थान की उच्चवर्गीय जातियों में जब विवाह-उत्सव के अवसर पर विनायक पूजा का प्रसंग आता है तो कुम्हार के घर से समारोह के साथ कलश लाने होते हैं। उससे पूर्व कुम्हार के चाक की पूजा करते समय किसी भी प्रतिष्ठित महिला को नाचना आवश्यक होता है। उस नृत्य में यद्यपि कला के कहीं दर्शन नहीं होते, परन्तु वह नृत्य एक तरह से उस प्रसंग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान बन गया है। राजस्थान की कुछ जातियों में जब दूल्हा, दुलहिन को लेकर समारोहपूर्वक घर आता है, तो दूल्हे की काकी को रास्ते भर नाचतेहुए आना पड़ता है। इस प्रकार के अनेक अनुष्ठानिक प्रसंग हैं जिनके साथ नृत्य आज भी चिपका हुआ रह गया है।

नृत्यों के ऐसे अनुष्ठानिक प्रसंग एक नहीं अनेक है। मेवाड़भूमि के प्रसिद्ध चारभुजा के मंदिर में जब भादों की देवझूलनी एकादशी का वृहद् मेला

लगता है तो मुख्य मंदिर में माहेश्वरी जाति के उच्चवर्गीय पुरुषों को सामूहिक रूप से घंटों नाचना होता है। इसी प्रकार राजस्थान के जैन मंदिरों में संवत्सरी पर्व पर वैश्य कुल के बड़े-बड़े वयोवृद्ध एवं प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्तियों को नाचना अनिवार्य होता है। इस प्रकार के अनुष्ठानिक प्रसंग तो लगभग सभी राज्यों में सभी उच्चवर्गीय जनसमुदाय में आज भी दृष्टिगत हो सकते हैं, परन्तु उनका अन्य स्वान्तःसुखाय सामुदायिक स्वरूप जो जीवन का अंग बन गया हो, बहुत ही कम देखने को मिलता है।

लोकनृत्यों का व्यवसायीकरण

पिछले १०० वर्षों में लोकनृत्यों को व्यवसायिक बनाने की प्रवृत्ति लगभग सारे ही देश में चल पड़ी है। अब अधिकांश सामुदायिक लोकनृत्य सामुदायिक न रहकर व्यवसायिक स्वरूप पकड़ रहे हैं। इस प्रक्रिया के पोषक तत्वों में देश का वर्तमान औद्योगीकरण, समाज को आक्रान्त करनेवाली आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं तथा जीवन को नीरस एवं कुंठित करनेवाले बौद्धिक तत्व विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन में परम्परागत निष्ठा, विश्वास तथा किसी विशिष्ट व्यक्ति, विचार एवं शक्ति के प्रति अलौकिक आस्था के अभाव में भी मनुष्य ने अपने भावात्मक तत्वों को खो दिया है, तथा ऐसी सब परम्पराओं को त्याग दिया है, जिनके साथ नृत्य, गान, नाट्य आदि अटूट विश्वास के रूप में जुड़े हुए थे। इसलिये भी वे अब जीवन के अभिन्न अंग नहीं रहे। अतः इस युग में केवल बाह्य माध्यम से मनोरंजित होने की प्रक्रिया दिन ब दिन ज़ोर पकड़ती जारही है और स्वान्तःसुखाय एवं स्वरचित मनोरंजन की प्रक्रिया लुप्तप्राय सी हो रही है। दिन भर के व्यस्त एवं चिन्ताग्रस्त जीवन के लिये केवल कुछ खर्च करके मनोरंजनगृह में जाकर अपना मन बहलाव करना ही पर्याप्त समझा जारहा है और मनोरंजनात्मक क्रियाओं में स्वयं निरत होना फैशन से बाहर हो गया है।

यही कारण है कि शहरों में जिस तरह सिनेमा तथा नाटकघरों की संख्या बढ़ रही है, उसी तरह गांवों में भी व्यवसायिक मनोरंजन की प्रक्रिया दिन ब दिन ज़ोर पकड़ती जारही है। पहले गांवों में स्वयं नाटक रचकर उसे एक सामुदायिक रूप में खेलने की आदत थी, वह प्रायः लुप्तप्राय सी हो रही है और व्यवसायिक नाटक मंडलियों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है। इसी तरह स्वयं नाच गा कर मनोरंजित होने की आदत कम पड़

रही है और व्यवसायिक नाच करनेवाली जातियों की अभिवृद्धि हो रही है। किन्हीं-किन्हीं गाँवों में मनोरंजन के आधुनिक ढंग भी सस्ती चलचित्रों के रूप में प्रवेश पाने लगे हैं। आदिवासी स्वयं भी आधुनीकरण की चकाचौंध में अपने स्वान्तःसुखाय सामुदायिक मनोरंजन को खो रहे हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या मनोरंजन की लोक परम्पराएँ व्यवसायीकरण के युग में जीवित रह सकती हैं? इसका उत्तर केवल इस तथ्य से ही मिल सकता है कि यह व्यवसायीकरण की परम्परा केवल इसी युग की देन नहीं है, बल्कि अनादिकाल से ही सामुदायिक कलाओं का व्यवसायीकरण होता आ रहा है। शास्त्रीय कलाएँ भी एक प्रकार से लोककला के व्यवसायीकरण को ही स्वरूप हैं। यद्यपि दोनों में तात्विक दृष्टि से काफ़ी अन्तर है। व्यवसायिक लोककलाओं में लोककला के प्रायः सभी तत्व विद्यमान हैं। परन्तु शास्त्रीय कला में लोककला के कोई तत्व विद्यमान नहीं हैं। सामुदायिक लोककलाएँ किस तरह व्यवसायिक रूप धारण करती हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मथुरा शैली की व्यवसायिक रामलीला है। यही स्थिति उत्तरप्रदेश की रासलीलाओं की है। मन्दिरों में होनेवाले नाना प्रकार के कीर्तनों के साथ प्रस्तुत की जानेवाली भगवान् की नाना प्रकार की झाँकियाँ धीरे-धीरे व्यवसायिक रासलीलाओं में परिणत हुईं जिन्हें रासधारिये गाँव-गाँव, नगर-नगर लिये फिरते हैं। यही हाल बंगाल और बिहार की जात्राओं का है। भक्त यात्रियों के बड़े-बड़े दल नाचते, गाते तथा नाना प्रकार की लीलाएँ करते हुए एक स्थल से दूसरे स्थल को यात्रा के रूप में जाते थे। यही प्रक्रिया धीरे-धीरे विशिष्ट नाट्य-शैली का रूप धारण करती गई और कालान्तर में व्यवसायिक जात्रा में बदल गई।

यही रूपान्तर मणिपुर के लोकधर्मी सामुदायिक नृत्य में भी हुआ और कहीं-कहीं तो उसने विशिष्ट शास्त्रीय रूप पकड़ लिया है। दक्षिण भारत की कथकली, यक्षगान, कुचपुड़ी तथा नृत्य-परम्पराओं के संबंध में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है। राजस्थान के तो प्रायः सभी लोकनाट्य तथा अधिकांश लोकनृत्य आज अपने सामुदायिक रूप को छोड़कर अपने व्यवसायिक स्वरूप में आगये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई कला अपने लोकधर्मी सामुदायिक स्वरूप को छोड़कर विशिष्ट व्यवसायिक कला का रूप धारण कर शास्त्रीय कला का भान कराती है।

लोकशैली के व्यवसायीकरण में दिशानिर्देश

लोककला के सामुदायिक तथा स्वान्तःसुखाय स्वरूप ही को लोककला मानने का तर्क अब अधिक समय तक हमारे देश में मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ अनुष्ठानिक अवसरों तथा आदिम जीवन के कुछ प्रसंगों को छोड़कर लोककला का सामुदायिक स्वरूप हमारे देश में शेष नहीं रह गया है। जो भी आज शेष है, उसमें व्यवसायिक लोककला की ही प्रधानता है। अतः यह अत्यंत विचारणीय प्रश्न है कि क्या इस व्यवसायीकरण को किसी दिशा-निर्देश तथा नियोजन-आयोजन की आवश्यकता है, जिससे लोककला का सही स्वरूप अक्षुण्ण रह सके और उसको जीवन की इन परिवर्तित स्थितियों में बढ़ावा मिल सके। यह भी सोचना अनुचित नहीं होगा कि व्यवसायिक लोककला के इस बढ़ते हुए व्यवसायिक तथा प्रदर्शनीय पक्ष को आज सर्वाधिक प्रश्रय मिल रहा है। किसी भी सार्वजनिक समारोह में, चाहे वह सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर हो या किसी स्कूल, कालेज, जाति, संप्रदाय या व्यक्ति-विशेष से संबंधित हो, लोकनृत्य का कार्यक्रम प्रायः अनिवार्य सा होगया है। परम्परागत या अनुष्ठानिक समारोहों में तो व्यवसायिक लोकनृत्यों के कार्यक्रम परम्परा से ही जुड़े होते हैं, परन्तु आज के अधिकांश समारोहों में, जिनका सम्बन्ध परम्परा या किसी अनुष्ठान-विशेष से नहीं होता, जो नृत्य पेश किये जाते हैं, वे बहुधा मौलिक न होकर केवल नकल मात्र होते हैं। कहीं-कहीं तो यह नकल केवल पोशाक तक ही सीमित रहती है। आज की फिल्मों में तो इन बेमेल पोशाकों और नृत्यों का मेला ही दीख पड़ता है। इन आधुनिक मनोरंजन के लिये उनमें प्रयुक्त होनेवाले लोकनृत्य और लोकगीत तो आधुनिक रचयिताओं के दिमाग ही की उपज होते हैं। उनमें जनता की रुचि भी मौलिक लोकनृत्यों से कहीं अधिक निहित रहती है, क्योंकि आधुनिक फिल्मी रचना-विधि की सम्पूर्ण कलाबाजी का उनमें समावेश होता है और दर्शकों में चकाचौंध पैदा करने की उनमें भरपूर क्षमता होती है।

अन्य आधुनिक समारोहों में जो नकली लोकनृत्य और गीत पेश होते हैं, उनमें तो फिल्मी कला जितनी भी सामर्थ्य नहीं होती। लोकनृत्यों के इस बेमेल आधुनीकरण के कारण स्वयं मौलिक लोकनृत्यकार भी अपनी कला को मौलिक से पेश करने में अपनी हीनता समझते हैं और वे स्वयं भी इस नकल में अपने आपको सम्मिलित कर देते हैं।

यह प्रवृत्ति न केवल ग्राम्य या शहरी क्षेत्रों में ही परिलक्षित होती है, बल्कि आदिम क्षेत्रों में भी इसके नाना रूप दिखलाई देने लगे हैं। विशेष

करके उन आदिम नृत्यकारों में, जिनके नृत्यों को प्रदर्शन का माध्यम बनाकर शहरी समारोहों में पेश किया जाता है, जिससे इन मौलिक नृत्यों का स्वान्तः-सुखाय पक्ष दुर्बल होकर उनका प्रदर्शनात्मक पक्ष प्रबल हुआ है. इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक कुप्रभाव तो आदिम जातियों के लिये विशेष रूप से स्थापित हुए स्कूलों, सार्वजनिक संस्थानों तथा आदिम कल्याण क्षेत्रों में परिलक्षित होता है, जिससे इनकी स्वान्तःसुखाय एवं मौलिक कला-बुद्धि पर परदा पड़ गया है। इन संस्थानों में प्रशिक्षित होनेवाले स्वयं भी अपनी मौलिक कला को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखने लगे हैं।

मौलिक लोकनृत्यों को परिवर्द्धित एवं संशोधित करके प्रस्तुत करनेवालों में पेशेवर नृत्यदलों का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने लोकनृत्य एवं लोकनृत्य शैलियों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इनमें से अधिकांश प्रयोग तो इसलिये भी असफल होते हैं, क्योंकि वे अध्ययन एवं स्वयं के व्यवहारिक अनुभव पर आधारित नहीं होते। उनमें से कुछ कला-निर्देशक तो ऐसे भी होते हैं जो स्वयं की उपज एवं कलाबुद्धि से लोकनृत्यों की रचना करने की चेष्टा करते हैं, जिससे उनका आकार-प्रकार लोकनृत्यों जैसा अवश्य लगता है, परन्तु उनमें लोकनृत्यों की आत्मा का स्पर्श भी नहीं होता। ये नकली लोकनृत्य फिल्मी नृत्यों की तरह कानों को भले अवश्य लगते हैं, परन्तु वे हृदय को स्पर्श नहीं करते।

कुछ नृत्यदल हमारे देश में ऐसे भी हैं जो लोकनृत्यों का आधार अवश्य ग्रहण करते हैं, परन्तु उनकी समस्त रचना में शास्त्रीय, लोक तथा आधुनिक नृत्यशैलियों की अत्यन्त बेमेल खिचड़ी पकती है। इन रचनाओं में सबसे अधिक निकृष्ट प्रवृत्ति यही है कि कहीं लोकनृत्य शास्त्रीय बनने की कोशिश करते हैं और कहीं शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य का आवरण धारण करके दर्शकों में भयंकर अरुचि पैदा कर देते हैं। ऐसे प्रयोग बहुधा आधुनिक शैली की नृत्यनाटिकाओं में सर्वाधिक होते हैं, विशेष करके ऐसी रचनाओं में जो भारतीय बेले के नाम से नामांकित होती हैं। ये भारतीय बेले (Ballet) न तो युरोपीय बेले पद्धति पर आधारित रहते हैं न उनकी जड़े कहीं भारतवर्ष में ढूंढने से भी प्राप्त हो सकती हैं। हमारे इन आधुनिक रचनाकारों को यह भली प्रकार मालूम होते हुए भी कि बेले (Ballet) जैसी कोई परम्परा हमारे देश में नहीं है और न उनका आधार युरोपीय बेले का है, फिर भी वे इस भयंकर कुचेष्टा में अपना समय नष्ट करके सबकी मज़ाक के पात्र बनते हैं। कुछ आधुनिक रचनाकार ऐसे भी हैं, जो अपनी रचनाओं को बेले तो

नहीं कहते, परन्तु करते वही है जो बेले के रचनाकार करते हैं। नवीन कलास्वरूपों की खोज में इन अति उत्साही रचनाकारों को जो भी विशेष प्रयास के बिना मिल जाता है, उसे वे पकड़ लेते हैं। इन रचनाकारों को इतना समय और धैर्य तो है नहीं कि वे अपनी शक्तियाँ लोकशैलियों के अध्ययन में लगावें और अपनी नवीन रचनाओं के लिये कुछ ज्ञान और अनुभव अर्जित करें।

आज के इस औद्योगिक एवं समस्यामूलक युग में लोकनृत्यों के सामुदायिक एवं व्यवसायिक दोनों ही स्वरूप जनजीवन से दूर होते जा रहे हैं। शहरों के निकट के गाँवों में तो उनका ह्रास ही हो गया है। जिन कलामर्मज्ञों और अध्येताओं को मौलिक लोकशैली की कला देखने या उसके अध्ययन का पागलपन होता है, उन्हें कई दिनों भूखे-प्यासे पैदल चलकर ऐसे ग्राम्य क्षेत्रों में पहुँचना पड़ता है, जहाँ भोजन तो दूर रहा, निवास तक की भी व्यवस्था होना मुश्किल होता है। जिनको इसका पागलपन होता है, वे यह सब कष्ट झेलकर भी वहाँ पहुँच जाते हैं, परन्तु फिर भी उनका मनोरथ पूरा नहीं होता, क्योंकि गाँव के कलाकार स्वयं यह जान गये हैं कि हमारी कला-सामग्री चुराकर उसको अपने स्वार्थ के लिये प्रयुक्त करनेवाले शहरी लुटेरे हमारे गाँव में आ गये हैं। अतः अधिकांश तो अपनी कला-सामग्री छिपाते हैं और यदि उनका प्रदर्शन भी होता है तो उसके लिये इन अध्येताओं को भारी खर्च करना पड़ता है। आज के आधुनिक रचयिताओं के पास इतना समय और कष्ट सहन करने की क्षमता कहाँ कि वे यह कष्टसाध्य कार्य करके अपने कला-ज्ञान की अभिवृद्धि करें। परिणाम यह होता है कि उन्हें जो भी झाँकियाँ इधर-उधर से प्राप्त हो जाती हैं, उन्हीं का आधार मानकर वे अपने ज्ञान को अभिवृद्ध हुआ समझ लेते हैं और अपनी नवीन रचनाओं को लोकाधारित करने का असफल प्रयत्न करने लगते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस दिशा में सही कदम क्या हो सकता है? क्या लोकशैली की कलाओं का यह रूपान्तर वांछनीय है? जैसा कि पहले विवेचन हो चुका है कि सामुदायिक लोककलाओं का व्यवसायीकरण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसमें लोककलाओं के विशिष्ट तत्व अपने आप अपना परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं और अपने मूल स्वरूप को कायम रखते हुए विशिष्ट रुचि के कलाकारों के हाथ में पड़कर किसी विशिष्ट प्रदर्शनीय कला का स्वरूप धारण करते हैं। इस प्रक्रिया में भी किसी विशिष्ट प्रयत्न

या निर्धारित अवधि का कहीं भी आभास नहीं मिलता। जिस तरह लोककलाओं का प्रादुर्भाव भी एक अज्ञात प्रक्रिया है और अज्ञात ही में किसी अज्ञात व्यक्ति की प्रतिभा से परिस्फुटित होकर समष्टि की प्रतिभा पकड़ लेती है। ठीक उसी प्रकार सामुदायिक लोककला भी अज्ञात ही अज्ञात में समष्टि की प्रतिभा से बाहर निकलकर अज्ञात ही में कलात्मक अभिरुचि के किसी विशिष्ट कलात्मक जाति या समुदाय की प्रतिभा को पकड़ लेती है। इस प्रक्रिया में भी कहीं किसी का निश्चित प्रयत्न, निर्धारित अवधि एवं योजनाबद्ध प्रयास का आभास नहीं मिलता। सामुदायिक शैली की कला समुदाय से बाहर निकलकर विशिष्ट कलारुचि के कलाकार की प्रतिभा पकड़ लेती है और इस तरह अनेकों विशिष्ट प्रतिभाओं को पकड़ते-पकड़ते किसी विशिष्ट कला, विशिष्ट समुदाय एवं समाज के साथ जुड़ जाती है परन्तु अपना समष्टिगत स्वरूप नहीं खोती। जिस तरह अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर शास्त्रीय कला विशिष्ट समुदाय एवं व्यक्ति से संबद्ध होकर अपने लौकिक तत्वों को त्याग देती है, ठीक उसके विपरीत व्यवसायिक कला अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर विशिष्ट समुदाय के साथ संबद्ध होते हुए अपने लोकतत्वों को अक्षुण्ण रखती है।

लोकशैली की सामुदायिक तथा व्यवसायिक कलाएँ यदि किसी विशिष्ट प्रयोजन से या किसी योजना के अंतर्गत किसी व्यक्ति या दल-विशेष द्वारा परिवर्तित या रूपान्तरित की जाय तो उससे पूर्व उसके अनेक पहलुओं पर विचार आवश्यक है। यदि लोककलाओं के कुछ विशिष्ट तत्वों को नवीन रचनाओं में प्रयुक्त किया जाय तो उसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? आपत्ति केवल उसी स्थिति में हो सकती है जबकि लोकतत्वों के उपयोग मात्र से ही किसी नवीन रचना को लोककला ही मान लिया जाय। यदि रचनाकार पूर्ण ईमानदारी एवं योजनाबद्ध तरीके से इन लोकतत्वों को अपनी रचना में समाविष्ट करे तो निश्चय ही उस रचना में चार चाँद लग ही सकते हैं और लोकशैली को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

इस महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त कष्टसाध्य कार्य के लिये रचनाकार को लोकतत्वों से पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी तथा उसके विविध स्वरूपों से केवल परिचय ही नहीं उनका व्यवहारिक अभ्यास भी करना पड़ेगा। उसके लिये उसे लोकनृत्यों के उद्गम एवं व्यवहार क्षेत्रों में स्वयं जाकर अनुभव प्राप्त करना होगा। इस तरह इन विविध कला स्वरूपों से पूर्ण आत्मसात् होने के उपरान्त ही वह उनके विशिष्ट तत्वों को अपनी

नवीन रचना के नवीन कलातत्वों के साथ तालमेल बिठाने में समर्थ हो सकेगा। अनेक ऐसी आधुनिक रचनाएँ देखने में आई हैं जिनमें वेशभूषा और मुद्राएँ तो कथकलि की हैं और पद-संचालन लोकशैली का। इसी तरह मणिपुरी वेशभूषा में कत्थक नृत्य की चालें और लोकशैली की अंगभंगिमाओं की बेमेल खिचड़ी भी कई आधुनिक रचनाओं में दृष्टिगत होती है, आदिम नृत्यों में भवाई नृत्य की क्लिष्टता एवं स्फूर्ति डाल देने से भी समस्त नृत्य-रचना का नाश हो सकता है। इस तरह की शैलीगत विषमताएँ भी प्रायः सभी रचनाओं में परिलक्षित होती हैं, जैसे नृत्य रचना का एक प्रसंग राजस्थान की ख्याल शैली में प्रस्तुत किया गया है और तुरन्त उसके बाद ही भरतनाट्य की पद्धति में अभिनयात्मक शैली का उपयोग होता हो। इस तरह वेशभूषा, भावमुद्राएँ, अंगभंगिमाएँ, प्रस्तुतीकरण, वाचन, संवाद, पद-संचालन आदि में भयंकर विषमताओं के दर्शन आज की अधिकांश नवीन नृत्य-रचनाओं में देखने को मिलते हैं। इसे हम शास्त्रीय भाषा में नवीन रचनाओं का रसाभास कह सकते हैं।

ऐसे अनेक छिटपुट नृत्य भी देखने को मिलते हैं, जिनमें पोशाकें नागा-नृत्य की हैं और मुद्राएँ एवं प्रस्तुतीकरण कत्थकनृत्य के। इसी तरह मध्य-प्रदेश के माड़िया मुड़िया जाति के नृत्यों को गुजरात की गरबा शैली में प्रस्तुत किया जाता है तथा गुजराती गरबों ने राजस्थान के डांडियानृत्य की शक्ल पकड़ली है। राजस्थान के घूमरनृत्य को स्कूलों में संगीतात्मक व्यायाम की तरह प्रस्तुत किया जाता है तथा तेरहताल को मणिपुर के मंजीरा नृत्य में बदल दिया जाता है और मणिपुर का थोम्बुल चुंबी नृत्य राजस्थान की घूमर बन गया है।

ये विषमताएँ जितनी भारत की आधुनिक नृत्यनाटिकाओं में परिलक्षित हो रही हैं उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। लोकशैली के प्रतीकात्मक नाट्य प्रस्तुतीकरण में भी यथातथ्य एवं वास्तविक प्रस्तुतीकरण ने स्थान ले लिया है तथा स्वबाचन एवं स्वगायन की परम्परा का स्थान पृष्ठगायकी को प्राप्त हो गया है। आधुनिक मूकाभिनय की शैली में लोकनृत्यों का परिपाक उतना ही भद्दा लगता है, जैसे किसी कठपुतली के मुंह पर ताला लगा दिया गया हो। कहीं-कहीं सामुदायिक रामलीलाओं की बहुस्थलीय रंगभूमि की शैली का स्थलीय रंगमंचीय शैली में परिवर्तन भी बहुत बीभत्स हो गया है। परम्परागत कृष्णलीला की मधुरिमाओं और प्रस्तुतीकरण की विविधताओं

को छोड़कर आधुनिक शैली के रासलीलाकार जितनी भयंकर भूलें कर रहे हैं, उनका थोड़ा सा उल्लेख यहां अत्यन्त आवश्यक है। परम्परागत रासलीला का अनौपचारिक प्रस्तुतीकरण औपचारिक दृश्यावलियों में बदलकर अत्यंत वीभत्स रूप धारण कर गया है। परम्परागत रासलीला की सवाक् एवं संगीतमय मधुर वाणी को मूकाभिनय में बदलकर नृत्य, संगीत, नाट्य, वाचन, अभिनय एवं रस-निरूपण के सुन्दर परिपाक का कचूमर निकाल डाला है। आधुनिक रासलीलाओं में कृष्ण नवीन शैली की रचनाओं की आड़ में मूक अभिनायण अवश्य करता है, परन्तु शास्त्रीय मुद्राओं का उसे ज्ञान नहीं होने से केवल भौंडी नकलें बनाकर ही रह जाता है। परम्परागत शैली की राजस्थानी पोशाक पहिनी हुई राधा जब लहंगा साड़ी पहिने भरतनाट्य शैली में उठक-बैठक लगाती है तो वह भौंडेपन के अलावा कोई भी नाटकीय प्रभाव पैदा नहीं करती। इसी तरह कंस और कृष्ण के युद्ध में जब कंस मुकुट तथा धोती पहिने हुए नंगे बदन में कथकलि मुद्राओं में युद्ध करता है और कृष्ण अपनी आधुनिक शैली की निरर्थक मुद्राओं का प्रदर्शन करता है तो उस बेमेल स्वाद में कितना कड़वापन होता है, उसका अनुभव इस तरह के प्रदर्शन देखने पर ही हो सकता है। कृष्ण राधा के विलाप के प्रसंग में जहां राधा का विलाप दिखलाया जाता है, वहां कृष्ण भक्त कवियों की मार्मिक काव्यधारा का परित्याग कर राधा वाद्य-संगीत की झंकारों पर जो उछाड़-पछाड़ बताती है, उससे किसी भी दर्शक का हृदय द्रवीभूत नहीं होता।

बेमेल शैलियों के सम्मिश्रण से जो कुपरिणाम निकल सकते हैं, उसकी एक झलक यहां पेश किये बिना नहीं रहा जा सकता। भीलों के गवरीनृत्य में एक प्रसंग बहुत ही अद्भुत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। गौरी के नायक भगवान् बुढ़िया की प्रेरणा से प्रेरित दो लुटेरे जब बणजारों की बालद लूटने के लिये वृक्ष के ऊपर से गेंद की तरह जमीन पर कूद पड़ते हैं तो दर्शकों के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रहती है। वे अपने शरीर पर रस्सियों का एक लूप ऐसा बनाते है, जिससे उनके शरीर पर अधिक झटका नहीं लगता। अपने नायक बुढ़िया में उनका अटूट विश्वास होता है और उस विश्वास ही विश्वास में वे इतना कठिन कार्य कर बैठते हैं। एक आधुनिक रचयिता ने इस कला की नकल अपने एक रंगमंचीय प्रदर्शन में की। रस्सी का लूप भी अत्यन्त सफलतापूर्वक बना लिया गया परन्तु जब कलाकार रंगमंच के ऊपर के चौखटे से जमीन पर कूदा तो परम्परागत विश्वास और उससे प्रेरित

शक्ति के अभाव में वह अपनी हड्डियां तोड़े बिना नहीं रह सका । समस्त खेल में भयंकर बाधा उत्पन्न हुई और पात्र को तीन माह तक अस्पताल की हवा खानी पड़ी । सही बात यह है कि मौलिक गवरी में चोर पात्र बुड़िया देव की अत्यधिक भावना से अभिभूत होते हैं । वे लगभग सारे ही प्रसंग में अचेतन से रहते हैं । भीली भाषा में उसे भाव की स्थिति कहते हैं । इस भाव की स्थिति में न केवल अभिनेता ही रहते हैं, बल्कि कभी-कभी दर्शकगण भी उससे अभिभूत हो जाते हैं । अतः जब चोर उस भावोद्रेक की निष्ठामूलक स्थिति में वृक्ष से कूदते हैं तो उनको तनिक भी चोट नहीं लगती । परन्तु जब आधुनिक रंगमंच पर इसकी नकल की गई तो वह उनके लिये बहुत महँगी पड़ी ।

इसी तरह यदि किसी आधुनिक रंगमंच पर, जिसके हल्केफुल्के देवदार के पटिये लगे हों, अनेक नाजुक बल्बों की रोशनियां सजाई गई हों, अनेक बेलबूटेवाले परदों का उपयोग किया गया हो, वहां यदि मध्यप्रदेश के 'माच' जैसी तख्तातोड़ नृत्य-पद्धति को अपनाया जाय तो मंच के टुकड़े-टुकड़े होने में कोई समय नहीं लगेगा । मध्यप्रदेश के मांच जमीन से लगभग ८ फुट की ऊंचाई तक बनाये जाते हैं और लकड़ी भी इतनी मजबूत लगाई जाती है कि हाथी भी उस पर कूदे तो नहीं टूटे । यदि इस तख्तातोड़ शैली को आधुनिक रंगमंच पर अपनाया जाय तो यह सर्वथा गलत क़दम होगा । यही बात पोशाक, प्रसंग, विषय, पात्र आदि के संबंध में भी कही जा सकती है । बहुधा परम्परा-गत लोकनृत्य एवं नाट्यशैली के सभी नाटकों में एक ही प्रकार की पोशाकों का प्रयोग होता है । उनके प्रत्येक पात्र पुरातन होते हुए भी आधुनिकतम व्यवहार के होते हैं, इसीलिए राजस्थानी रामधारियों के राम की पोशाक में और मध्य-कालीन अमरसिंह राठौड़ की पोशाक में अधिक अन्तर नहीं होता । इसी तरह सीता राजस्थानी साड़ी घाघरे में ही प्रयुक्त होती है । वह व्यवहार भी आधुनिक पात्रों की तरह करती है । यदि यह शैली आधुनिक रचना शैली में अपनाई जाय तो उसका बहुत ही विचित्र प्रभाव जनता पर पड़ सकता है ।

लोकनृत्य एवं नाट्यों में इतिहास का आधार बहुत कम रहता है । लोक-प्रचलित परम्परा ही उनका इतिहास बन जाती है । ऐतिहासिक दृष्टि से निराधार होते हुए भी जनता की वर्षों की आस्था उन्हें स्वीकार कर लेती है । यदि यही परम्परा आधुनिक रचनाओं में अपनाई जाय अथवा प्रस्तुतीकरण एवं रंगमंचीय शिल्प तो आधुनिक हो और विषय का प्रतिपादन लोकशैली में किया जाय तो दर्शकगण एक क्षण के लिए भी उसे सहन नहीं करेंगे ।

लोकपद्धतियों को अपनाने की वैज्ञानिक विधि

अब प्रश्न यह है कि लोकपद्धतियों को अपनाने की वैज्ञानिक विधि क्या है और किस तरह उसे आत्मसात् किया जाय। जिस बात का सर्वोपरि ध्यान आवश्यक है वह है शैली-साम्य। किसी भी रचना में अनेक शैलियों का प्रतिपादन घातक होता है। जिस लोकनृत्य को भी किसी आधुनिक रचना में प्रयुक्त किया जाय, उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखने की अत्यन्त आवश्यकता है, उसमें शास्त्रीय एवं अन्य क्लिष्ट नृत्यों की बारीकियों का समावेश उसकी आत्मा का हनन होगा। लोकनृत्यों में किसी भी प्रकार की आंगिक एवं भावात्मक मुद्राओं का कोई नियोजित शास्त्र नहीं होता। उनमें अंगसंचालन एवं भावाभिव्यंजन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है तथा नृत्यकार की कल्पना को पूरा निखार प्राप्त होता है। यदि नवीन रचनाकार उनको नियोजित करके उन्हें सजाये संवारे तो निश्चय ही वह नृत्य अपने सहज स्वभाव को खोकर बेअसर हो जावेगा। आधुनिक सृजक को प्रयुक्त किये जाने वाले लोकनृत्य के प्राणों से संवेदित होना आवश्यक है। उसका मुख्य कार्य प्रचलित लोकनृत्य की विशिष्ट भंगिमाओं तथा उसके सम्पूर्ण स्वभाव (Characteristics) को आत्मसात् करके उससे वह सामग्री ग्रहण करना है, जो मूल नृत्य के पुनरावृत्त होने वाले अंश को पराभूत करके भी नृत्य की मूल आत्मा को अक्षुण्ण रख सके। अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं जिनका रचना-शिल्प (Coreography) इतना सशक्त होता है कि आधुनिक रचनाकार की बुद्धि भी हैरान रहती है। गुजरात तथा राजस्थान के डाँडिये, विविध गरबे, टिप्पणी, घूमर आदि नृत्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। नृत्य करने वाले स्त्री पुरुषों का घुमाव, एक दूसरे का चक्राकार कटाव, उठक बैठक, पारस्परिक उलटफेर तथा आमने-सामने की उछलकूद एवं विविध नृत्यमयी भाँतें (designs) देखते ही बनती हैं। आधुनिक रचयिता इन भाँतों से बड़ी प्रेरणा ले सकते हैं। इसी तरह राजस्थान की गेर, गींदड़, घूमरा, दक्षिण भारत के कोलटम आदि नृत्य भी इस दृष्टि से बहुत ही सुन्दर छटा प्रस्तुत करते हैं।

आदिम जातियों के स्वान्तःसुखाय नृत्यों में यद्यपि भाँतों का वैविध्य नहीं है, फिर भी उनकी अंगभंगिमाओं तथा पदचापों की एकरूपता के सामने अनेक आधुनिक रचनाएँ भी मात खाती हैं। यदि किसी आदिम नर्तक की गर्दन नाचते समय दायें घूमती है तो अन्य सभी नर्तक-नर्तकियों की गर्दनें मशीन की तरह दायें घूम जाती हैं। यदि नृत्य का अगुआ अपना दाहिना पाँव आगे बढ़ा

कर घुटने के बल बैठ जाता है और तुरन्त उठ जाता है तो उसके समस्त अनुयायी नर्तक उसी क्रिया को बिजली की तरह अपने शरीर में उतार लेते हैं। इसी तरह इन नृत्यकारों के अंग के प्रत्येक क्रिया-कलाप में जो एकरूपता और गतिसाम्य रहता है, वह विश्व के किसी भी आधुनिक नृत्य में परिलक्षित नहीं होता। आदिम नृत्यों से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामग्री आधुनिक नृत्य-रचयिताओं को मिल सकती है, वह है उनकी तल्लीनता, लवलीनता और एकरूपता। नाचते समय वे इस बात की परवाह नहीं करते कि कौन उन्हें देख रहा है और कौन नहीं देख रहा है। नृत्य और नृत्यकार किस तरह एक जीव हो जाते हैं, यह केवल इन आदिवासियों ही की विशेषता है।

नृत्यों के माध्यम से युद्ध का दृश्य प्रस्तुत करने की जो कला लोकनृत्यों में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। आधुनिक नृत्य रचनाओं में युद्ध प्रदर्शित करने के लिये जिसका आधार सर्वाधिक ग्रहण किया जा रहा है वह है कथकलि नृत्य। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कथकलि नृत्य की विशिष्ट भारी भरकम वेशभूषा ही उसे प्रभावशाली बनाती है और उसकी मुद्राओं का अति सूक्ष्म शास्त्र उसकी मदद करता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो समस्त कथकलि नृत्य स्वयं में बहुत ही शिथिल और मंदगति का नृत्य है। युद्ध करते समय नृत्यकार जो शारीरिक तनाव दर्शाते हैं वह केवल दिखावा मात्र है। मारपीट, थप्पड़, घूंसा, धक्कमधक्का, मल्लयुद्ध आदि में केवल आंगिक मुद्राओं का आधार विशेष है। शरीर का शौर्य तथा ओज इन मुद्राओं में तिरोहित हो जाता है। युद्ध का प्रभाव पैदा करने में बिहार का छाऊ नृत्य इस समय सर्वोपरि नृत्य समझा जाता है। जिस समय छाऊ नृत्यकार ढाल तलवार लेकर एक दूसरे का स्थानान्तर करते हुए तलवारों का जो करतब दिखलाते हैं वह देखते ही बनता है। नृत्य करते समय जो एक दूसरे पर आक्रमणकारी क्रियाओं का वैविध्य दर्शाया जाता है वह कल्पनातीत है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं के युद्ध-प्रसंगों में जो तलवार तथा तीर-कमान की घुमावदार उछलकूद दर्शाई जाती है वह दर्शनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

नृत्य-रचनाओं में जो सर्वाधिक महत्त्व की बात है, वह है विविध प्रकरणों को प्रस्तुत करने की शैली। जीवन का कोई भी प्रसंग यथातथ्य शैली में प्रस्तुत करने की परम्परा अधकचरे रचयिताओं में ही विद्यमान रहती है। अधिकांश परिपक्व रचनाओं में चाहे वे लोकशैली की हों या आधुनिक जीवन की, प्रत्येक क्रिया-कलाप को व्यंजनात्मक एवं प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करने

में ही सार्थकता समझी जाती है। इस दृष्टि से भी बिहार की यह बहुचर्चित छाऊ नृत्यशैली कभी-कभी कमाल कर सकती है। इसी तरह नदियों का बहाव तथा समुद्री लहरों का तूफान दर्शाने के लिये बिहार उड़ीसा की उंराव जाति के नृत्यों से आधार ग्रहण करना चाहिये। इनके सामूहिक नृत्य स्वयं समुद्र की लहरों तथा नदियों के बहाव के रूप में प्रस्तुत होते हैं। नृत्यारंभ की पहली उछल में ही समस्त नृत्यकार तीन फीट की छलांगें मारकर धड़ाम से ज़मीन पर आ गिरते हैं और अपने हाथ पांवों को दाएँ बाएँ हवा के झोंकों के साथ इस तरह झुलाते हैं, जैसे समुद्र की तरंगें किनारों से थपेड़े ले रही हों। राजस्थान के भीलों के गवरी नृत्य की चकरियां भी समुद्री तूफान की भंवरी का सा आभास देती हैं। ये नृत्यभँवरियाँ देश की अनेक कलात्मक चकरियों से निराली होती हैं। प्रत्येक कलाकार इन चकरियों के अंतर्गत अपनी भाव-भंगिमाओं का वैविध्य दिखाने में स्वतंत्र होते हुए भी समष्टिगत चकरी की अंगभंगिमाओं के साथ घड़ी की सुई की तरह चिपका रहता है। प्रत्येक कलाकार की वैयक्तिक चकरियों के वैविध्य में समस्त कलाकारों को समन्वित करनेवाली बृहदाकार चकरी एक निराली ही छटा उपस्थित करती है। गवरी नृत्य की यह चकरी किसी भी चलते हुए युग-चक्र, बदलता हुआ समयक्रम, सृष्टि की निरंतर चलती हुई घड़ी के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। मध्यप्रदेश के भिलालों का इंदल नृत्य भी, जिसमें मध्य पाट पर गड़ी हुई लकड़ी के सिरे पर रखे हुए नारियल को लेने को पुरुष-नृत्यकार छड़ी पर चढ़ते हैं और लकड़ी के इर्दगिर्द नृत्यमुद्राओं में घूमती हुई स्त्रियाँ उन्हें रोकती हैं, यह आधुनिक नृत्य-रचयिताओं के लिये एक अनमोल सामग्री सिद्ध हो सकती है।

राजस्थान के भीलों के घूमरा नृत्य के गोले में भील महिलाएँ अपनी अंगभंगिमाओं का जो निखार दर्शाती हैं तथा बाहरी गोले में भील नर्तक अपनी लकड़ियों को टकराते हुए जो गोलाकार नृत्य करते हैं और तुरन्त अंदर के गोले में प्रविष्ट होकर भील नर्तकियों को बाहर के गोले में फेंक कर नृत्य-निरत कर देते हैं, वह देखने की वस्तु है, वर्णन करने की नहीं। घूमरा नृत्य की इन कटावदार तथा विविधताओं से युक्त भंगिमाओं का पार पाना भी कोई आसान काम नहीं है। समस्त नृत्य को देखने से ऐसा लगता है जैसे पुरुषों ने स्त्रियों को घेरने के लिये व्यूह-रचना की हो और उसके तुरन्त बाद ही स्त्रियां जैसे पुरुषों को व्यूह में आबद्ध कर रही हों। युद्ध की व्यूह-

रचनाओं के प्रस्तुतीकरण के लिये आधुनिक रचनाकारों को घूमरा से बढ़कर कौनसी नृत्य-रचना उपलब्ध हो सकती है।

नवीन रचनाकारों के कर्तव्य

ऐसे अनेक प्रसंग हमारे देश के लोकनृत्यों में विद्यमान हैं, जिनका उचित उपयोग हमारे आधुनिक रचनाकार कर सकते हैं। अब प्रश्न केवल यह है कि नवीन रचनाकारों को अब क्या करना चाहिये। प्रचलित लोकनृत्यों में केवल संशोधन के लिये संशोधन करने का कार्य खतरे से खाली नहीं है। यह संशोधन किसी नवीन रचना में समाविष्ट करने के लिये किया जाय तो फिर भी क्षम्य हो सकता है, परन्तु केवल संशोधन के लक्ष्य से संशोधन करना सर्वथा अनुचित है। लोकनृत्यों की रचनाओं में समष्टि की आत्मा निहित रहती है। उसमें तनिक सा परिवर्तन भी सामाजिक अरुचि और अवहेलना का कारण बन सकता है। चाहे वह परिवर्तन स्वयं लोकनृत्य के हित में ही क्यों न हो।

जब भी लोकनृत्य प्रदर्शन के स्तर पर आता है तो उसकी आवृत्तियाँ कम करनी होती हैं, अंगभंगिमाओं में अधिक लोच लाना पड़ता है तथा चेहरे की मुद्राओं को अधिक बारीक बनाना पड़ता है। शहरी जनता के लिये ये सब परिवर्तन आवश्यक हो सकते हैं परन्तु उस ग्राम्य जनता के लिये, जिसके साथ ये नृत्य परम्परा से संस्कारवत् जुड़े हुए हैं, अत्यन्त अग्राह्य हो सकते हैं। अतः लोकनृत्यों में परिवर्तन करने से पूर्व इन सब बातों पर पूर्व विचार अत्यन्त आवश्यक है। कई रचनाकार पुरातन लोकनृत्यों की शैली पर नवीन नृत्यों की रचना करते हैं। इस प्रक्रिया में प्रायः नृत्य के साथ चलनेवाले गीतों के शब्द बदल जाते हैं, परन्तु धुनें प्रायः वे ही रहती हैं। लोकनृत्यों की अंगभंगिमाओं को भी केवल सार रूप में लिया जाता है और पूरे नृत्य का केवल आभास मात्र रह जाता है। ऐसे लोकनृत्य ऊपर से लोकनृत्य जैसे ही दीखते हैं, वे शहरी मंच पर अवश्य फबते हैं, परन्तु उनके मूल क्षेत्रों में वे अत्यन्त हेय समझे जाते हैं।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जो लोकनृत्यों को किसी प्रयोजन-विशेष से जोड़ते हैं। उसके गीत भी उस विशेष प्रयोजन ही को व्यक्त करते हैं। शब्द भी उसी का बखान करते हैं तथा उसकी प्रत्येक मुद्रा भी उसी प्रयोजन को प्रकट करती है। ये समस्त मुद्राएँ रचनाकार की अपनी देन होती हैं। मूल लोकनृत्यों से उनका कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि मौलिक लोकनृत्यों में

मुद्राएँ प्राय: होती ही नहीं हैं। इस तरह के प्रयोग भी प्राय: लोकनृत्यों के लिये घातक सिद्ध होते हैं।

लोकनृत्यशैलियों का सर्वाधिक उपयोग आधुनिक नाट्य-रचनाओं में होने लगा है। इन प्रयोगों में बहुधा शैलीसाम्य के अभाव में कई दोष रह जाते हैं जो अंततोगत्वा दर्शकों में अरुचि का सर्जन करते हैं। परन्तु अनेक दूरदर्शी एवं विवेकी रचनाकार ऐसे भी हैं जो पुरातन लोकनाट्य-परम्परा को बिना किसी शैली विषमता के नवीन रचना शैली में ढालने का प्रयत्न करते हैं। वे उनमें नवीन प्राणों का स्फुरण करते हैं और सारी रात अभिनीत होनेवाली कृति को कुछ ही घंटों में प्रदर्शित होने योग्य बना लेते हैं। यह कार्य केवल व्यवसायिक नाट्य मंडलियों के बलबूते पर हो सकता है। सामुदायिक क्षेत्रों में यह संशोधन-कार्य संभव तो नहीं है परन्तु वांछनीय भी नहीं है क्योंकि सामुदायिक दृष्टि से ऐसे प्रयोग मनोरंजन के माध्यम होते हैं। उनमें समय की कोई समस्या नहीं होती। इस आनन्द प्राप्त करने और देने की प्रक्रिया में यदि समय की कटौती की जाती है तो वह ग्राम्य जनता को ग्राह्य नहीं होती।

कुछ नवीन नाट्य-प्रयोग ऐसे भी हैं, जो लोकशैली के केवल गीतों और नृत्यों को ही अपनी रचना में समाविष्ट करते हैं। उनका संबंध नाट्य के मूल प्रसंग से कुछ भी नहीं होता। केवल दर्शकों की अभिरुचि को कायम रखने के लिये नाट्य के बीच में उनका उपयोग होता है। कुछ उत्साही प्रयोगी ऐसे भी हैं, जो पुरातन लोकनाट्य शैली में नवीनतम प्रसंग पर नवीन नृत्यनाटिकाएँ तैयार करते हैं। ऐसे अनेक प्रयोग हमारे देश में हुए हैं, जिनमें कुछ तो अत्यन्त सफल प्रयोग समझे गये हैं और कुछ बिल्कुल ही निरर्थक। कुछ उत्साही रचनाकार ऐसे भी हैं, जो लोकनाट्यों की अनेक शैलियों की एक ही नाट्य-प्रयोग में खिचड़ी पकाना चाहते हैं। आज हमारे देश में अधिकांश नवीन नाट्य-प्रयोग इसी किस्म के होते हैं। शैलियों की यह बेमेल खिचड़ी वास्तव में बहुत ही दर्दनाक है। ऐसी कृतियाँ बहुधा कला-तत्वों से विहीन होती हैं। ऐसी कृतियों में कहीं उत्तर भारतीय पद्धति का अनुशीलन किया जाता है, कहीं दक्षिण भारत की पद्धति का उपयोग होता है। कहीं शास्त्रीय शैली लोक पद्धति पर आकर बैठ जाती है। ऐसी कृतियों में कहीं पात्र स्वयं गाते हैं। कहीं उनके लिये पृष्ठगायक गाते हैं। कहीं समस्त प्रसंग में पृष्ठ-वाचन का आधार लिया जाता है। कहीं गीतात्मक संवादों की गंगा बहती है और कहीं गद्य का बोलबाला है। कई नवीन प्रयोग ऐसे भी देखे गये हैं जिनका आकार-

प्रकार, वेश-विन्यास आदि लोकशैली का होता है, परन्तु उनका समस्त आधार विदेशों से ग्रहण किया हुआ होता है। इन कृतियों में न तो वाचन पात्रों द्वारा कराया जाता है, न पृष्ठवाचन या गायन का आधार लिया जाता है। समस्त वाचन केवल मुद्रा एवं भावमुद्राओं के माध्यम से होता है। इनका प्रस्तुतीकरण शत प्रतिशत विदेशी आधार लिये हुए होता है। ऐसे प्रयोग हमारे देश के लिये बिल्कुल ही अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं।

कुछ बहुत ही सुन्दर प्रयोग भी हमारे देश में हुए हैं, जिनमें समस्त रचना नवीन होते हुए भी लोकपद्धति की बहुत सुन्दर रक्षा की गई है। समस्त गीत, वाचन, प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय साजसज्जा, साजबाज, भाषा, नृत्य आदि सभी लोकपद्धति पर ही हैं। फर्क केवल इतना ही है कि उनमें प्रवीण कलाकारों के हाथ लगे हुए होते हैं। उन्हें लोकपद्धतियों का सम्पूर्ण ज्ञान होता है तथा वे इस दिशा में एड़ी से चोटी तक घुले रहते हैं। ऐसी कृतियों में, जिनमें विशुद्ध लोकशैलियों का प्रयोग होता है, गीत, नृत्य, वेश-विन्यास, रंगमंचीय प्रणाली, खेलकूद आदि में भरपूर मौलिकता होती है। कभी कभी तो कलाकार, साज, सज्जा आदि भी लोकशैली के होते हैं। इन कृतियों में प्रसंग, प्रस्तुतीकरण, संवाद-विधि आदि में भी लोकपरम्परा का पूरा निभाव होता है। ऐसी कृतियाँ जब कला-विशेषज्ञों के निर्देशन में विशुद्ध लोककलाकारों द्वारा पेश होती हैं तो बहुधा लोकजीवन में भी वे अत्यन्त लोकप्रिय बन जाती हैं तथा व्यवसायिक लोककलाकार स्वयं भी उनसे प्रेरणा ग्रहण करके अपनी कृतियों को परिपुष्ट करते हैं।

३

लोकनाट्य

लोकनाट्य

नाट्य की उत्पत्ति नट शब्द से हुई है। अंगसंचालन से किसी विशेष परिस्थिति या व्यक्ति के क्रिया-कलापों को अभिव्यक्त करना ही नट का प्रमुख कार्य था। यही नटकला प्रारम्भिक क्रिया-कलापों से विकसित होकर गीतबद्ध हुई और विशिष्ट पर्व, समारोह तथा देवी-देवताओं के पूजन के समय उसका प्रदर्शन होने लगा। धीरे-धीरे इसी नटकला ने रूपक का स्वरूप धारण किया, जिसमें ये नट लोग किसी व्यक्ति, घटना तथा स्थिति-विशेष का अनुकृतिमूलक रूप प्रस्तुत करते थे। परन्तु इस स्तर तक भी नाट्य के विविध अंग पूर्णत: परिस्फुटित नहीं हुए थे जिनमें एक सम्पूर्ण घटनाचक्र की समस्त परिस्थितियाँ अभिनय, संभाषण, कथानक आदि के साथ मानवीय पात्रों द्वारा क्रमबद्ध प्रस्तुत की गई हों। वेशविन्यास, हावभाव, वाचन, संभाषण तथा अंगसंचालन द्वारा युगपुरुषों की युग-प्रवर्तक घटनाओं को प्रस्तुत करनेवाला नाट्य का मानवीय रूप हमारी संस्कृति का बहुत ही बाद का स्वरूप है। दैवी शक्तियों, प्राकृतिक प्रकोपों तथा मृतजन की आत्माओं से घिरा हुआ मानव उन्हीं की अनुकृति बनकर उनके आचार, व्यवहार तथा आकार-प्रकार की नकल करे, यह कल्पनातीत बात थी।

नाट्य के प्रारम्भिक रूप

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा धनंजय द्वारा लिखित दशरूपक में जो नाट्यसिद्धांत निरूपित किये गये हैं उनका आधार इन शास्त्रों के प्रणयन के सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखे और खेले गये वे असंख्य नाटक हैं जो विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे। ये नाटक ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने चतुर्मुखी स्वरूप के साथ भारत की गौरव-गरिमा बढ़ा रहे थे, उन्हीं लोकपरक नाटकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कोई भी विगत घटना या व्यक्तित्व हमारी कल्पना में उभर सके, उसके लिये अभिनयकला, अंगसंचालन, भावाभिव्यंजन, आंगिकी, वाचन, संभाषण, कथोपकथन, कथाप्रसंग आदि के सुगठित चयन की आवश्यकता होती है। नाटक के ये सभी तत्व एक साथ विकसित नहीं हुए, बल्कि इनमें से कुछ ने समय और स्थिति के अनुसार विशेष विकास पाया और वे सहस्रों

वर्षों तक परम्परा के रूप में मानव-मनोरंजन के लिये कायम रहे। नाट्य के इन विविध अंगों का पृथक् तथा समन्वित विकास ही पूर्णाङ्गी मानवीय नाट्य के लिये शक्तिशाली पृष्ठभूमि के रूप में सिद्ध हुआ। ऋग्वेद तथा सामवेद की संभाषणप्रधान तथा भावोद्रेकमयी ऋचाओं में नाट्यवाचन के पूर्ण विकसित अंकुर विद्यमान थे। सामवेद के पुरूरवा और उर्वशी तथा ऋग्वेद के यम-यमी के भावप्रधान संवादों में नाट्य के स्पष्ट अंकुर परिलक्षित होते हैं। अनेक जैन और बौद्ध सूत्रों में भी इसी प्रकार के प्रेरणादायी तथा भावपूर्ण कथोपकथन में नाट्य के प्रारम्भिक अंकुर उगते हुए दृष्टिगत होते हैं।

नाट्य की चित्रपट प्रणाली

उपर्युक्त वैदिक ऋचाओं के ये संवाद अनुकृतिमूलक एवं रूपप्रधान नहीं थे और न कोई दर्शनीय दृश्य ही उपस्थित करते थे। वे केवल श्रवणयोग्य थे, दृष्टियोग्य नहीं। किसी भी नाट्यप्रसंग का दृष्टियोग्य होना बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मनुष्य इस समय इस स्थिति में नहीं था कि वह अपने परमपूज्य युगपुरुषों की युगप्रवर्तक घटनाओं को नाट्यरूप दे सकने की धृष्टता करे। इसीलिये इन घटनाओं को सर्वप्रथम वृक्ष की सशक्त छालों, पशुओं के चमड़ों, दीवारों तथा कपड़ों पर विविध रंगों से चित्रित करने की परम्परा हमारे देश में आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व कायम हुई। अपने पूर्वजों तथा युगपुरुषों की स्मृति में उनके जीवन सम्बन्धी चित्र टांगने की प्रथा आज भी विद्यमान है। ये ही चित्र संगठित और सामूहिक रूप से एक ही विशद चित्र में समन्वित होकर जनता के समक्ष किन्हीं विशिष्ट व्यवसायिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने लगे। इनसे प्रदर्शित महापुरुषों की जीवन घटनाएँ जनमानस को आह्लादित करने के साथ-साथ उनकी स्मृतियों को भी ताजा रखने लगी। किसी बांस या लकड़ी पर लिपटे हुए ये पट परिचालकों के कंधों पर चढ़कर धीरे-धीरे एक गांव से दूसरे गांव तक पहुंचने लगे। जहाँ भी गांव या नगर का चौराहा मिलता, ये पट फैलाकर खींच दिये जाते और नृत्यमुद्राओं के साथ उनमें चित्रित गाथाओं के विविध पक्षों को दर्शकों के समक्ष सुस्पष्ट किया जाता था। चित्रों को समझाने की यह नृत्यगीतमय प्रणाली उन चित्रों को सजीव स्वरूप प्रदान करती थी और दर्शकों को सम्पूर्ण नाटक देखने का आनन्द मिलता था। आज भी भारत के विविध प्रदेशों में पूर्वजों की जीवनगाथाओं को प्रस्तुत करने के लिये ऐसे चित्रपट परम्परा के रूप में विद्यमान हैं। राजस्थान की पाबूजी तथा देवनारायण की पड़ें आज भी असंख्य जन के हृदय

में इन महान् पुरुषों की जीवनगाथाओं को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से अंकित करती हैं। वीर राठौड़ पाबूजी, जिन्होंने गोरक्षा के लिये अपना जीवन दान दे दिया था, आज भी असंख्य जन के श्रद्धा और आराधना के पात्र बने हुए हैं। उनके नाम पर राजस्थान में अनेक मेले लगते हैं। उनके विशिष्ट पुजारी पाबूजी के भोपे इन चित्रपटों के समक्ष पाबूजी के पवाड़े गाते हैं और उनकी स्त्रियां चित्रों को दीपक दिखाती हुई उनका गुणगान करती हैं। ये पड़ें भीलवाड़ा और शाहपुरा के विशिष्ट जोशी छीपों द्वारा बनाई जाती हैं, जो आज विशिष्ट चित्रशैली के रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। देवनारायण भी मेवाड़ के एक विशिष्ट देवता-तुल्य व्यक्ति हो गये हैं, जिनकी जीवनगाथाएँ भी चित्रित की जाती हैं और देवनारायण के गूजर भोपे उनकी पड़ों का प्रदर्शन करते हैं।

चित्रपटों द्वारा युगपुरुषों के जीवन का अंकन करने की प्रथा बंगाल, बिहार आदि प्रदेशों में यमपट्टा के रूप में आज भी विद्यमान है। इस यमपट्टे में पापकर्म करनेवालों को यम द्वारा दी गई सजाओं का अंकन किया जाता है। चित्रांकन द्वारा नाट्य प्रस्तुत करनेवालों के दल इन यमपट्टों को एक गाँव से दूसरे गाँव में ले जाते हैं और गायन द्वारा उनका अर्थ स्पष्ट करते हैं। अनेक जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी इन चित्रपटों का उल्लेख मिलता है, जो धर्मप्रचार के लिये प्रयुक्त होते थे। पतंजलि के महाभाष्य में भी शोभनिका नाम से चित्रांकन करनेवाले नाट्यकारों का उल्लेख है। ये नाट्य-अभिनेता इन चित्रों को इस प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते थे कि चित्र के पात्र सजीव होकर दर्शकों की आँखों में उतर आते थे। जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में इन चित्रपटों का मनखा नाम से उल्लेख मिलता है। ये पट्टे विविध प्रसंगों में विभाजित होते थे और प्रत्येक प्रसंग के पट्टे का काम समाप्त होने पर परिचालक उसको लपेटता जाता था और आगे के प्रसंग संबंधी गीत-वाचन करता हुआ उन चित्रों को सबके सामने प्रत्यक्ष करता था। इस प्रकार के पट्टे आज भी बिहार, बंगाल में पूर्वजों की गाथाओं को नाट्यरूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जैन साधुओं के पास आज भी ऐसे चित्र विद्यमान हैं, जिन पर नरक सम्बन्धी अनेक दृश्य अंकित हैं। इनमें कुकर्मियों के कठोर दंड का बहुत ही वास्तविक अंकन किया गया है। वे साधु स्वयं इन चित्रों को अपने भक्तजनों को दिखलाकर पापों से उनका मन मोड़ने की कोशिश करते हैं।

चमड़े की आकृतियों द्वारा नाट्यप्रदर्शन

चित्रपटों के रूप में यह नाट्यस्वरूप यद्यपि काफी लोकप्रिय हो चुका था और हजारों वर्षों तक जनता का मनोरंजन करता रहा, परन्तु उनमें

अंकित चित्र स्वयं गतिमान होकर पात्ररूप में अभिनय करने में असमर्थ थे। परिचालक इस अभाव की पूर्ति स्वयं नाच गा कर करता था। दर्शकगण उन चित्रपात्रों के व्यक्तित्व का आरोपण उसमें नहीं कर सकते थे। चित्रप्रदर्शन के समय परिचालक अपनी परम प्रभावशाली वाचनकला के माध्यम से दर्शकों को भावोद्रेक की स्थिति में ले आते थे। वे अपने आराध्य देव को उन चित्रों में मूर्तिमान अवश्य देख सकते थे, परन्तु गतिमान नहीं। चित्रों पर दीपक द्वारा सामने से दिखाई हुई रोशनी उन रंगीन आकृतियों को प्रकाशमान और देदीप्यमान भी करती थी। आज भी पाबूजी और देवनारायण की पड़ों के समक्ष भोपनियाँ दीपक दिखाकर गाती हैं तथा भोपा रावणहत्थे पर उनकी जीवनगाथाओं का अत्यंत प्रभावशाली विवेचन करता है। ये सभी पट रात्रि को ही दिखलाये जाते हैं।

इन चित्रांकित महापुरुषों को गतिमान करने के लिये सर्वप्रथम हमारे देश में चमड़े पर रंगीन चित्र बनाकर उन्हें काटने की परम्परा कायम हुई। इन रंगबिरंगे चित्रों के विविध अंगप्रत्यंगों पर बाँस की खपच्चियाँ बाँधकर उन्हें गतिमान किया जाने लगा। इस तरह महापुरुषों के विविध जीवनप्रसंगों के अनेक चित्र चमड़े में काटे जाने लगे और इन्हें किसी नाट्यरूप में बाँधने की कोशिश प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम उन पर चित्रपट की तरह ही सामने से रोशनी फेंकी जाती थी और ये चर्मपात्र बारी-बारी से जनता के समक्ष आकर नाना प्रकार से गतिमान होते थे। परिचालकगण छड़ी पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करते थे और गायन, वाचन आदि से उनका प्रयोजन स्पष्ट करते थे। चित्रांकन की यह प्रणाली निश्चय ही चित्रपट प्रणाली से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। परिचालकों के प्रत्येक दल में कम से कम तीन व्यक्ति रहते थे। एक चित्रों को चलानेवाला, दूसरा उन पर दीपक की रोशनी दिखलाने वाला तथा तीसरा वाद्य बजानेवाला। चित्रांकन के इस प्रदर्शन में नाट्यगुण अवश्य थे, परन्तु परिचालक स्वयं दर्शकों को दिखलाई पड़ते थे और उनका ध्यान बँटाते थे। यद्यपि चित्रपट प्रणाली में भी परिचालकगण गाते, नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए नजर आते थे, परन्तु चूंकि उनके चित्र गतिमान नहीं थे और वे स्थिररूप से दर्शकों की आँखों में गुजरते थे, इसलिये परिचालक से किसी भी प्रकार उनका सम्बन्ध नहीं जुड़ता था। चित्रों की कटी हुई आकृतियों में स्वयं चित्र भी गतिमान होते थे और उनके साथ-साथ उनके परिचालक भी। अतः रूपक-सिद्धि में निश्चय ही व्यवधान आता था।

प्रारम्भ में इन चित्रों का आकार-प्रकार परिचालक से छोटा होता था, अतः जब परिचालक उनकी छड़ियाँ पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करता था तो पूरे साढ़े पाँच फीट का परिचालक डेढ़ फीट के कटे चित्र के सामने परिमाण में बहुत बड़ा नजर आता था और चित्र की गतिशीलता से कहीं अधिक वह गतिशील बनकर दर्शकों की आँखों में गुजरता था, अतः छिपकर इन्हें परिचालित करने की परम्परा हमारे देश में कायम हुई और उसी के परिणाम-स्वरूप छायापुतलियों का प्रादुर्भाव हुआ।

छायापुतलीनाट्य का प्रादुर्भाव

कटी हुई पुतलियों की नाट्यप्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये कई मर्मज्ञों ने अनेक प्रयोग किये। उनमें छायापुतलियों का प्रयोग सर्वाधिक कारगर सिद्ध हुआ। चमड़े को पारदर्शी बनाकर उसकी आदमकद आकृतियाँ काटी गईं और उसके आरपार प्रकाश किरणें डालकर उसे चमत्कारिक बनाया गया। इस प्रयोग में हमारे कलाकारों को अभूतपूर्व सफलता मिली। लगभग १० फुट ऊँचा और १५ फुट चौड़ा एक सफेद परदा बाँसों या लकड़ी के चौखट में तानकर सामने रख दिया जाता था। उसके पीछे इन आदमकद रंगीन चर्मपुतलियों की छड़ियों को परदे के सामने सार्थक रूप से हिलाया जाता था और पीछे से डाली हुई रोशनी से वे छायापुतलियाँ प्रकाशित होकर सफेद परदे पर नाना प्रकार से गतिमान होती थीं। पुतलियों के प्रत्यक्ष रूप से कहीं अधिक उनका छायारूप दर्शकों के मन को मोहित करता था। प्रत्येक रूपक का यही नियम है कि चरित्र के प्रत्यक्ष प्रकट होकर गतिमान होने की अपेक्षा उसका अनुकृतिमूलक रूप अधिक प्रभावशाली और मनोरंजनकारी होता है। ये छायापुतलियाँ भी प्रत्यक्ष सामने न आकर उनकी छाया सामने आती थी, इसीलिये ये छायाएँ नाना रंगों में परदे पर अंकित होती थीं और उनके अंग-प्रत्यंगों को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आनन्दविभोर हो जाते थे। इन पुतलियों में परिचालकों द्वारा गाथा या प्रसंग-वर्णन न होकर स्वयं पात्रों पर ही उनके संभाषण आरोपित किये जाते थे, जिससे ये छायापात्र स्वयं उस छायारूपक के सार्थक पात्र बन गये और बिना किसी माध्यम के ही दर्शकों के मन पर आरोपित होने लगे। इस छायानाट्य को अधिकाधिक प्रभावशाली और सफल बनाने के लिये जो गीत-संवादों की अत्यन्त मनमोहक योजना बनाई गई उसमें योग्य कथोपकथन,

योग्य कथाप्रसंग, रसविवेचन, आंगिकी, चरित्रचित्रण, नाट्य के प्रारम्भ, मध्य और चरम विकास की सीढ़ियाँ अपना प्रारम्भिक स्वरूप पकड़ती गई।

छायापुतलियों की अतिरंजनात्मक शैली

इन नाट्यस्वरूपों की उत्पत्ति हमारे युगपुरुषों तथा देवी-देवताओं की स्मृतियों को ताजा रखने तथा उनके जीवनादर्शों को जनता के समक्ष मनोरंजनकारी ढंग से प्रस्तुत करने के लक्ष्य से हुई। ये युगपुरुष निश्चय ही सांसारिक मनुष्य से गुण, चरित्र, कृत्य तथा शक्तियों की दृष्टि से कहीं बड़े थे। वे अब मनुष्य का चोला बदलकर दिव्य पुरुष बन चुके थे, अतः उनके आकार-प्रकार, आकृति आदि निश्चय ही मनुष्य से भिन्न थे। ऐसी मान्यता लेकर ये छायापुतलीकार अपने चित्रों को अतिरंजित और प्रतीकात्मक बनाते थे। चूंकि यह समस्त नाट्यरूप ही देवी-देवताओं तथा युगपुरुषों के जीवन के प्रतीक और छायारूप ही में था, अतः उसका चित्रांकन भी प्रतीक और छायारूप ही में हुआ। इन चित्रों और छायापुतलियों को अतिरंजित और प्रतीकात्मक बनाने के पीछे एक कारण और था। परिचालकगण और नाट्य-पात्रों की समानता को दूर करने के लिये भी नाट्यपात्रों को भिन्न रूप दिया जाता था ताकि प्रदर्शन के समय परिचालक और पात्र एक दूसरे में मिलकर दर्शकों में भ्रांति उत्पन्न न करें।

इस अतिरंजना के पीछे कुछ प्रयोजन और हैं। पुतलियाँ भावभंगिमाओं और अंगभंगिमाओं के प्रदर्शन में मानवीय पात्रों की तरह अपने आपको समर्थ नहीं पातीं, अतः इन सीमाओं को दूर करने के लिये उनके चेहरों की बनावट तथा अंग-प्रत्यंगों के आकार-प्रकार ही को इस प्रकार अतिरंजित किया गया कि उन भंगिमाओं की कमी उन अतिरंजनाओं से दूर हो गई। पुतलीकला में भ्रम उत्पन्न करने की कला सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी गई है। यह भ्रम वास्तविक मानवीय आकृतिमूलक चेहरों द्वारा उत्पन्न नहीं होता। यह बात हमारे पूर्वजों को भली प्रकार ज्ञात थी। यूरोप की आधुनिक पुतलियों में जो प्रतीकात्मक संकेतवाद आज महत्त्व प्राप्त कर रहा है, वह हमारी परंपरागत पुतलियों में विद्यमान था। पुतलियों की आकृतियों का यह अतिरंजनात्मक संकेतवाद पुतलियों में प्राणों का संचार करता था तथा उसके कारण वे दर्शकों से बोलतीं, गातीं तथा नाना प्रकार के भाव अभिव्यंजित करती हुई नज़र आती थीं। पुतलीकारों को इसका पूर्ण ज्ञान था कि किस अभिव्यंजना के लिये किस प्रकार के वाचन, गायन तथा अंगसंचालन की

आवश्यकता है तथा उससे दर्शकों के मन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है। सहस्रों वर्षों तक परम्परागत रूप से इस कला का अभ्यास करते हुए ये पुतलीकार मानवीय मनोविज्ञान से पूर्णरूप से अवगत हो गये थे और उसी के अनुसार वे अपने पूर्वजों, युगपुरुषों और देवी-देवताओं की जीवनगाथाओं को परम नाटकीय ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल हुए।

आज भी आन्ध्र और कोचिन-प्रदेश में छायापुतलीवालों के अनेक दल विद्यमान हैं जो अपनी परम्परा को पकड़े हुए हैं और रामायण तथा महाभारत की कथाओं को अत्यंत रोचक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं। परम्परापोषी होने के कारण ये कलाकार अपने में किसी प्रकार का परिवर्तन पसंद नहीं करते और अपने पूर्वजों द्वारा दी हुई प्रणाली में कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते। यही कारण है कि इन पुतलीवालों के पास कई पीढ़ियों की पुतलियाँ हैं, जिन्हें ये प्रदर्शन से पूर्व पूजते हैं और उन्हें देवता मानकर उनका प्रदर्शन करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि अपनी पुतलियों के माध्यम से वे जिन देवताओं और युगपुरुषों का अभिनय करते हैं, उनकी आत्माएँ प्रदर्शन के समय मौजूद रहती हैं, और वे ही उनकी पुतलियों में प्राणों का संचार कराती हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि जो पुतलियाँ वे चलावें, उनको बनाना भी उन्हीं को चाहिये, नहीं तो युगपुरुषों का आरोपण उनके शरीर में नहीं होता। इसलिये वे पुतली-निर्माण के प्रत्येक कार्य में प्रवीण होते हैं तथा अपनी कला को अपने वंशजों के अलावा दूसरों को नहीं सिखलाते हैं। मानवीय नाट्य में कथानक, चरित्र-चित्रण, भावाभिव्यंजन, रसनिरूपण, आहार्य, आंगिकी आदि का जो विशद विवेचन नाट्यशास्त्रों में इस नाट्यशैली के प्रचलन के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ, उसके अंकुर छायापुतलियों की इस परम्परा में स्पष्ट रूप से नजर आते हैं। किसी भी छायापुतलीनाट्य की समस्त नाट्यरचना, संभाषण, कथा-प्रसंग, प्रतिपादन, गायन तथा संचालन का विश्लेषण करें तो प्राचीन भारतीय शास्त्र के अनेक तत्वों का उनमें दर्शन हो जायेगा। इन पुतलीकारों को यह भली प्रकार ज्ञात था कि गुण दोष के अनुसार इन पुतलियों के चेहरों पर कौनसा रंग लगाना चाहिये। आज भी वे रजोगुणी, तमोगुणी तथा सतोगुणी पात्रों के चेहरों पर परम्परा से निश्चित रंगों का ही प्रयोग करते हैं जो भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में निरूपित सिद्धांतों से शत प्रतिशत मेल खाते हैं। इन पात्रों के संचालन, परिचालन, व्यवहार, वाचन, संभाषण आदि में भी पूर्व-निर्धारित सिद्धांतों का ही पालन

होता है। नाट्यरचना में भी प्रधाननायक, उपनायक तथा अन्य सहायक पात्रों के चरित्र-विकास की ओर पूर्ण जागरूकता बरती जाती है।

काष्ठपुतलियों का प्रादुर्भाव

चूंकि छायापुतलियों की आकृतियां चपटी होती हैं इसलिये उनसे किसी भी पात्र के संपूर्ण स्थूल शरीर का भान नहीं हो सकता। चपटी आकृतियों को वेशभूषा भी नहीं पहिनाई जा सकती और न उन पर अलंकार या शृंगार ही हो सकता है। उनके पृष्ठभाग दर्शकों को दृष्टिगत नहीं हो सकते इसलिये उनको घुमाने-फिराने में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। इन चपटी पुतलियों के संचालन तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण नाट्याभिव्यंजन संभव नहीं समझकर ही मूर्तिनुमा काष्ठ पुतलियों की परम्परा हमारे देश में प्रारम्भ हुई। पुतली निर्माण में काष्ठ को सबसे हल्का माध्यम समझकर ही सर्वप्रथम काष्ठ का ही प्रयोग हुआ और उसके माध्यम से जो पुतलियां निर्मित हुई वे कठपुतलियां कहलाईं। इन काष्ठपुतलियों द्वारा जो नाट्यरचनाएँ हुई, वे ही वास्तव में मानवीय नाट्य का पूर्णाङ्गी स्वरूप ग्रहण कर सकीं। चपटी आकृतियों की चर्मपुतलियों द्वारा संपूर्ण पात्र का अनुमान करना केवल दर्शकों की कल्पना पर निर्भर रहता था। इसके अलावा उनको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करना भी इसलिये प्रभावशाली नहीं होता था, क्योंकि परिचालक को दर्शकों से छिपाना और पुतलियों को बिना छाया के वास्तविक पात्र का भान कराना असंभव था। छाया द्वारा उन्हें प्रदर्शित करने से उनकी प्रभावशीलता की वृद्धि अवश्य हुई और उनकी सीमाओं की ओर भी अधिक ध्यान नहीं गया, परन्तु कला के प्रयोगियों ने काष्ठपुतलियों को छायापुतलियों से भी अधिक प्रभावशाली पाया। उनसे नाट्ययोजना भी अधिक प्रभावशाली बन सकी और दर्शकों को मानवीय पात्रों का अभाव नहीं खटका। ये काष्ठपुतलियां वस्त्राभूषण पहिनने लगीं तथा चर्मपुतलियों की तरह ही पात्रों के गुण-दोषों के अनुसार उनके चेहरों की रंगाई खुदाई हुई। मानवीय चेहरों की भावाभिव्यंजना इन निर्जीव पात्रों में संभव नहीं समझकर ही चर्मपुतली के समान ही उनके चेहरों की आकृतियां अतिरंजित बनाई गई। छायापुतलियों की तरह ही काष्ठ-पुतलियों को मानवीय आकार में बनाना संभव नहीं था। उन्हें सूत्रों द्वारा संचालित करने के उद्देश्य से उनको वज़नी भी नहीं बनाया जा सकता था, तथा मानवीय पात्रों की तरह उन्हें भी किसी युगपुरुष के आरोपण से वंचित रहना था, अतः वे आकार-प्रकार में छायापुतलियों से काफी छोटी बनाई गई तथा उनकी आकृतियों को अतिरंजित किया गया।

मानवीय नाट्य की मुखौटा-प्रणाली

काष्ठपुतलियों के सम्पूर्ण विकास के बाद ही मानवीय नाट्य की ओर कलाविदों का ध्यान आकर्षित हुआ और उस ओर विभिन्न प्रयोग होने लगे, तब तक मानवीय नाट्य के माध्यम से अभिनय प्रस्तुत करने के प्रति जो सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंध थे, वे भी कमजोर पड़ने लगे तथा मानवमूलक नाट्य पर नियंत्रण हटने लगा और मानवीय पात्र नाना प्रकार की पात्रानुकूल वेशभूषाओं से सुसज्जित होकर रंगमंच पर आने लगे। रंगमंच के इस अभिनव मानवीय प्रयोग में अभिनेता के लिये अंगसंचालन तथा पात्रानुकूल वाचन की अनुकृति तो कठिन नहीं हुई, परन्तु विविध भावमूलक आकृतियां बनाना तथा नयन, भौंहें, कपोल, ओष्ठ आदि के घुमाव द्वारा भावाभिव्यंजन करना उनके लिये बहुत कष्टसाध्य हो गया, अतः तदनुकूल मानवीय चेहरों पर रंग-रोगन चढ़ाने तथा उन्हें पुनः छुड़ाने की दिक्कतों से बचने के लिये लकड़ी तथा कागज के मुखौटों (Masks) का विकास हुआ। इन मुखौटों पर हर्ष, क्रोध, उल्लास, उत्साह, हास्य, रौद्र, वीभत्स, करुण, शृंगार, प्रेम आदि के विविध भाव रंगों द्वारा बड़ी प्रवीणता से चित्रित कर दिये जाते थे। एक बार बना लेने पर ये मुखौटे काफी लम्बे समय तक सुरक्षित रह सकते थे और अभिनय के समय उनको मुंह पर लगाकर आसानी से अभिनय किया जा सकता था। इस प्रणाली से अब उन्हें अपनी आकृति द्वारा भावाभिनय दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती थी और वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियां वाचन तथा आंगिक अभिनय में ही लगाते थे।

मानवीय नाट्य की मुखौटा-प्रणाली अनेक वर्षों तक कायम रही। इन चेहरों के साथ अभिनय करने की प्रथा आज भी बिहार के छाऊ नृत्यों में अपनी सम्पूर्ण साजसज्जा के साथ विद्यमान है। मुख पर चेहरे लगाना इसलिये भी आवश्यक होगया कि प्रत्येक मानवीय पात्र के मुख की रेखाएं पात्रानुकूल होना संभव नहीं थी। यदि किसी मानवीय पात्र को किसी राक्षस, वानर या रीछ का अभिनय करना हुआ तो उसके मौलिक आंख, नाक, कान तथा गाल में अतिरंजनात्मक विकृतियां लाना संभव नहीं होता था, अतः उसी के अनुसार बने बनाये चेहरे लगाने से उन आकृतियों की पूर्ति हो जाती थी। वैसे भी देवी-देवताओं की बड़ी-बड़ी आंखें और देदीप्यमान तेजस्वी चेहरे औसत मानव की धरोहर नहीं होते, इसलिये इस आशय से भी मुखौटों का प्रयोग आवश्यक हो गया तथा नकली चेहरे लगाकर अभिनय करने से मानवीय पात्रों को

छिपाना भी संभव हुआ। कठपुतली पात्रों में एक अद्वितीय गुण यह था कि अभिनय के समय वे किसी मानव-विशेष का आभास अपने में नहीं देते और न उसके मानवीय गुण-दोषों का आरोपण दर्शकों पर होता। मानवीय पात्र में यह गुण विद्यमान नहीं रहने से ही उसका प्रभाव कठपुतली पात्र की तरह अधिक तीव्र नहीं होता। नकली चेहरे अथवा मुखौटे लगाकर अभिनय करने के पीछे भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट थी कि अभिनेता का मानवीय चरित्र दर्शकों पर आरोपित न हो। यह मुखौटोंवाली नाट्य-परम्परा एक तरह से कठपुतली-नाट्य और मानवीय-नाट्य के बीच की कड़ी मात्र थी।

मानवीय-नाट्य का सम्पूर्ण रूप

नाट्य के विकास की पाँचवीं सीढ़ी सम्पूर्ण मानवीय-नाट्य है, जिसमें अभिनेता अपने में किसी चरित्र-विशेष का आरोप करने में वेश-विन्यास तथा मुख-विन्यास के अलावा किसी विशेष बाह्यसाधनों का सहारा नहीं लेता। चूँकि मानवीय-नाट्य का विकास कठपुतली एवं चर्मपुतली से हुआ, अतः उसकी स्मृतियों को कायम रखने के लिये उसने अपनी नाट्य-योजना में भी सूत्रधार को कायम रखा, जो कठपुतली की तरह सूत्रों से संचालित तो नहीं होता, परंतु वह अन्य पात्रों का निर्देशन अवश्य करता था। यह सूत्रधार नाना प्रकार से इन नाट्यों में प्रयुक्त होता था। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत नाटक सबसे पुराने माने जाते हैं; परन्तु लोकनाट्यों की अवस्थिति तो उनसे भी बहुत पुरानी है। ऐसी कई घुमक्कड़ नाट्य-मंडलियाँ थीं, जिनके प्रदर्शन न केवल गाँव के चौराहों, सांस्कृतिक पर्वों तथा मठ-मन्दिरों में होते थे, बल्कि राजाओं और सम्राटों के दरबार में भी उनके द्वारा मनोरंजन प्राप्त किया जाता था। जैन ग्रन्थों में ऐसी मंडलियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनके नाट्य लिखित रूप में कहीं परिलक्षित नहीं होते। इन नाट्यों का सम्पूर्ण स्वरूप, इनकी रंगमंचीय योजना तथा इनकी बनावट के सम्बन्ध में उनसे विशेष प्रकाश नहीं मिलता। इन उल्लेखों से केवल यही ज्ञात होता है कि कुछ घुमक्कड़ कलाकार विभिन्न वेशभूषाओं में विविध संगीत वाद्यों के सहारे नाच-गाकर अपने नाट्य स्वरूप प्रस्तुत करते थे। भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित रंगमंचीय एवं अन्य नाट्य सम्बन्धी नियमों का प्रतिपालन इन नाटकों में कहीं हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। नाट्यशास्त्र के तात्विक विवेचन के अनुरूप लिखे जानेवाले भास एवं कालिदास के नाटकों से भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अश्वघोष द्वारा लिखे हुए बौद्ध नाटक सारिपुत्र के कुछ बिखरे हुए अवशेष ताड़पत्र

पर कहीं-कहीं उपलब्ध हुए हैं, परन्तु उनसे भी उसके सम्पूर्ण नाट्यतंत्र का पता नहीं लगता। जिन मनोरंजनात्मक नाट्यों का उल्लेख जैन सूत्रों में हुआ है, वे निश्चय ही शास्त्रोक्त नाट्य नियमों से बँधे हुए नहीं थे और न उस समय विद्वानों द्वारा नाट्यतंत्र की कल्पना ही की गई थी। वे लोकधर्मी नाट्य निश्चय ही सभी नियमों से मुक्त होकर स्वच्छंद रूप से प्रदर्शित होते थे।

प्राचीन जैनागमों में ऐसे कई नाट्यों का वर्णन है जो तीर्थंकरों के सामने प्रस्तुत होते थे। भगवान् ऋषभदेव के उद्भव से पूर्व मानव-समाज नाना कलह और संघर्षों में उलझा हुआ था, उसी संक्रान्तिकाल में भगवान् ने मनुष्य में आनन्द-उल्लास की भावना की वृद्धि करने तथा उनको भोजन, विश्राम आदि की भौतिक भावना से ऊपर उठाकर आत्मिक आनन्द की ओर ले जाने के लिये पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाएँ सिखलाई। जैनागमों में जहाँ देवताओं का वर्णन है वहाँ उनका जीवन अधिकांश नाटक, संगीत, नृत्य आदि में ही लीन हुआ दर्शाया गया है। इन प्रसंगों में जिन नृत्यों का वर्णन है, उनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र में भी नहीं है, क्योंकि उसकी रचना तब तक नहीं हुई थी। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन पाँच प्रकार के अभिनयों, प्रास्तविक, सामान्य, नोपानिपातनिक, दार्शनिक और लोकमाध्यवसानिक का प्रचुरता से उल्लेख है, वे वस्तुतः शास्त्रोक्त नियमों में बँधे नहीं थे। लोकजीवन में फिर भी सर्वत्र इनका व्यापक व्यवहार होता था। इन नाट्यों के विशद रूप क्या थे इसका पता लगाना आज बहुत कठिन है। परन्तु विविध जैन आगमों में जो उनका अद्भुत वर्णन मिलता है उनसे उनके शृंगार, विविध नृत्य-प्रकार और विभिन्न वाद्ययंत्रों के अस्तित्व का आभास उपलब्ध होता है, जिनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र ही में नहीं हुआ है। इन्हीं उल्लेखों में ३२ प्रकार के नाटक भी हैं जो देवगणों के सम्मुख प्रदर्शित होते थे। इन नाटकों में स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते थे तथा उनमें नाना प्रकार के रास, नृत्य आदि की योजना थी। इनके लिये कोई विशिष्ट रंगशालाएँ नहीं थीं। कहीं भी चौड़े स्थान में डंडकमंडल तानकर विविध सिंहासनों तथा साजसज्जा के साथ वे प्रदर्शित होते थे। ये अधिकांश में मौखिक परम्परा के रूप में चलते थे, इसलिये इनके लिखित रूप नहीं मिलते।

विक्रम संवत् के प्रारम्भ में संस्कृत नाटक लिखे जाने लगे जिनका पूर्ण आधार नाट्यशास्त्र था। जनसाधारण के नाटकों की परम्परा तो उससे भी कई हजार वर्ष पूर्व की है। मध्यकाल में ये लोकधर्मी नाट्य रास, चर्चरि, फागु

आदि के नाम से प्रचलित हुए, जो जीवन के प्रत्येक आनन्दमय प्रसंगों में खेले जाते थे। ये सभी नाट्य गेय थे इसलिये ये बड़े आनन्द से गाये जाते थे और नृत्य तथा वादन के साथ उनका बहुसंख्यक जनता के समक्ष प्रदर्शन होता था। ये ही खेल तमाशे समय के अनुसार अपना स्वरूप बदलते गये। ये ही लोकधर्मी परम्पराएँ आज भी हमारे देश में ख्याल, रास, स्वाँग, तमाशे, जात्रा, लीलाएँ आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय जनमानस आनन्द और प्रेरणा ग्रहण करता है।

पुतलीनाट्य के विशिष्ट नाट्य-तत्व

जैसा कि पूर्व परिच्छेद में विवेचन किया गया है कि पूर्वजों और युगपुरुषों की स्मृतिस्वरूप पत्थर और काष्ठपुतलियों का निर्माण अनादिकाल से हमारे देश में होता आ रहा है। इन स्थिर प्रज्ञ मूर्तियों की पूजा, अर्चना स्नान-शृंगार भी उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति के ही द्योतक हैं। हमारे आदिवासियों में आज भी काष्ठ, मिट्टी और पाषाण की मूर्तियाँ न केवल उनके वंदन, अर्चन ही की माध्यम हैं बल्कि उनके असंख्य नृत्य, गीत, नाट्य एवं सांस्कृतिक पर्वों की सृष्टा भी हैं। ये काष्ठ एवं पाषाणखंड किसी समय मानव के उन विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बन्धित थे, जो अपने विगत मानवीय मूल्यों के चमत्कार के कारण पूजनीय बन गये। वे ऐसे ही समुदाय द्वारा पूजे जाते थे जिनके सोचने, समझने तथा अन्य मानवीय व्यवहार का दायरा बहुत ही छोटा था। इसीलिये कोई व्यक्ति गायों के झुण्ड को हत्या से बचा लेता था, तो वह उनका देवता बन जाता था। साँप के काटे हुए को जिला देने वाला व्यक्ति चमत्कारिक पुरुष बन जाता था। कोई विशिष्ट डाकू किसी धनाढ्य का धन लूटकर किसी सत्कार्य में लगा देता तो वह पूजनीय बन जाता। यही कारण है कि राजस्थान के रामदेवजी, पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी, डूंगजी, जवारजी आदि व्यक्तित्व ग्रामीण जनता के लिये देवता तुल्य बनकर अनेकों मेलों, पर्वों, गीतों तथा नाट्यों के प्रेरक बन गये। मानव और देवता के बीच के ऐसे ही व्यक्तित्व चित्रों एवं मूर्तियों के रूप में निर्मित होते थे और नृत्य-गान के माध्यम से उनकी जीवनगाथाओं को प्रस्तुत किया जाता था। ये सब मनोरंजनात्मक प्रवृत्तियाँ मानवीय नाट्य का रूप इसलिये ग्रहण नहीं कर सकीं, क्योंकि मानव को उनकी अनुकृति बनकर व्यवहृत होने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। अतः इन सब गाथाओं को नाट्यरूप देने के लिये चित्रपट, काष्ठ और छायापुतलियों का सहारा लिया गया। इस सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों

में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और मानवीय नाट्य के क्रमिक विकास की समस्त सीढ़ियाँ विस्तार से दर्शाई गई हैं।

चित्रपटों के विशिष्ट नाट्य-तत्त्व

पुतलियों और चित्रों द्वारा विगत महापुरुषों की जीवन-गाथाओं को चिरजीवित रखने के लिये जो गीत और नृत्य रचे गये, उनमें नाट्यगुणों की प्रधानता थी। आज भी राजस्थान में पाबूजी एवं देवनारायण की जो पड़ें दिखलाई जाती है, उनके साथ गीत गाती हुई दीपवाहिनी महिलाएं तथा पाबूजी के पवाड़े गाकर नाचनेवाले भोपे इस तरह समा बाँध देते हैं कि जैसे पड़ों के समस्त चित्र मूर्तिमान हो रहे हों। गीतों की रचना भी इस क्रम से की जाती है कि कथा प्रारम्भ में बीजरूप में अवतरित होती है, फिर वह अनेक प्रासंगिक कथाओं को अपने साथ लेती हुई एक सरिता की तरह छोटी-छोटी सहायक नदियों को अपने में मिलाकर एक बृहद् नदी का रूप धारण करती है। मूल नायक के चरित्र के उत्कर्ष-अपकर्ष की अनेक स्थितियों का चयन क्रमबद्ध एवं नियोजित रूप से होता जाता है। समस्त गीत संवादों के रूप में प्रस्तुत होते हैं तथा जहाँ कथानक को आगे बढ़ाना होता है, वहाँ वर्णन का सहारा लिया जाता है। गायन और नर्तन करने वाले इन गीतों में इस तरह सराबोर हो जाते हैं कि दर्शक और श्रोतागण रसविभोर होकर झूम उठते हैं। जहाँ युद्ध के वर्णन आते हैं, वहाँ भुजाएँ फड़कने लग जाती हैं। विरह-वर्णन में आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है और त्याग एवं बलिदान के प्रसंगों में हृदय आर्द्र हो जाते हैं।

इन चित्र-गाथाओं के गीत पढ़ने की सामग्री नहीं है। चित्रपटों के सम्मुख गाते-नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए भोपे और भोपिन जब इन गीतों का रावणहत्था नामक साज के साथ पाठ करते हैं तभी रसनिष्पत्ति होती है। जिन धुनों में ये गीत गाये जाते हैं वे नाट्योचित धुनें हैं और जिन छन्दों में वे गीत रचे गये हैं वे भी विविध नाट्यांगों की पूर्ति में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए हैं। कभी-कभी यदि गीत के स्वरसंयुक्त शब्द नाट्य का स्वरूप बाँधने में सफल नहीं होते तो उनके साथ नाना प्रकार की शब्दविहीन धुनें जुड़ जाती हैं, जो अर्थहीन होते हुए भी गहन अर्थ की सृष्टि करती हैं। इन चित्रपटों पर भोपिन स्त्रियों द्वारा जो दीपक दिखलाये जाते हैं वे स्वयं भी उनके नाट्य-रूपक में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। स्थिररूप से वे चित्रपट पर

रोशनी नहीं फेंकते, बल्कि अत्यन्त कलात्मक ढंग से क्रियाशील होते हुए तथा नाट्यपात्रों की तरह अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं। दीपक घुमानेवाली स्त्रियाँ जब दीपक लेकर चलती हैं तो उनके गहरे रंग के वस्त्र नजर नहीं आते। केवल घूमते हुए दीपक और उनके द्वारा बनाई हुई प्रकाश-रेखाएँ ही दृष्टिगत होती हैं। आंगिक मुद्राओं में घूमती हुई दीपवाहिनी भोपिन प्रत्यक्ष होती हुई भी अप्रत्यक्ष-सी लगती है। इसी तरह भोपों द्वारा बजाये जानेवाले रावणहत्थे तथा उन पर गाये जानेवाले पड़-गीतों पर उनके अंग-प्रत्यंग नाटकीय भावभंगिमाओं का ही आभास देते हैं।

चर्मपुतलियों का नाट्य एवं रचना-विधान

इन चित्रपटों के विविध चित्र जब चर्मपुतलियों में विकसित हुए और स्वयं चलायमान होने लगे तो उनका नाट्यस्वरूप भी किसी निर्दिष्ट दिशा में अग्रसर हुआ। कपड़े पर बने हुए चित्र चमड़े पर रंगे और काटे गये और छड़ियों के सहारे उन्हें विविध नाट्यपात्रों की तरह घुमाया-फिराया जाने लगा। ये ही कटी हुई आकृतियाँ बाद में पारदर्शी की गईं और उनकी जगह उनकी छायाएँ सफेद परदे पर नाना प्रकार से क्रिया-कलाप योग्य बनाई गईं। सहस्रों वर्ष की पृष्ठभूमि लिये हुए ये छायापुतलियाँ आज भी आंध्र में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई हैं। सर्वांगीय नाट्यगुणों से सुशोभित इन पुतलियों को इनकी विशिष्ट परम्परागत जातियों ने आज भी सुरक्षित रखा है। इन कटे हुए चर्मचित्रों में किसी पात्र-विशेष का स्वरूप अंतर्हित मानकर उनमें दैवी शक्ति का प्रवेश कराया जाता है। इसके लिये नाना प्रकार के संस्कार, अनुष्ठान आदि का आयोजन होता है और पूर्वजों द्वारा प्राप्त हुई इस दिव्य धरोहर को वे नित नवीन चित्रांकन से अप्रभावित रखते हैं। उन्हें सूर्य का प्रकाश भी नहीं दिखाते हैं। किसी अवांछित व्यक्ति की उस पर छाया भी नहीं पड़ने देते तथा प्रदर्शन से पूर्व उसका अर्चन-वन्दन करके उसमें दिवंगत आत्मा का आह्वान करते हैं। जब ये पुतलियाँ विशिष्ट कथाप्रसंग में प्रयुक्त पात्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं और विधिवत् पूजा-अर्चन के बाद उनमें प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है तो वे दर्शक एवं परिचालकों की पूर्ण श्रद्धा की पात्र बन जाती हैं और विशिष्ट नाट्य में प्रविष्ट होने के लिये उनका समस्त व्यक्तित्व परिस्फुटित हुआ समझ लिया जाता है। वे दिवंगत आत्मा की अनुकृति नहीं बल्कि उनकी प्रतिनिधि मात्र समझी जाती हैं।

उस दिवंगत आत्मा की, जिसका वे प्रतिनिधित्व करती हैं, आकृति से उसकी आकृति बनाई जाती है तथा शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों को मानवीय आकृति से भिन्न बनाकर उसका दिव्य स्वरूप प्रकाश में लाया जाता है। मानवीय शरीर को छोड़कर जिस दिव्य शक्ति का चोला धारण होता है, उसकी कल्पना विधिवत् की गई हो, ऐसा अनुमान इन चर्म-आकृतियों को देखकर लगाया जा सकता है। सहस्रों वर्षों से परिपक्व हुई यह कल्पना, ऐसा प्रतीत होता है, अब कोई विशेष परम्परा बन गई है। पृथ्वी पर अनेक पुण्य कार्य करनेवाला मानव देवयोनि में प्रवेश करता है और उसके साथ जुड़े हुए समस्त प्राणी अपने पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार मरणोपरान्त कोई अच्छी या बुरी योनि प्राप्त करते हैं, इसका एक परिपुष्ट टेकनिक इन पुतलीकारों ने पुतलियों की आकृतियाँ निर्धारित करने के लिये सहस्रों वर्षों के अनुभव से विकसित किया है, इसीलिये किसी दिव्य पुरुष की आकृति में चेहरा बड़ा, ललाट चौड़ा, नेत्र विशाल, भुजाएँ परिपुष्ट, जंघाएँ भरी हुई तथा नाक और होंठ सधे हुए और सुन्दर बनाये जाते हैं। शरीर का अनुपात मानवीय शरीर से कुछ छोटा और मुख मानवीय शरीर के अनुपात से काफी बड़ा होता है। हाथों की लम्बाई बहुधा घुटनों से काफी नीचे तक जाती है। पाँव अनुपात से छोटे परन्तु उंगलियाँ कुछ बड़ी होती हैं। इनके मुख गहरे लाल रंग से रंगे जाते हैं। सजावट में पीले रंग की प्रधानता रहती है। भौंहें काली पर नयन कजरारे होते हुए भी नीलिमा लिये हुए होते हैं। नाना प्रकार के छेदों से बनाए हुए शृंगार में वैविध्य होता है। महानायक के शरीर की रचना में उक्त परम्परा के अनुसार आकृतियों और अलंकरण आदि में कुछ विशेषताएँ और होती हैं, जैसे माथे पर मुकुट, कमर में स्वर्ण-शृंखला, हथेली तथा हाथों में रत्नजटित शृंगार। इसी तरह उपनायक तथा अन्य सहनायकों की विविध आकृतियाँ एवं उनके शृंगार परम्परा से निश्चित होते हैं।

दुष्टजनों के लिये विविध आकृतियाँ एवं उनके रंगविधान आदि परम्परा-पुष्ट होते हैं। उनके होंठ बड़े, आँखें छोटी, कान बड़े, ललाट सूक्ष्म, कंधे पिचके हुए, वक्ष-स्थल दबा हुआ, घुटने उभरे हुए, जंघाएँ पतली, हाथ छोटे एवं उँगलियाँ अनुपात से बड़ी, केश उच्छृंखल, नाक चपटी, धड़ भीमकाय, एड़ियाँ एवं पाँवों की उँगलियाँ टेढ़ीमेढ़ी एवं विकृत होती हैं। इसी तरह परमदुष्ट, किञ्चित् दुष्ट, अतिदुष्ट, निकृष्ट, अतिनिकृष्ट आदि पात्रों के अनुपातों में भी नाना प्रकार के भेद-विभेद अलिखित शास्त्र के रूप में परम्परा से चले आरहे हैं। इनके रंगों में भी नाना प्रकार के भेद-विभेद हैं चेहरा लाल परन्तु कालापन लिये हुए होता है।

उसमें पीले रंग का नितान्त अभाव, काले रंग की प्रधानता, भूरे रंग की प्रतिच्छायाएँ, हरे रंग की गहराई तथा नीले रंग की कालिमाएँ होती हैं। शरीर पर शृंगार प्रायः नहीं के बराबर होता है, तथा कहीं-कहीं तो परिधान केवल लाज ढकने के लिये ही दर्शाया जाता है। प्रतिदुष्टजन अपने नीच कर्मों से जब राक्षसी प्रवृत्तियों को प्राप्त होते हैं तो उनके चेहरे भैंसे की सी आकृति-वाले, नाक गेंद के समान, जबड़े कूप की तरह गड़े हुए, हड्डियाँ ऊपर उभरी हुई, दाँत बाहर निकले हुए, पाँव पिचके हुए, हथेलियाँ काँटों की तरह, जंघाएँ पतली लकड़ी जैसी तथा शरीर का ढाँचा अत्यन्त विकृत होता है।

इस तरह न केवल मानवीय पात्र पुतलियों में निर्मित होते हैं, बल्कि पशु-पक्षियों के भी नाना रूप इन नाट्यों की शोभा बढ़ाते हैं। यदि महानायक का विशिष्ट वाहन कोई पशु होता है तो उसे अत्यन्त पूजनीय मानकर अत्यधिक अलंकृत किया जाता है। अपने स्वामी की तरह वह भी दिव्ययोनि प्राप्त प्राणी माना जाता है तथा उसके आकार-प्रकार भी पार्थिव पशु-पक्षियों से भिन्न होते हैं। यदि महानायक का वाहन घोड़ा होता है तो उसके बहुधा पंख लगे हुए होते हैं, क्योंकि वह कभी-कभी हवा में भी उड़ता है। यदि उसका वाहन कोई हाथी है तो उसके एक सूंड नहीं अनेक सूंडें होती हैं। ये प्राणी भी अपने स्वामियों की तरह दिव्य प्राणी समझे जाते हैं, अतः पार्थिव पशु-पक्षियों की तरह ही इनके सभी अनुपात अतिरंजित होते हैं। दुष्टजनों के साथ पशु-पक्षी न भी जुड़े हों तो भी उनके पुतलीस्वरूपों में वे अनायास ही जोड़ दिये जाते हैं। जैसे भैंस, गिद्ध, साँप, बिच्छू, कुत्ते, गधे आदि।

पुतलीपात्रों में नारी का अभाव

पुतलीपात्रों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात जो महत्त्व की है, वह यह कि उनमें नारीपात्रों का नितांत अभाव रहता है। आज जो चर्मपुतलियाँ हमारे देश में विद्यमान हैं वे विषय की दृष्टि से पुरातन पुतलियों से भिन्न हैं। पुरातन पुतलियाँ दिवंगत महापुरुषों के जीवन अंकित करने के लिये ही अवतरित हुई थीं। उनके पात्र उनकी रचनाएँ सौ डेढ़ सौ या चारसौ पाँचसौ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं होते थे। उस समय अवतारी पुरुषों की कल्पना साकार नहीं हुई थी। मर कर कोई व्यक्ति देव या प्रेत बनता है, इसी कल्पना के आधार पर उनका अर्चन, चिंतन और स्मरण निर्भर रहता था। आज तो आन्ध्र की छायापुतलियों में द्रौपदी, सत्यभामा, राधा, सुभद्रा, अहिल्या आदि नारियों का समावेश हुआ है परन्तु पुरुषपात्रों की तुलना में वे अभी भी

अभाव की स्थिति में ही है। उस युग के पात्रों में द्रौपदी और राधा जैसी स्त्रियाँ भी इतना महत्त्व प्राप्त कर सकती थीं, परन्तु आज किसी भी स्त्री के पाँच पति एवं किसी विवाहिता स्त्री के बहुसंख्यक प्रेमियों की कल्पना अत्यन्त-हीन कल्पना समझी जाती है। स्त्री के प्रति उक्त भावनाओं के कारण ही स्त्रीपात्रों के सम्बन्ध में आकृति एवं रंगमूलक कोई विशिष्ट परम्परा इन पुतलियों में परिलक्षित नहीं होती। आन्ध्र की छायापुतलियों में जहाँ सीता, द्रौपदी, राधा आदि नारियों का चित्रण हुआ है, वहाँ उन पर आकृति तथा रंग सम्बन्धी उन्हीं परम्पराओं का पालन हुआ है, जो पुरुषों के सम्बन्ध में हुई हैं। एक बात जो यहाँ अवश्य ही ध्यान देने योग्य है, वह यह कि स्त्री की आकृति को अधिक विकृत नहीं किया गया है, उसका चित्रण बहुधा मानवीय पात्रों की तरह ही हुआ है। चेहरे की मनमोहकता, अच्छी या बुरी नारी में समान रूप से ही कायम रखी हुई है। पुतलियों की नारी को पुरुषों को डाँवाडोल करके विचलित करनेवाली ही दर्शाया गया है। वह दिव्य गुणों को प्राप्त करने में सदा ही असमर्थ रही है। नारीपात्रों के शृंगार, अलंकरण आदि पर भी अत्यधिक जोर दिया गया है।

पुतलियों के भावमय चेहरे

पुतलियों के आकार, प्रकार, शृंगार, आहार्य सम्बन्धी इतने बड़े शास्त्र की, चाहे वह अलिखित ही क्यों न हो, स्वयं भरतमुनि भी कल्पना नहीं कर सके थे। सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी चरित्रों के वेशभूषा सम्बन्धी जो स्वरूप भरतमुनि ने निर्धारित किये हैं, वे सभी पुरातन पुतलियों में विद्यमान हैं। जो आकृतिमूलक विशेषताएँ इन पुतलियों में पाई जाती हैं, वे पात्रों के गुण-दोषों पर तो आधारित हैं ही, वरन् उनके प्रधान भावतत्त्वों पर भी आधारित हैं। पात्र के प्रधान गुण-तत्त्वों को प्रकट करने वाले प्रमुख संचारी भावों की रेखाएँ चर्मपुतलियों पर अंकित करदी जाती हैं। जैसे किसी विनोदशील पात्र के मुख की रेखाओं में हास्य, आतंक और डर उत्पन्न करने वाले राक्षसी पात्रों की रंग-रेखाओं में भय एवं शान्त सौम्यगुणी पात्रों के चेहरों से शान्ति का भाव भी आभास होता है। ये स्थिरभावी चेहरे यद्यपि किसी प्रमुख भाव की ही सृष्टि करते हैं, फिर भी बदलती हुई भावस्थितियों में वे विपरीत प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। समस्त नाट्यरचना में कथावाचन, कथोपकथन, संगीत तथा पुतली-संचालन की ऐसी अद्भुत चेष्टा होती है कि ये स्थिरभावी चेहरे भी कभी-कभी बदलते हुए भावों का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

पुतली-परिचालक ऐसी विषम स्थितियों में स्वयं पुतली को भी ऐसा मोड़ देता है कि उसका चेहरा परदे पर चपटा हो जाने से तुरन्त अंधकारग्रस्त हो जाता है और चेहरे की अनावश्यक एवं रसाभास उत्पन्न करने वाली भावमुद्रा तिरोहित हो जाती है। जिस तरह मानवीय पात्र नाट्यमंच पर स्थिति के अनुसार अपना भाव बदलता है, उसी तरह पुतली-परिचालक भी पुतलियों को तुरन्त मोड़कर उनमें भाव-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है।

समस्त पुतलीनाट्य के रसप्रतिपादन में पुतली की भावमुद्राएँ जितनी उत्तरदायी नहीं हैं उतनी उसके कथावाचन, स्वरसंचरण, वाद्यवादन एवं प्रस्तुतीकरण की कलाएँ हैं। मानवीय नाट्य में मानवीय पात्र अपने अंग-संचालन, कथोपकथन तथा चेहरे की भावमुद्राओं के माध्यम से रसोद्रेक की स्थिति पैदा करता है और रंगमंचीय साजसज्जा, वेशविन्यास, मुखविन्यास, दृश्य-विधान, गायन, नर्तन आदि उस प्रमुख भाव को उद्दीप्त करते हैं। परन्तु पुतलीनाट्य में यह क्रम उलट जाता है। पुतली-परिचालकों द्वारा गाये हुए गीत, संवाद, वाचन, गाथा, विवेचन आदि विशिष्ट भाव-स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं और पुतलीपात्र अपनी आकृतिमूलक अंगभंगिमाओं द्वारा उन भावों को उद्दीप्त करके रसोद्रेक की स्थिति उत्पन्न करते हैं। नाट्यतंत्र की शास्त्रीय भाषा में पुतलीनाट्य के नाट्य-अनुबन्ध, गीत-संवाद, वाचन आदि रसोद्रेक की स्थिति उत्पन्न करने वाले नाट्यपात्र के समान हैं तो पुतलियाँ स्वयं रंगमंचीय दृश्य-विधान, साज-सज्जा आदि की तरह रसोद्दीपन सामग्री का काम करती हैं। वास्तव में वास्तविक नाट्यपात्र तो पुतली-परिचालक ही है, जिसके हाथ में पुतली की छड़ियाँ रहती हैं और जिनसे वह उन्हें विविध क्रिया-कलापों में निरत करता है। उनके साथ गाता भी वही है और उछल-कूद भी वही करता है। वह स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता। वह केवल पुतली को परदे पर पड़ी हुई उसकी छाया के रूप में प्रत्यक्ष करता है। पुतली उसका शरीर है तो वह उसकी प्राण-दायिनी शक्ति। अतः जो भी भावोद्रेक होता है, वह पुतली-परिचालक में होता है, पुतली में नहीं। पुतली तो केवल उन भावों को उद्दीप्त करके उन्हें अन्य प्रसाधनों की मदद से रस की स्थिति तक पहुँचाती है।

पुतलीनाट्य-रचना

पुतलियों के कथोपकथन आदि में भी पुरातन पुतली-मर्मज्ञों ने मानवीय कथोपकथन शैली का आधार नहीं लिया। उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि रक्त-मांस-विहीन पुतलियों में संवेदन शक्ति नहीं है। वे हिल सकती हैं,

अंग-संचालन भी कर सकती है, होंठ और आंख को चलायमान कर सकती हैं
तथा बोलने का उपक्रम भी कर सकती हैं, परन्तु वास्तव में वे बोल नहीं सकतीं।
ऐसी स्थिति में उन पर कथोपकथन आदि मानवीय ढंग से थोप देने से उनका
दर्शकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि पुतलियों से वाचन,
संभाषण आदि उसी समय कराया जाता है, जबकि वे अत्यधिक क्रियाशील
हों ताकि क्रिया-कलापों के अस्पष्ट अर्थ शाब्दिक अर्थों में मिलकर संपूर्ण अर्थ
की सृष्टि कर सकें। पुतली की स्थिर स्थिति में बहुधा कोई संभाषण नहीं
होता। उस समय वाचन द्वारा कथाप्रसंग को अत्यंत रोचक ढंग से बढ़ाया जाता
है और प्रत्यक्ष संभाषणजनित कमियों को पूरा किया जाता है। कथाप्रसंग के
चुनाव में भी उन्हीं स्थितियों को प्रधानता दी जाती है, जो क्रियाप्रधान हों
और आदेश, उपदेश, भाषण आदि अरुचिकर स्थितियों से मुक्त हों। पुतलियों
के माध्यम से भावाभिव्यंजनाएँ जहाँ तक हो सके बचा ली जाती हैं और उन्हीं
उद्रेकमयी स्थितियों को प्रधानता दी जाती है जिनमें पुतलियों की उछल-कूद,
उनकी उड़ान तथा क्रियाशील स्थितियाँ सर्वोपरि स्थान पा सकें। यही कारण
है कि पुतलीनाट्य की रचना मानवीय नाट्य जितनी सरल नहीं है। पुतली-
नाट्यतंत्र इतना जटिल है कि कोई भी साधारण पुतलीकार नवीन रचना करने
की हिम्मत नहीं करता। विरले ही ऐसे चमत्कारी पुतलीकार पैदा होते हैं
जो किसी विशिष्ट पुतलीनाट्य की परम्परा डालते हैं और कई वर्षों में वे
परिपक्व नाट्य का स्वरूप ग्रहण करती हैं। आज जो आन्ध्र में महाभारत
तथा रामायण आदि पर आधारित छायानाट्य चलते हैं उनके प्रारम्भिक एवं
मौलिक रूप की कल्पना करना संभव नहीं है। सदियों से जो एक ही नाट्य
सभी शैली की भारतीय कठपुतलियों में चलता है, उसका अर्थ यह कभी नहीं
है कि पुतलीनाट्य का रचनाक्रम शिथिल पड़ गया है और दर्शकों की उदा-
सीनता के कारण अब कोई भी नवीन रचना का खर्च वहन करने को तैयार
नहीं। सदियों पूर्व रची हुई ये भारतीय पुतली रचनाएँ अपने को किसी विशिष्ट
रचयिता के नाम के साथ नहीं जोड़तीं। उनकी सार्थकता और व्यापकता इसी
में है कि वे सामाजिक धरातल पर अवस्थित हैं और सामाजिक पुतलियों ही
का अंकन उन्होंने स्वीकार किया है। यही कारण है कि भारतीय पुतलियाँ
सर्वदा ही लोकशैली पर ही निर्मित हुई हैं और किसी व्यक्तिविशेष की
अभिव्यक्ति से वे सदा ही दूर रही हैं। जनमानस पर आज भी उनका जो
चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है और समाज उस रचना को एक सामाजिक संस्कार
की तरह स्वीकार करता है, उसके पीछे भी उसकी गहरी लोकशैली ही है।

भारतीय पुतलियाँ, जो कुछ ही सूत्रों, छड़ियों तथा न्यूनतम रंगमंचीय साज-सज्जाओं के माध्यम से किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रसंग को लेकर भी इतना गहरा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, उसके पीछे सहस्रों प्रतिभाओं का हाथ है। उन्होंने निरन्तर एवं लम्बे परीक्षण तथा प्रयोग से यह भली प्रकार ज्ञात कर लिया है कि किस प्रकार के वाचन, नर्तन, गायन एवं परिचालन से पुतलियाँ सर्वाधिक प्रभावशाली हो सकती हैं। पुतली के निर्माण में भी भावोद्दीपन की समस्त बारीकियों का पता लगा लिया गया है और उन्हीं के अनुसार पुतलियों के अनुपात, रंग एवं विविध रेखाओं का आयोजन-नियोजन होता है।

कठपुतलियाँ और चर्मपुतलियाँ

भारतीय काष्ठपुतलियों के संबंध में भी ये ही सिद्धांत लागू होते हैं। काष्ठपुतलियाँ चर्मपुतलियों की ही वंशज हैं। उनकी उत्पत्ति चर्मपुतलियों के शारीरिक अवयवों के अभाव की पूर्ति के लिए ही हुई थी। चर्मपुतलियों में स्थूल शरीर की कल्पना करना असंभव था। सबसे बड़ी सीमा तो यह थी कि उसका प्रोफील (Profile) वाला मुख ही सफल अनुकृतिमूलक छाया की सृष्टि करता था। सामने का मुख केवल अंधकार का पुंज मात्र था। पुतली को घुमाने-फिराने तथा उसके द्वारा सम्मुख हुई अन्य पुतलियों की ओर उसका उन्मुख होना अत्यंत कष्टसाध्य कार्य था। पुतली के शृंगार एवं अन्य प्रसाधन भी रंगों द्वारा ही चित्रित किये जाते थे। उन पर वस्त्र आभूषण का वास्तविक शृंगार संभव नहीं था। इन्हीं सीमाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये काष्ठ-पुतलियों का आविर्भाव हुआ, परन्तु पुतलीनाट्य-विज्ञान की परम्परा पूर्ववत् ही कायम रही। कठपुतली के माध्यम से पुतलीनाट्य परिपक्व तथा सर्वांगपूर्ण अवश्य हुआ, परन्तु वह प्रचलित पुतलीनाट्य के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में। काष्ठ की पुतलियों में जो नाट्य रचे गये, वे परम्परा से पुष्ट हुए। किसी व्यक्तिविशेष की प्रतिभा उनके लिये पर्याप्त नहीं थी। उनकी पृष्ठभूमि सैकड़ों वर्ष प्राचीन है। इन कठपुतलीकारों को अपनी पुतलियाँ परम्परा से प्राप्त हुई हैं, जिनकी सुरक्षा वे चर्मपुतलीकार की तरह ही करते हैं। मुख के रंग-रोगन, पुतली के शृंगार, सजाव, अतिरंजित आकृतियाँ, वेश, आहार्य, परिचालन, संभाषण, गायन, भावाभिव्यंजन, प्रस्तुतीकरण आदि में भी चर्मपुतलियों के नियमों का ही पालन होता है। उनके गहन अध्ययन से उनमें अत्यंत उच्चकोटि के नाट्यतत्वों के दर्शन होते हैं। समय और काल के चक्र से इन नाट्यों के केवल ध्वंसावशेष अवश्य रह गये हैं, और कई विकृत कथाएँ और क्षेपक उनमें जुड़

गये हैं। अपनी निर्धनता के कारण इनकी पुतलियों की वेशभूषाएँ भी चिथड़े बन गई हैं। पूर्वजों द्वारा पहिनाई हुई ये पोशाकें, जो कई परतों के रूप में आज भी अपनी मलिन अवस्था में विद्यमान हैं, अपने पुरातन वैभव का भान कराती हैं।

इन काठपुतलियों के विकृत नाट्य-प्रसंगों में भी किसी विगत पुष्ट नाट्य-परम्परा के दर्शन हो सकते हैं। इन पुतलियों के रंगों में अभी भी उसी पुरातन परम्परा का अनुशीलन किया गया है, जो आज भी आन्ध्र की छायापुतलियों में विद्यमान है। राम और कृष्ण के चेहरे और शरीर कालिमा लिये हुए नीले रंग के होते हैं। अन्य सब दिव्य चरित्रों के रंगों में लाल और पीले रंगों की प्रधानता है तथा राक्षसी चरित्रों में काले रंगों का प्रयोग हुआ है। पुतलियों की आकृतियों की खुदाई में उसी अतिरंजनात्मक शैली का अनुसरण किया गया है जो चर्मपुतलियों में विद्यमान है। उनकी विविध भावभंगिमाओं को भी अत्यंत मार्मिक ढंग से तराशा गया है। हास्य, विनोद, भयानक, रौद्र, शान्त और मनमोहकता से परिपूर्ण पुतलियों के विविध चेहरे किसी न किसी परम्परा के अनुसार ही तराशे गये मालूम होते हैं। यद्यपि उड़ीसा की अधिकांश पुतलियाँ परम्परा से ही प्राप्त हुई हैं और नवीन पुतलियों का निर्माण बहुधा रुक-सा गया है, फिर भी उनसे यह भली प्रकार ज्ञात हो सकता है कि उनकी मुखाकृतियों तथा रंग-विधान, परिधान, अलंकरण आदि में एक विशिष्ट नाट्यपरम्परा निहित है, जिसे आज उड़ीसा के सखी एवं कन्हाई नाट लकीर मानकर पकड़े हुए हैं।

यद्यपि उड़ीसा की कठपुतलियों में विशिष्ट क्रमबद्ध कथावस्तु के दर्शन नहीं होते, फिर भी जो बिखरे हुए कथाप्रसंग आज भी मौजूद हैं, उनमें वस्तु-व्यवस्था का तनिक आभास मिल सकता है। कृष्ण-कथा में कृष्ण जहाँ नायक के रूप में दर्शाये गये हैं, वहाँ उपनायक के रूप में बलराम आदि पात्रों का उपयोग हुआ है। राधा प्रधान नायिका के रूप में अन्य नायिकाओं से अब भी सर्वोपरि मानी गई है। यद्यपि इस कथाप्रसंग में अनेक नवीन प्रसंग घुस गये हैं और समस्त नाट्य नवीन पुरातन की एक बेमेल एवं बेस्वाद खिचड़ी बन गई है, परन्तु उनका प्रस्तुतीकरण आज भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से होता है। पुतलियों का संभाषण मानवीय संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं होकर परिचालकों द्वारा पुतली संवाद के रूप में अनायास ही, प्रकट होता है। गीत परिचालक गाते हैं परन्तु उनका आरोपण पुतलियों पर बहुत ही मार्मिक ढंग से होता है। पुतलियों का प्रधान विदूषक इस संवाद आरोपण में जबर्दस्त

हाथ बँटाता है। वह कई कथाप्रसंगों को जोड़ता है और रंगमंच पर नहीं आने योग्य प्रसंगों, दृश्यों एवं पात्रों को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है। यद्यपि रामायण एवं महाभारत की कथाओं को इन कन्हैया तथा सखी नटों ने बहुत ही मनमाने ढंग से प्रयुक्त किया है और परंपरा की दृष्टि से उनमें काफ़ी आघात भी पहुँचा है, परन्तु पुतलीनाट्य-विज्ञान की दृष्टि से उनके ये प्रयोग बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण मालूम होते हैं। उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात है कि चर्मपुतलियों की तरह उनकी ये काष्ठपुतलियाँ दर्शकों को दीर्घकालीन मनोरंजन प्रदान करने में असमर्थ रहती हैं, अतः कथाप्रसंगों में उन्होंने जो स्वतंत्रता ली है वह अनुचित नहीं है। छायापुतलियों के आकार-प्रकार, रंग-रूप तथा रंगमंचीय विधान आदि बड़े पैमाने पर बनाये जाते हैं। पुतलियाँ भी बहुधा मानवीय आकार की ही होती हैं। कई दलों के सहयोग से प्रदर्शन भी बड़े पैमाने पर प्रस्तुत किये जाते हैं, अतः दर्शकों की संख्या पर कोई प्रतिबंध नहीं है। रंगमंच भी मानवीय ऊँचाई से ऊपर बनता है, अतः लम्बी दूरी से भी दर्शकगण इन पुतलियों का भली प्रकार आनन्द ले सकते हैं, परन्तु काष्ठपुतलियों को अनेक सीमाओं में रहना पड़ता है। ये बृहद् दर्शक समाज का मनोरंजन करने में असफल रहती हैं।

चर्मपुतलियों के संबंध में एक विशेष बात यह है कि इनमें मानवीय नाट्य का अंश काष्ठपुतलियों से कहीं अधिक निखरा हुआ और स्पष्ट रूप से आरोपित होता है। समस्त परिचालकगण पुतलियों को पकड़कर परदे के पीछे खड़े रहते हैं और पुतलियों के साथ ही स्वयं भी नाचते-कूदते, फुदकते एवं उछलते हैं। पीछे की प्रकाश-व्यवस्था की चतुराई के कारण ये परिचालकगण दर्शकों को दृष्टिगत नहीं होते, परन्तु वास्तव में नाट्य के पात्र स्वयं पुतली-परिचालक ही हैं। पुतलियाँ तो केवल निमित्तमात्र हैं। यही कारण है कि ये छायापुतलियाँ दर्शकों पर रसनिरूपण अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं, परन्तु उड़ीसा तथा अन्य शैली की काष्ठपुतलियों का दायरा छोटा होता है। दर्शकों की तादाद तो कम रहती है, परन्तु उनके लिये विशिष्ट रुचि के दर्शक भी आवश्यक होते हैं।

उड़ीसा की काष्ठनिर्मित पुतलियों की तरह ही दक्षिण भारत और राजस्थान की कठपुतलियाँ विशिष्ट रुचि के दर्शकों को अधिक प्रभावित करती हैं। हलके-फुलके, मनोरंजनात्मक तथा रसीले क़िस्म के लोग घंटा दो घंटा बैठकर इन पुतलियों का आनन्द ले सकते हैं। गंभीर, चिन्तनशील तथा

दार्शनिक अभिरुचि के लोगों के मनोरंजन के लिये ये पुतलियाँ अधिक कारगर नहीं होतीं। यही कारण है कि ये काष्ठनिर्मित पुतलियाँ इन हलके-फुलके लोगों को अधिक मनोरंजित करती है, छायापुतलियाँ कम। छायापुतलियों के अनुरंजनात्मक तत्व अधिक प्रबल हैं। चपटी और एकमुखी छायापुतली की भीमकाय छाया में पूरे गोश्त-मास, रक्त तथा मांसपेशियों वाले पात्रों की कल्पना करनी पड़ती है, जिसके लिये वयस्क मस्तिष्क और चिन्तनशील दर्शकों की आवश्यकता होती है। काष्ठपुतली खिलौने के समान सम्पूर्ण आकृतिमूलक होने के नाते बच्चों को अपनी ओर अधिक खींचती है। दक्षिण भारत की बम्मोलाटम पुतलियाँ भारत की अति प्राचीन परम्परा में होते हुए भी उन्हें अनेक आघात सहने पड़े हैं। अन्य सुसम्पन्न और वैभवशाली कला स्वरूपों ने इस स्वरूप को लगभग नष्टप्राय: ही कर दिया है। इसका पुनर्जीवन तंजोर के दरबार में आज से तीन सौ वर्ष पूर्व ही हुआ। अत: प्राचीन पुतली-परम्परा और मध्यकालीन पुतली-परपरा को जोड़नेवाली कोई विशिष्ट कड़ी कायम नहीं रही। आज से दो सौ वर्ष पूर्व कुंबकुलम तथा मुदुकोटे के विशिष्ट अयंगर परिवार उसे तंजोर से अपने यहाँ ले आये और आज तक उसका अभ्यास करते रहे। कोचीन तथा तंजोर के भरतनाट्यम, कुचपुड़ी, कथकलि, यक्षनाट्य शैलियों की अत्यधिक लोकप्रियता के कारण कठपुतली कला को निश्चय ही आघात पहुँचा है, बल्कि यों कहिये कि उनके कारण उसका प्राय: लोप ही हो गया है। आन्ध्र में भी केवल उसके उत्तरी-पूर्वी भागों में ही छाया: पुतलियों का प्रचलन है। अन्य भागों में उसकी लोकप्रियता को काफ़ी धक्का लगा है। कुंबकुलम की पुतलियाँ इसी कारण उड़ीसा और राजस्थान की पुतलियों से भिन्न है, क्योंकि उन्हें अन्य नत्य-स्वरूपों के मुकाबले जीवित रहना था, अत: वे उनकी हूबहू नक़ल के रूप में आविर्भूत हुई और जिस तरह मानवीय पात्र रंगमंच पर नाचते गाते हैं, उसी तरह ये पुतलियाँ भी मानवीय पात्रों की तरह क्रिया-कलाप करती हैं। उनके आकार-प्रकार भी मानवीय पात्रों की तरह ही छोटे-बड़े होने लगे हैं तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी वे मानवीय पात्रों की तरह प्रस्तुत होने लगी हैं।

राजस्थान की कठपुतलियों में आज भी पुरातन नाट्यतत्वों के दर्शन होते हैं। मध्यकालीन राजस्थान की विशिष्ट शासनिक तथा सामाजिक स्थिति के कारण इन पुतलियों ने अपना चोला अवश्य बदला है। मुगल साम्राज्य से प्रभावित राजस्थान के रजवाड़े अपनी वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन, व्यवहार, धर्मकर्म, समाजव्यवस्था, कलाकारिता आदि में आगरा तथा दिल्ली की तरफ

उन्मुख हुए। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के विविध राजे-महाराजे अपनी समस्त प्रेरणा मुगलदरबार से प्राप्त करने लगे। अनेक कलाकार, वादक, नर्तक, कवि, शायर, चित्रकार, दस्तकार तथा नाना प्रकार के शिल्पकार इन रजवाड़ों में आश्रय प्राप्त करने लगे। राजस्थान के पुतली कलाकार भी इन आश्रित कलाकार वर्गों में से एक थे। वे अपने पुरातन कथाप्रसंग को छोड़कर दिल्ली के दरबारी कलाकारों की तरह ही इन राजा-महाराजाओं के गुण गाने लगे। इनका सर्वोच्च आश्रयदाता नागौर का राजा अमरसिंह राठौड़ था, जिसने मुगलदरबार में आश्रय पाकर भी समय पर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये उनसे लोहा लिया। महत्त्वाकांक्षी नागौर के राजा अमरसिंह ने अपनी उपलब्धियों को कठपुतलियों के माध्यम से प्रचारित करने के उद्देश्य से इन पुतलीकारों को आश्रय प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप अमरसिंह राठौड़ नामक कठपुतली नाटिका की सृष्टि हुई, जो आज भी अपनी सड़ी-गली अवस्था में विद्यमान है। उसमें परम्परागत पुतलीनाट्य की अनेक विधाओं के दर्शन होते हैं। वर्तमान कथा-वस्तु किसी बृहत् कथावस्तु की अंश मात्र प्रतीत होती है। नाट्यारंभ से पूर्व रंगमंच की सफ़ाई आदि के लिये जो भिश्ती, मेहतर के प्रसंग प्रयुक्त हुए हैं, उनमें डुगडुगी वाले के साथ जो मनोविनोदकारी संभाषण दिये गये हैं, उनमें किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बृहत् कथाप्रसंग की ओर संकेत स्पष्ट है। मुगलदरबार में विविध राजाओं का पदार्पण, नृत्य-गायन का आयोजन तथा अमरसिंह राठौड़ की अनुपस्थिति के प्रसंग में जो कुछ भी कहा सुना जाता है, उसमें किसी पूर्व कथा का आभास मिलता है। अर्जुनगौड़ और सलावतखां के विवादों में भी अमरसिंह की वंशावली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। राजस्थान के कठपुतलीवाले आज जो भी दिखलाते हैं वह केवल उस बृहद् नाटक का एक दृश्य मात्र है, जिसमें मुगलदरबार का वैभव तथा अमरसिंह राठौड़ के शौर्य का परिचय दिया गया है। जिन कारणों से मुगलदरबार में तलवारें चलीं और स्वयं बादशाह को दरबार छोड़कर भाग जाना पड़ा, उनका विवेचन निश्चित ही किन्हीं विशिष्ट दृश्यों में हुआ होगा, जिनको समय एवं जनरुचि के अभाव में ये कलाकार छोड़ते चले गये फलतः राजस्थानी कठपुतली प्रदर्शन के इस मुगलदरबार के दृश्य में विविध कलाबाज़ियाँ दिखलाकर जनता को अनुरंजित करने का ही लक्ष्य प्रमुखतः रह गया।

लेखक ने आज से २० वर्ष पूर्व जब राजस्थानी कठपुतलियों की खोज प्रारम्भ की थी तब नब्बे वर्षीय भाट नाथू ने कुछ गीत ऐसे सुनाये थे, जिनमें

अमरसिंह राठौड़ के जीवन संबंधी अनेक प्रसंगों का उल्लेख था। उन प्रसंगों में अमरसिंह की रानी के वे विवाद भी मौजूद थे, जिनमें उसने अपने वीर पति को मुगलदरबार में पूरी सावधानी बरतने का आदेश दिया था। अमरसिंह ने राजपूत जाति के गौरव और उसकी मान-मर्यादा की सुरक्षा के लिये जो भी सुकृत्य किये तथा मुगल सम्राटों के प्रति जो उपेक्षा की भावना प्रकट की, वे सभी प्रसंग वर्तमान नाट्य से निकाल दिये गये हैं। नाथू से यह भी ज्ञात हुआ कि उसी के पूर्वजों ने आज से १००० वर्ष पूर्व पृथ्वीराज-संयोगिता नामक कठपुतली नाटिका का सृजन किया था। उस संबंध में उसने कुछ गीत भी सुनाये थे, जो उसे अपने पूर्वजों से धरोहर के रूप में प्राप्त हुए थे। इन गीतों का प्रयोग यदा-कदा अप्रासंगिक रूप से अमरसिंह राठौड़ की नाटिका के प्रदर्शन में होता ही रहता है। उसका यह भी कहना था कि भारतवर्ष में जितने भी कठपुतली नट आज विद्यमान हैं, वे सभी उस आदि नट के वंशज हैं, जिसने सर्वप्रथम कठपुतली नाट्य की रचना की थी। नाथू भाट की बातचीत से यह भी पता लगा कि आज से २००० वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय की प्रसिद्ध कठपुतली नाटिका सिंहासन-बत्तीसी के रचयिता भी उसी के पूर्वज थे।

वर्तमान अमरसिंह राठौड़ कठपुतली नाटिका की संवाद तथा कथोपकथन शैली में आज भी उच्चकोटि की नाट्यविद्या के दर्शन होते हैं। कई हजार वर्ष पूर्व ही इन पुतलीकारों को यह ज्ञात था कि ये प्राणहीन काष्ठ-पुतलियाँ मानव की तरह बोल नहीं सकती हैं, न उनमें किसी प्रकार का भावात्मक स्पंदन उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही है, इसी कारण उन्होंने सीटियों की वाणी का आविष्कार किया और उसी से वाचन, संभाषण आदि का उपक्रम पैदा किया। उनकी यह अत्यंत वैज्ञानिक धारणा कि पुतलियाँ मानवीय पात्रों की अनुकृति नहीं हैं, कई हजार वर्ष पूर्व उनके पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई थी। इसलिये उन्हें किसी परलोकवासी का दर्जा देकर उनकी आकृति, भाषा, वेशविन्यास, अंगसंचालन आदि को मानवीय व्यवहार से पूर्णरूप से बचाया गया। जिस बात का पता आधुनिक पुतलीकार आज लगा सके हैं, उसका पता हमारे भारतीय पुतलीकारों को सैकड़ों वर्ष पूर्व था। सीटियों के कथोपकथन जिस मनोरंजक ढंग से इन पुतलीकारों द्वारा उलझाये जाते हैं, यह भारतीय कठपुतली-कला की सब से बड़ी विशेषता है। कथोपकथन की यह उलझाने की कला भारत की प्रायः सभी कठपुतली-टोलियों में आज भी विद्यमान है। भारतीय पुतलियों में पुतलियाँ सीधे संभाषण नहीं करतीं, किसी न किसी माध्यम से ही वे संभाषण प्रस्तुत किये जाते हैं। वाचन की इस अनोखी विधि

ने समस्त कठपुतली-कला को इतना अधिक मनोरंजक बना दिया है कि आज की यह गलित, विकृत और पदच्युत कठपुतली-कला किसी विशिष्ट कथावस्तु तथा रंगमंचीय साज-सज्जा के बिना ही समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त की हुई है। इन पुतलियों में अंगभंगिमाओं और भावभंगिमाओं का भी संपूर्ण शास्त्र परिलक्षित होता है।

कठपुतलियों को मानवीय अनुकृति से बचाने के लिये न केवल उनके आकार-प्रकार तथा आकृतियों को अतिरंजित किया गया है, बल्कि विविध कृत्यों के लिये विशिष्ट अंगभंगिमाओं की भी सृष्टि की गई है। ये अंगभंगिमाएँ मानवीय अंगभंगिमाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। ये सभी अंगभंगिमाएं न केवल राजस्थानी पुतलियों में बल्कि भारत की समस्त कठपुतली शैलियों में प्रायः समान रूप से ही प्रयुक्त होती हैं। भावाभिव्यंजन की दृष्टि से जो टेकनिक ये पुतलीकार अपनाते हैं, वह वास्तव में सैकड़ों वर्षों के अनुभव और प्रयोग का ही परिणाम है। ये निर्जीव तथा स्पंदनहीन पुतलियाँ भावाभिव्यंजना की विशिष्ट स्थितियों में प्रायः निष्क्रिय रहती हैं, परन्तु उनकी आकृतिमूलक रेखाएँ उन पर आरोपित गीत-संवादों की सहायता से दर्शकों पर एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होती हैं। ऐसी विशिष्ट भावमूलक स्थितियों में पुतलियाँ किसी ऐसी स्थिरभावी मुद्रा में अपने आपको प्रस्तुत करती हैं, जिससे एक विशिष्ट उद्दीपनकारी स्थिति पैदा हो सके। यही कारण है कि छाया-पुतलियों में जब राम-भरत का मिलाप होता है तो कुछ क्षणों तक भरत राम के कंधों पर अपना मस्तक धर कर ठिमुक-ठिमुक कर रोते हैं। सीता को रावण से बचाने में गिद्धराज जटायु जब घायल हो जाता है और भगवान राम के जब उसे अन्तिम दर्शन होते हैं तो वह अपनी चोंच भगवान की जंघा पर रखकर विलाप करता है। भगवान अपनी गर्दन उस पर लटका देते हैं। इसी तरह उड़ीसी पुतलियों में जब गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपना विरहभाव प्रकट करती हैं तो वे ऊधो के कंधों पर अपना सिर रखकर विलाप-निमग्न हो जाती हैं। राजस्थानी पुतलियों में भी जब धोबिन के पति को मगर खा जाता है तो वह स्थिरभाव से जमीन पर बैठ जाती है और अपना माथा बार-बार जमीन पर पीटती है।

इस तरह कठपुतलियों के नाना प्रकार के क्रिया-कलापों का एक नियोजित शास्त्र ही बन गया है जो अलिखित होते हुए भी इन कठपुतलीकारों में परम्परा के रूप में घुलमिल गया है। पुतलियों के मारपीट, युद्ध, अभिवादन, आवा-गमन, उठने-बैठने, खाने, रोने, हँसने, नाचने, गाने, चिढ़ने, चढ़ने-उतरने, दौड़ने

आदि की विशिष्ट क्रियाओं का एक विशिष्ट कोड (Code) ही बन गया है जो सैकड़ों वर्षों से धरोहर के रूप में उन्हें प्राप्त हुआ है। यह कोड (Code) भारत की प्रायः सभी पुतलियों पर समान रूप से लागू होता है। पुतलियों की भावमूलक आकृतियों की रेखाओं में कुछ विशिष्ट परम्पराएँ धरोहर के रूप में कायम हुई हैं, जिनका पालन लगभग सभी परम्परागत पुतलीकार करते हैं। हास्य-प्रधान पुतलियों के नाक और होंठ को दाएँ-बाएँ विकृत रूप से बनाने की प्रथा प्रायः सभी पुतलियों में विद्यमान है। भयानक पात्रों की पुतलियों की भौंहें ऊपर चढ़ा दी जाती हैं और उनके गाल फुला दिये जाते हैं। इसी तरह दीन, दुर्बल, असहाय पात्रों की पुतलियों की आँखें गढ़ी हुईं, गाल पिचके हुए तथा गर्दन तनिक झुकी हुई होती है। छायापुतलियों के चेहरे तथा अन्य अंग अधिक नुकीले होते हैं। उनकी नाक विशेष रूप से नुकीली, भौंहें अधिक तेजी से कटी हुई, होंठों के बीच की जगह अधिक स्पष्ट, हाथ की उँगलियाँ अधिक नुकीली बताई जाती हैं, ताकि उनकी छायाएँ स्पष्ट रूप से उन भावों को प्रकट कर सकें जो गीत-संवादों से व्यक्त किये जाते हैं। पुतलियों की ये अतिरंजनात्मक अंग-आकृतियाँ, उनके अतिरंजनात्मक हाव-भाव, क्रिया-कलाप, रंग-रोगन, अंग-भंगिमाएँ सभी किसी विशिष्ट प्रयोजन से निर्दिष्ट की गई हैं। निर्जीव पुतलियों में प्राण और स्पंदनकारी स्थितियाँ पैदा करने के लिये इन सब अतिरंजनाओं का सहारा लेना पड़ता है। जो कलाकार इस गूढ़ाशय को नहीं समझते और पुतलियों को मानव की वास्तविक अनुकृति बनाने की कोशिश करते हैं वे अपने कार्य में पूर्णरूप से असफल होते हैं। भारत में आज के आधुनिक कठपुतली-प्रयोग इसीलिये असफल हो रहे हैं तथा यूरोप के आधुनिक पुतलीकार इस कठपुतली-विज्ञान को पूर्णरूप से समझ गये हैं इसलिये उन्हें अपने प्रयोगों में आशातीत सफलता मिल रही है।

पुतलियों का रंगमंचीय विधान

परम्परागत भारतीय पुतलियों का रंगमंचीय विधान भी नाट्यतत्वों से से परिपूर्ण है। बम्मोलाटम पुतलीकार बहुधा किसी रंगमंच का प्रयोग नहीं करते। जहाँ कहीं भी पुतली का तम्बूनुमा रंगमंच बनाकर इन पुतलियों के परिचालकों को छिपाने की कोशिश हो रही है, वह आधुनिक प्रयोग है। परंपरा से उनका कोई संबंध नहीं है। बम्मोलाटम पुतलीकार स्वयं कुछ गहरे रंग के कपड़े पहिनते हैं। उनकी पुतलियाँ आदमकद से छोटी, परन्तु अन्य शैलियों की काष्ठपुतलियों से काफी बड़ी होती हैं। उनके सिर पर बड़ी-बड़ी

ईडोनियाँ रहती हैं, जिनसे पुतलियों की डोरियाँ बँधी हुई होती हैं। इनकी पुतलियों के हाथों में छड़ियाँ होती हैं जो पुतली परिचालकों के दोनों हाथों में थमी हुई रहती हैं। काठ या पत्थर के किसी ऊँचे मंच पर इनके प्रदर्शन होते हैं। बहुधा एरण्डी या खोपरे के तेल के दीपक से प्रकाशित रंगमंच पर ये प्रदर्शन दिये जाते हैं। बिजली या पेट्रोमैक्स की रोशनी इनके लिये अनुकूल नहीं पड़ती। जो मीठी-मीठी प्रकाश रेखाएँ इन तेलदीपों से परिस्फुटित होती हैं, वे इन पुतलियों को एक विशिष्ट आकर्षक रंग-रूप देती हैं। पुतली परिचालक स्वयं पुतलियों के साथ इस तरह नाचता-कूदता है कि उसकी ईडोनियों से संबद्ध पुतलियाँ हाथ की छड़ियों के झटके से नाना प्रकार के क्रिया-कलाप करने में समर्थ होती हैं। दर्शकों पर इन प्रदर्शनों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे पुतलियों को तो देखते हैं परन्तु उनके परिचालकों की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। जापान की बुनराकु पुतलियों की तरह उनका संचालन होता है और इस बात की पुष्टि करता है कि कालान्तर में विश्व की पुतलियों की सभी परम्पराएँ भारत से ही परिपुष्ट हुई हैं। बम्मोलाटम पुतलियों की यह रंगमंचीय प्रणाली बहुत अधिक लोकप्रिय इसलिये भी रही कि दर्शकगण पुतलियों को अधिक से अधिक संख्या में देख सकें। पुतलियों को खुले रूप में पेश करने की यह प्रणाली सर्वाधिक कारगर इसलिये भी हुई कि जनता की पुतली-परिचालकों को पुतली-परिचालन करते हुए देखने की रुचि इसमें परिपुष्ट होती है। इस रंगमंचीय विधि में पुतलियों के अनुपात और दर्शकों की दृष्टि-रेखा के अनुसार ही रंगमंच की ऊँचाई-निचाई का निर्धारण होता है। इसी तरह दर्शकों की संख्या के आधार पर ही प्रकाश-व्यवस्था की जाती है। इस ओर सर्वाधिक ध्यान इसलिये भी दिया जाता है कि पुतलियों के रंग-रूप, परिचालकों की अदृश्यता तथा प्रदर्शन की प्रभावोत्पादकता प्रकाश-व्यवस्था पर ही आधारित है।

राजस्थानी कठपुतली नाट्य की रंगमंचीय प्रणाली भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज तो ये घुमक्कड़ पुतली वाले दो खटिया खड़ी कर के बीच में बाँस के सहारे अपने परदे आदि लगाकर अपना काम पूरा कर लेते हैं परन्तु वयोवृद्ध स्वर्गीय मापू भाट का कहना था कि उसके पूर्वज किसी समय बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के यहाँ आश्रित थे तथा उनकी पुतलियों के लिये विशिष्ट रंगमंच बनाये जाते थे। विक्रमादित्य के समय तो स्वयं विक्रमादित्य का सिंहासन ही कठपुतलियों द्वारा निर्मित था जो दिन में सम्राट् के सिंहासन के रूप में प्रयुक्त

होता था और रात्रि को वही कठपुतलियों का रंगमंच बन जाता था। उस सिंहासन में सिंहासनबत्तीसी नामक कठपुतली नाटिका की ३२ ही पुतलियां निवास करती थीं जो रात को क्रियाशील हो जाती थीं। नाथू का कहना था कि हमारे दल एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को बड़े लवाजमे के साथ जाते थे। उनके पास कई सुसज्जित बैलगाड़ियाँ तथा हाथी-घोड़े रहते थे, जिन पर हमारी रंगमंचीय साज-सज्जाएँ और कठपुतलियां देश-देशान्तरों की यात्राएं करती थीं। प्रदर्शन से पूर्व समस्त नगर में एलान कर दिया जाता था और हमारे प्रदर्शन को देखने के लिये जनता लालायित रहती थी। पहले इन पुतलियों के विविध दृश्य उपस्थित करने के लिये कई रंगीन यवनिकाओं का प्रयोग होता था। आज राजस्थानी पुतलियों में जो ताजमहल नामक प्रमुख यवनिका का प्रयोग होता है वह किसी समय एक आंशिक परदा मात्र था जो केवल मुगलदरबार का दृश्य उपस्थित करता था। इन राजस्थानी पुतलियों के परिधान, अलंकरण आदि सच्चे होते थे, जो राजा-महाराजा तथा धनिकवर्ग द्वारा भेंटस्वरूप दिये जाते थे। इन नाट्यों में भी तैलदीपों का प्रयोग होता था जिनसे पुतलियाँ प्रकाशित तो होती ही थीं पर उन पर एक अद्वितीय आभा के दर्शन भी होते थे। उनके दल में लगभग १० पुतलीकार होते थे जिनमें गायन तथा वाद्यवादन के लिये स्त्रियों का उपयोग होता था। उनके प्रदर्शनों में सौ-सौ दो-दो सौ पुतलियां काम आती थीं और उनकी लम्बाई, ऊँचाई आज की पुतलियों से काफी अधिक होती थी।

आन्ध्र के छायापुतलीकारों का रंगमंच आज भी बड़ा पेचीदा होता है। एक विशिष्ट तम्बू ताना जाता है जिसके अगले हिस्से पर लगभग १० फुट ऊँचा और १५ फुट चौड़ा पतला सफेद कपड़ा किसी लकड़ी की चौखट के सहारे तान दिया जाता है। यह तम्बू ऐसा बनाया जाता है कि उसमें अंदर की रोशनी बाहर नहीं जासके और न बाहर की रोशनी अंदर आसके। तम्बू के अंदर परिचालक और परिचालिकाओं का दल अपनी पुतलियों के साथ तैयार रहता है। चूंकि ये प्रदर्शन रात-रात भर चलते हैं, इसलिये अंदर भोजन, निवास आदि का पूरा प्रबंध रहता है। पीछे से एरण्डी या खोपरे के तैल के दीपक की रोशनी परदे पर फेंकी जाती है। विविध दृश्यों के अनुसार परदे के इर्दगिर्द वृक्ष, पहाड़, मकान, झोंपड़ी आदि के कटे हुए साधन परदे पर कांटों के सहारे पिरो दिये जाते हैं और बीच में पुतलियाँ परिचालित होती हैं। पुतलियाँ खड़े हुए परिचालकों के हाथ में रहती हैं, इसलिये जमीन से उनकी ऊँचाई अनायास ही चार-पांच फीट हो जाती है ताकि दर्शकों को देखने में पूरी

सुविधा रहे। धर्मपुतलीकार केवल एक-दो प्रदर्शन के लिये ही किसी क्षेत्र में नहीं आते। वे कम से कम १५ दिन का निवास तो एक स्थान पर करते ही हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत की गई रामायण, महाभारत तथा भागवत कथाएँ रात-रात भर तो प्रदर्शित होती ही हैं, परन्तु विशिष्ट परिस्थितियों तथा जनरुचि को देखकर वे कथाप्रसंगों के विस्तृत रूप कई दिनों तक भी प्रदर्शित करते हैं। ये छायानाट्य किसी समय आन्ध्र और कोचिन के विशिष्ट जनरंजन के साधन थे और हजारों की संख्या में जनता उनका आनन्दलाभ लेती थी।

उड़ीसा की पुतलियों का नाट्यमंच लगभग राजस्थानी पुतलियों जैसा ही होता है। अन्तर केवल दृश्यावलियों तथा परदों का है। राजस्थानी पुतलीकार मध्यकालीन इतिहास, रस्मरिवाज तथा कथाप्रसंगों से बहुत अधिक प्रभावित थे इसलिए उन पर मुगली तथा राजस्थानी कला की विशिष्ट छाया दृष्टिगत होती है। उड़ीसा के कलाकारों पर अभी भी धार्मिक परम्पराओं का विशेष पुट है तथा रंगमंचीय साज-सज्जाओं में मंदिरों की पिछवाई, झालर, कमलबेल, कलशपंक्ति, हस्तीकतार आदि विशिष्ट चित्रांकन के प्रकार प्रयुक्त होते हैं। पुतली की आकृतियों में जगन्नाथपुरी के मंदिर में प्रतिष्ठापित मूर्तियों की विशिष्ट आकृतियों का भान स्पष्ट होता है। ये पुतलियाँ किसी समय मंदिरों के प्रांगण में ही प्रदर्शित होती थीं, अतः मंदिरों के वैभव की उन पर स्पष्ट छाप है।

जयपुर (उड़ीसा) में आज भी अनेक कठपुतली-परिवार अपनी पुतलियों को आधुनिक प्रभावों से बचाकर दीन-हीन अवस्था में मौजूद हैं। उनके घरों में पुरातन कठपुतलियों के अनेक संग्रह आज भी विद्यमान हैं तथा जिन विशिष्ट सुसज्जित रंगमंचों पर वे कालान्तर में प्रदर्शित होती थीं, उनके ध्वंसावशेष अब भी उनके घर के अटारे में परिलक्षित हो सकते हैं। भारतीय नाट्यसंघ के दिल्ली स्थित कठपुतली संग्रहालय में इन पुरातन पुतलियों और उनकी साज-सज्जाओं के अनेक अवशेष बड़े सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किये गये हैं। यूरोपीय संग्रहालयों में भी इन पुतलियों के अनेक नमूने बड़े कलात्मक ढंग से संगृहीत हैं। लेखक ने अपनी यूरोपीय यात्रा में म्युनिक स्थित स्टूट संग्रहालय में, जो विश्व का सर्वश्रेष्ठ कठपुतली संग्रहालय है, राजस्थानी, उड़ीसी, भारतीय छायापुतली आदि के अनेक ऐसे नमूने देखे हैं जो भारत में भी उपलब्ध नहीं हो सकते हैं। भारतीय पुतलियों की रंगमंचीय साज-सज्जाओं के भी कई नमूने वहाँ विद्यमान हैं।

भारतीय पुतलियों का परम उत्कर्ष देखने तथा उनके प्रति पुरातन वैभव के दर्शन करने के लिये हमें जावा, सुमात्रा तथा इण्डोनेशिया की पुतलियों का अध्ययन करना पड़ेगा। पुतलियों की इतनी परिपक्व और सुन्दर विरासत उन्हें भारत से ही प्राप्त हुई है। अंतर इतना ही है कि हम भारतवासियों ने उस वैभव को खो दिया है और इन पूर्वी-दक्षिणी एशियाई देशों ने अपनी प्रतिभा द्वारा उस वैभव की अभिवृद्धि की है। रुमानिया में होने वाले द्वितीय एवं तृतीय अंतर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोहों में लेखक को इन देशों की पुतलियाँ देखने और उनके अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनके कथा-प्रसंग, पुतलियों की साज-सज्जा, नाट्यविधा, प्रस्तुतीकरण आदि भारत की ही देन हैं। जिस उच्चस्तरीय नाट्य-स्वरूप के रूप में वे आज भी वहाँ प्रतिष्ठित हैं, उसी तरह भारत में भी उनका किसी समय परम आदर था। इन देशों की भारतीय पुतलियाँ मानवीय नृत्य की टक्कर लेती हैं। मानवीय नाट्यविधायें जितनी आज इन देशों में विकसित हैं उतनी ही कठपुतलियों का वहाँ विकास हुआ है।

भारतीय नाट्य की जननी कठपुतलियाँ हमारे देश में जिस स्थिति में आज विद्यमान हैं उससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि हमारी पुरातन पुतलियाँ भी इसी तरह पिछड़ी हुई और अविकसित थीं। मानवीय नाट्य की लगभग सभी विधायें पुतलियों की कल्पना से ही साकार हुई हैं। उन्हीं पुतलियों ने मानवीय पात्रों को वाचन की शक्ति प्रदान की है। मानवीय पात्रों की साज-सज्जाओं, उनके रंग, परिधान, अलंकरण आदि का पूर्ण प्रभाव है। मानवीय पात्रों के इन सब आंगिकी साज-सज्जाओं के प्रयोग सर्वप्रथम पुतलियों पर ही हुए। वाचन तो सर्वप्रथम पुतलियों पर ही आरोपित किये गये। नर्तन आदि की भंगिमाओं का परीक्षण भी सर्वप्रथम पुतलियों पर ही हुआ। रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तो मानवीय नाट्यों ने ज्यों का त्यों कठपुतलियों से ही ग्रहण किया है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे कि किसी स्वरूप को सजाने तथा उसे विविध क्रिया-कलापयुक्त बनाने के लिये सर्वप्रथम पुतलियों के रूप में मोडल (Model) बनाये गये तथा उन पर रंग, परिधान, आकृति सृजन आदि के पूर्व प्रयोग करके ही मूल मानवीय पात्रों को रंगमंच पर लाया गया। पुतलीनाट्य जब देश में परिपक्व हुए, उनमें जनरंजन तथा जनशिक्षण की पूर्ण सामर्थ्य आई तथा उनकी समस्त विधायें चरमोत्कर्ष पर पहुँचीं तभी भारतीय नाट्य ने हमारे देश में जन्म लिया। यद्यपि मानवीय नाट्य किसी भी तरह पुतलीनाट्य की हूबहू अनुकृति नहीं है फिर भी उसकी समस्त प्रेरणा पुतलीनाट्य से प्राप्त हुई, इसमें

कोई संदेह नहीं है। यही कारण है कि पुतलियों का प्रतिनिधि संस्कृत नाट्य का सूत्रधार न केवल साधारण पात्र है, बल्कि वह समस्त मानवीय नाट्य का निर्देशक भी माना गया है।

लोकनाट्यों की विशेषताएँ

अन्य लोककलाओं की तरह ही किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जन-जीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है।

आज हमारे देश में जो विविध क्षेत्रीय नाट्य उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं, जो विशिष्ट लेखकों की देन हैं और जिन्हें लोकनाट्यों की संज्ञा अवश्य दी जाती है; परन्तु वास्तव में वे उस श्रेणी में नहीं आते हैं। लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों के स्वाभाविक सृजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नहीं है। लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज है, जो बाद में अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से लोकगीतों का दर्जा प्राप्त करता है। परन्तु नाट्य प्रारम्भ से ही किसी भी व्यक्तिविशेष की उपज नहीं हो सकता। उसका प्रारंभ ही सामाजिक प्रतिभा की उपज है। गीत की तरह उसकी उत्पत्ति व्यक्ति से नहीं होकर समष्टि से होती है।

समष्टिगत सृजन एक अत्यंत जटिल और उलझी हुई प्रक्रिया है। समाज जिन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओं से आक्रान्त रहता है उनकी गहरी छाप सामाजिक मानस पर अंकित हो जाती है और मनुष्य के जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे ओतप्रोत रहता है। यदि वह सामाजिक भावना प्रबल धार्मिक चेतना के रूप में प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान् धार्मिक व्यक्तित्व से है, जो समाज का धार्मिक नेतृत्व ग्रहण कर लेता है, तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होता है। उसके अवसान के बाद भी उसका यह लौकिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक व्यक्तित्व बन जाता है। जनता उसे अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का पात्र बना लेती है, उसकी गुण-गाथायें गाने लगती है तथा उसकी स्मृति में पर्व, समारोह मनाती है। उसके व्यक्तित्व के संबंध में गीत रचती है, स्मारक बनाती है, पूजा अर्चन करती है। अर्चन, स्मरण के ये ही विविध साधन अनुकृतिमूलक बनकर विशाल जन-समूह के बीच नर्तन, गायन तथा कथा-प्रवचन के रूप ले लेते हैं। शनैः शनैः

से ही गीत, प्रवचन, भजन, कथोपकथन आदि उस व्यक्तिविशेष के जीवन संबंधी प्रसंगों की झाँकियों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। गेय बोल को गायक स्वर देता है। स्वांगों तथा अनुकृतिमूलक झाँकियों को भाषाकार संवाद प्रदान करता है, विविध क्रियामूलक प्रसंगों को नर्तक पदचापों में बाँधकर क्रियाशील बनाता है तथा झाँकीकार की कल्पना को सामाजिक मस्तिष्क रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

ऐसे भीमकाय, राष्ट्रीय तथा बृहत् सामाजिक महत्त्व के नाटक किसी भी समाज या राष्ट्र के जीवन में युगों से चले आ रहे हैं। प्रत्येक संवेदनशील तथा आक्रान्त क्षणों में इन बृहत् नाटकों का कलेवर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उनमें प्रयुक्त गीतों में ताक़त आती है। उनके कथोपकथन तथा नृत्य परिपक्व होते रहते हैं और कालान्तर में किसी आध्यात्मिक तथा सामाजिक महत्त्व के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द एक अत्यन्त समर्थ नाटक गुथता जाता है जो आये दिन विशिष्ट प्रसंगों पर अभिनीत होकर उस युगप्रवर्तक नेता की स्मृति और शिक्षा को कायम रखता है। ऐसे नाट्यों में यह पता नहीं लग सकता कि उनके गीत किसने लिखे हैं, कथाप्रसंग का चयन किसने किया है तथा कथोपकथन किस व्यवस्था से नाटक को सार्थक और जोरदार बनाता है। ऐसे नाटक बहुक्षेत्रीय, दीर्घजीवी तथा बहुसंख्यक जनता को प्रभावित करनेवाले होते हैं।

ऐसे स्थाई मूल्य वाले दीर्घजीवी नाटक अधिकांश धार्मिक व्यक्तित्व के साथ ही गुथे हुए होते हैं और उनका प्रचार और प्रसार क्षेत्र भी बड़ा होता है। सामाजिक व्यक्तित्व पर आधारित नाटक संख्या में न्यून और प्रभाव में सशक्त नहीं होते। ऐसे व्यक्तित्व बहुधा विवादास्पद होते हैं। समाज के किसी एक वर्ग को उनके सिद्धान्त ग्राह्य होते हैं तो दूसरे के लिये वे ही निरर्थक और घातक सिद्ध हो सकते हैं। समाज का प्रगतिशील पक्ष ऐसे व्यक्तित्व का पुजारी होता है और अप्रगतिशील लोग उसके घोर विरोधी होते हैं। यही कारण है कि वास्तविक लोकनाट्यों की सूची में सामाजिक नाटकों की संख्या बहुत कम होती है। बहुधा तो ऐसे सामाजिक तत्व धार्मिक नाटकों के साथ ही जुड़े रहते हैं क्योंकि समाज को आदेश-निर्देश का कार्य सर्वदा ही धर्माचार्यों के जिम्मे रहा है। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा में समाज-सुधार और धर्माचरण में पहले कोई विशेष अन्तर नहीं था। धर्म के आचरण तथा परंपरागत धर्मपरिपाटी के अनुशीलन पर आधारित समाज-सुधार ही समाज-सुधार समझा जाता था। निरे समाज-सुधार की बातें कहने वाले तथा तद्विषयक आचरण

करने वाले का प्रभाव समाज पर विशेष गहरा नहीं होता था। इसी तरह अनेक ऐतिहासिक प्रसंग, जिनमें धर्म तथा राष्ट्र के लिये त्याग, तपस्या तथा बलिदान के कृत्य जनता के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हों कभी-कभी जन-रुचि को पा जाते हैं और वे भी झाँकियों, समारोहों तथा स्मृति-दिवसों का रूप धारण कर लेते हैं। उनका एक अत्यन्त स्थूल रूप पहले खेल-तमाशों के रूप में जनता के समक्ष आता है, तत्संबंधी गीतों की प्रारम्भिक धुन में अनेक धुनें मिल जाती हैं, नृत्य की पदचापों में अनेक चापें आत्मसात् होती हैं, एक चरित्र के अभिनय के लिये अनेक पात्र रंगस्थली में उतर आते हैं तथा इस प्रकार के प्रारम्भिक रूपक की रूपरेखा निर्धारित करने के लिये समस्त जनमानस तैयार रहता है।

मौलिक लोकनाट्यों का विकास उक्त कथन के अनुसार होता रहता है। जनमानस की रुचि तथा अन्य मनोरंजनात्मक तत्त्वों तथा साधनों के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के रूप में उत्तरप्रदेश की पुरातन रामलीला ही को लीजिये। वह मूलरूप में कुछ और ही थी परन्तु कालान्तर में पारसी नाटक तथा अन्य नाट्य-प्रकारों के प्रभाव से उसमें दृश्यावलियों के परदों का उपयोग होने लगा और बहुस्थलीय वास्तविक स्थितियों पर प्रदर्शन होने की अपेक्षा उसका प्रदर्शन एक ही रंगमंच पर पारसी नाटकों की तरह होने लगा। कलेवर की दृष्टि से भी इन रामलीलाओं ने तुलसीकृत रामायण से अपना कथोपकथन प्राप्त किया। सर्वाधिक परिवर्तन तो यह हुआ कि उनका सामाजिक प्रदर्शनकारी रूप व्यवसायिक रामलीलाओं में परिवर्तित हो गया।

मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओं ने भी अपनी मौलिक नृत्यशैली को कत्थकनृत्य-शैली में परिवर्तित कर दिया और उनके लोकधर्मी स्वरूप को शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद-शैली ने अत्यधिक प्रभावित किया। वृन्दावनी रास-लीला का आधुनिक स्वरूप वास्तव में उसके उस मौलिक लोकधर्मी स्वरूप में नहीं है जो आज भी गुजरात के 'रासड़ो, गरबारास' राजस्थान की 'रासधारी' तथा 'रासक' में विद्यमान है। वह धीरे-धीरे आचार्यों और पंडितों के संसर्ग से प्राय: शास्त्रीय स्वरूप बन गया। इसी तरह बंगाल की जात्रा का भी पूरा रूपान्तर हो गया। एक समय ये जात्राएँ, खेलकूद, स्वांग, कीर्तन, संवाद, गीतों के रूप में तथा भक्तजनों की यात्रा के रूप में थी जिनमें भक्तजन अपने इष्टदेव की विविध झाँकियों को अपने यात्राकाल में प्रदर्शित करते चलते थे। चैतन्य महाप्रभु के समय तक भक्तजन कृष्णभक्ति को प्रधानता देने लगे और ये सभी

यात्राएँ कृष्ण-जीवन से संबंधित हो गईं। धीरे-धीरे इन यात्राओं ने भी अन्य लोकनाट्यों की तरह ही समकालीन नाट्यशैलियों से प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया। ये यात्राएँ व्यवसायिक मंडलियों की धरोहर बन गई और रईसों और धनिकों के मनोरंजन का माध्यम बन जाने के कारण उनमें अनेक आधुनिक विषय समाविष्ट हो गये। मेवाड़ प्रदेश की रासधारी, जो किसी समय राम, कृष्ण जीवन संबंधी प्रसंगों की एक अत्यन्त लोकरंजनकारी सामुदायिक नाट्यशैली थी, आज राजा केसरीसिंह, अमरसिंह राठौड़ आदि ऐतिहासिक पुरुषों के कथा-प्रसंग अपनाने लगी है।

इस तरह सैकड़ों वर्षों के निरंतर प्रयोग-उपयोग से धार्मिक तथा अनुष्ठानिक नाटक विशेष स्वरूप धारण करने लगते हैं और उनके अंग-प्रत्यंग विकसित होने लगते हैं। इनकी शैलीगत नींवें गहरी होने लगती है और उनके प्रचार-प्रसार क्षेत्र की अभिवृद्धि के साथ ही वे जीवन के साथ अनुष्ठान की तरह जुड़ जाते हैं। उनकी अभिनय, रचनाविधि, प्रस्तुतीकरण, गायन, नर्तन तथा रंगमंचीय प्रकटीकरण की शैली भी रूढ़ होने लगती है। उनकी धुनें निर्धारित हो जाती हैं, तथा भावाभिव्यंजनकारी नृत्य-मुद्राएँ भी निश्चित हो जाती हैं। कवित्त तथा गीत-रचना के विविध छन्द-प्रकार भी एक विशिष्ट परम्परा में पड़ जाते हैं, वाद्य-वादन आदि के निश्चित बोल, परन आदि नियमों में बँध जाते हैं। ऐसी एक अगाढ़ सारगर्भित और अनुभवगत परम्परा कायम होने के बाद अनेक ऐसे रचयिता भी प्रकट हो जाते हैं जो स्वयं उक्त मर्यादाओं में रहकर नाट्यरचना करने लगते हैं। उनके गीत, कवित्त आदि परम्परागत धुनों तथा छंदों में ही रचे जाते हैं। उनकी नाट्य प्रस्तुतीकरण की शैली भी वही होती है। केवल विषय का चुनाव रचियता अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। ऐसे स्वरचित नाट्य भी आजकल लोकनाट्यों में ही शुमार होते हैं। यद्यपि उनकी रचनाविधि सामाजिक कसौटी पर नहीं उतरी है फिर भी उनमें पारंपरिक तथा शैलीगत साम्य होने के नाते उन्हें भी विद्वानों ने लोकनाट्य ही माना है।

पिछले १०० वर्षों में लिखे हुए राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्य (ख्याल) ऐसे हैं, जिनके साथ विशिष्ट लेखक जुड़े हुए हैं और जिनके नामों से ही उनके ख्याल चलते हैं। ये सभी ख्याल उत्तरप्रदेश की रामलीला, रासलीला, बंगाल की जात्रा, दक्षिण भारत के यक्षनाट्य तथा यक्षगान की तरह अनुष्ठानिक नाट्य नहीं हैं, फिर भी शैलीगत परम्परा का उनमें निभाव होने के कारण वे लोकनाट्य ही में शुमार हैं। इन स्वरचित लोकनाट्यों में कुछ

ऐसे भी है, जो प्रदर्शित होने पर लोकरुचि को पकड़ लेते है और जनता उनके कलेवर को बढ़ाती जाती है। अंकुर रूप में लिखा हुआ या पनपाहुआ ऐसा नाटक कालान्तर में कल्पवृक्ष के रूप में विकसित होता है और वैयक्तिक प्रतिभा के बदले वह सामाजिक प्रतिमा का प्रतीक बनता है। ऐसी स्थिति में ऐसे नाटकों का लेखक प्रकट रूप में अवश्य रहता है, परन्तु वास्तव में वह समाज ही का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लेखक, जो अपने मूल नाटक में समाजी-करण का स्वागत करते है और अपना व्यक्तित्व उनमें तिरोहित कर देते है, वे समाज द्वारा पूजे भी जाते है और उनकी कृति अत्यधिक फलती-फूलती भी है। समाज द्वारा उपलब्ध हुई इस ख्याति को भी वे समाज ही को देते है, परन्तु ऐसे लेखक, जो अपनी कृति में सामाजिक प्रतिमा का स्वागत नहीं करते, उसमें किसी प्रकार का संशोधन-परिवर्धन स्वीकार नहीं करते, उनकी कृति उनके जन्म के साथ ही मर भी जाती है।

मध्यप्रदेश के माच और तुर्रा कलंगी के अनेक खेल ऐसे है जिन पर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित है। महाराष्ट्र में भी कई तमाशे विशिष्ट लेखकों द्वारा लिखे गये है। उनमें से कुछ तो विकास की इस चरम सीमा तक पहुँच चुके है कि वे थियेटरों में आधुनिक नाटकों की तरह ही खेले जाते है। बंगाल और आसाम की कई जात्राएँ भी आधुनिक साज-सज्जाओं के साथ थियेटरों में खेली जाने लगी है। लोकनाट्यों का यह आधुनीकरण उनके लिये विकृतिमूलक न होकर निश्चय ही विकासमूलक है। उन्हे समाज के बौद्धिक तत्वों का आश्रय मिल जाने से वे विकासोन्मुख है। हीर रांझा, सोहनी महिवाल, पूरन महेन्द्र, ढोला मारू, मीरा मंगल जैसे पंजाबी और राजस्थानी लोकनाट्य भी शिक्षित समाज का ध्यान आकर्षित करने लगे है और उन्हें नया जीवन मिला है। इसी तरह आन्ध्र, कन्नड़ तथा केरल देश के यक्षगान, यक्षनाट्य, कथकली तथा कामनकोट्टू नाट्य जो कि उत्तर भारतीय लोकनाट्यों से कहीं अधिक संस्कृत नाटकों से प्रभावित है, आधुनिक रंगमंच की अनेक परम्पराओं को अपने में समाविष्ठ कर अधिक प्राणवान बन गये है। गुजरात के प्रमुख नृत्यकार श्रीयुत जयशंकर सुन्दरी ने तो भवाई नाटक को आधुनीकरण के रंग में इस तरह रंगा है कि उसमें पुनः जीवन का संचार हुआ है।

विशुद्ध लोकनाट्य की कृतियां वे है जिन पर किसी लेखकविशेष का नाम जुड़ा नहीं रहता और जिनके प्रसंग विस्तृत जनमानस पर युगों से अंकित रहते है। ऐसे नाटक बहुधा अलिखित होते है। उनके कथानक सर्वविदित

धार्मिक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक प्रसंग होते हैं। ये नाटक बहुधा दिग्भ्रान्त और पथ-विचलित जनता के समक्ष मानवीय आदर्श उपस्थित करने के लिये अवतरित होते हैं। इन नाटकों की परम्परा बहुत पुरानी होती है और वे राष्ट्रीय और सामुदायिक महत्त्व के नाटक होते हैं जो बहुधा किन्हीं विशिष्ट प्रसंगों तथा अनुष्ठानिक पर्वों पर खेले जाते हैं। इन नाटकों के कथानक तथा उनके द्वारा निरूपित आदर्श और उनकी परम्परागत मान्यताएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उनके अभिनय में विशिष्ट रंगमंचीय उपकरणों तथा प्रदर्शनात्मक दक्षता द्वारा जनता को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे बहुधा ऐसे महापुरुषों की जीवन-घटनाओं से संबंधित रहते हैं, जिन्हें समाज युगों से अगाध स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।

लोकनाट्यों में धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श उपस्थित करने वाले नाटकों के अलावा ऐसे नाटक भी बहुत प्रचलित हैं, जिनमें कभी-कभी सामाजिक आदर्शों की पूरी-पूरी अवहेलना रहती है। इन नाटकों में शृंगारिक पक्ष की प्रधानता रहती है तथा जीवनादर्शों से कहीं अधिक पारिवारिक आनन्द तथा हलके-फुलके मनोरंजन की ओर सबसे अधिक ध्यान रहता है। कभी-कभी समाज का मनचला वर्ग ऐसे नाटकों के इन असामाजिक तत्त्वों पर अनायास ही आकर्षित हो जाता है और उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियों और चेष्टाओं को आत्मसात कर लेता है। ऐसे प्रसंगों में अनेक असामाजिक तत्त्वों को प्रश्रय मिलता है। नाट्य में प्रकट होने वाली कुलटा नारी सती स्त्री से कहीं अधिक लोकप्रिय बन जाती है। लुटेरा पात्र ईमानदार पात्र से अधिक पसन्द किया जाता है। इश्कमिजाज नौजवान पात्र चरित्रवान युवक पात्र से बाजी ले जाता है। विवाहित स्त्री-पात्र से कहीं अधिक छिप-छिपकर प्रेम करने वाली मनचली स्त्री-पात्र दर्शकों के मन की साम्राज्ञी बन जाती है। राजस्थान के इश्कबाज पनवाड़ी, छैला दिलजान, छोटा बालम नामक ख्याल तथा मध्यप्रदेश के माचों में छबीली भटियारिन तथा नौटंकियों में आँख का जादू, जवानी का नशा, सिपाह पोश आदि लोकनाट्य भी इसी कोटि के हैं। रात-रात भर असंख्य जनता इन नाटकों के प्रदर्शनों का लाभ लेती है, उनकी स्वरलहरियों तथा नृत्यभंगिमाओं से आत्मविभोर हो जाती है। ये नाटक कला की दृष्टि से अत्यधिक कुशल नाटक होते हैं और दर्शक उनकी अदाकारी की कलात्मक कारीगरी में इतने उलझ जाते हैं कि उनके हीन चरित्रनायकों का उन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। ये अतिशय मनोरंजनकारी नाट्य दर्शकों को नाच, गान,

हँसी, मज़ाक ही में इतना उलझा देते हैं कि वे असामाजिक चरित्र उन पर कोई प्रभाव नहीं डालते। पतिव्रता दर्शक स्त्रियां भ्रष्ट नाट्य-पात्र को घृणा से नहीं देखतीं, ईमानदार दर्शक बेईमान नाट्य पात्र का तिरस्कार नहीं करता। वह खूब जानता है कि समस्त नाटक में इन सब पात्रों की सृष्टि केवल मनोरंजन के लिये हुई है और वे सब असल नहीं है, नकल हैं। दर्शक यह भी खूब जानता है कि ये नाटक, जो समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करते हैं, मनुष्य की आँखें खोलने के लिये हैं और पथभ्रष्ट को उनसे सतर्क रहने का सबक सिखलाते हैं।

इन नाटकों के अत्यधिक शृंगारिक तथा असामाजिक कुप्रभावों का प्रतिरोध करने के लिये उन्हें अतिशय कलात्मक और प्रभावशाली होना आवश्यक होता है। इन नाट्यों के अभिनेता अतिशय कलाप्रवीण, नाट्यमर्मज्ञ एवं कुशल प्रदर्शक होते हैं। वे बहुधा व्यवसायिक मंडलियों द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं। इन नाटकों में भी वे ही नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय होते हैं, जिनमें अधिकाधिक सामाजिक गुण विद्यमान हों और जिनके क्रमबद्ध सृजन में समाज का अधिकाधिक हाथ हो तथा जिनका प्रत्यक्ष लेखक केवल निमित्तमात्र हो। ऐसे नाटक निम्न आदर्शी होते हुए भी जनता के कंठों के हार होते हैं तथा उनके दुश्चरित्र तथा कुत्सित पात्र भी जनता की रुचि को पकड़ लेते हैं।

समाज के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ ही इन नाटकों की अभिवृद्धि होती रहती है और समाज के कलात्मक स्तर के अनुसार ही उनका कलात्मक स्तर बढ़ता रहता है। वे चाहे कितने ही उन्नत हो जावें, कितनी ही कलामर्मज्ञ व्यवसायी मंडलियां उनका उपयोग करें, परन्तु वे अपना लोकधर्मी गुण नहीं छोड़ते। बंगाल की अनेक जात्राएँ, महाराष्ट्र के कई तमाशे और आंध्र तथा कन्नड़ के यक्षनाट्य आधुनीकरण की प्रक्रिया से ओतप्रोत होकर थियेटरों और नाट्यगृहों में प्रदर्शित होने लगे हैं। केरल का कथकली और आंध्र तथा कर्नाटक का यक्षगान-नाट्य सैकड़ों वर्षों की सामाजिक तथा लोकधर्मी परम्पराओं के साथ ही पिछली १८ वीं शताब्दी से शास्त्रीय तत्त्वों को ग्रहण करने में संलग्न है। परिणाम यह हुआ कि इनके प्रदर्शनों में अत्यधिक कला-प्रवीणता और मर्मज्ञता की आवश्यकता होती है और अनेक शास्त्रीय जन उन्हें शास्त्रीय नाट्यों में भी शुमार करने लगे हैं। परन्तु इनकी समस्त शास्त्रीय विशेषताएँ और नाट्यविधाएँ आज भी जनसुलभ रुचि के अनुसार ही प्रगति पर पहुँची हैं, इसलिये वे इतनी उन्नत अवस्था में भी लोकनाट्यों में ही शुमार हैं। दक्षिण

भारतीय जनता की बौद्धिक और कलात्मक रुचि इतनी बढ़ी हुई है, इसलिये उसकी समस्त लोककलाएं धीरे-धीरे शास्त्रीय कलाओं के समकक्ष पहुँचने की कोशिश में हैं। वृन्दावन की रासलीलाएं भी बड़े-बड़े समृद्ध वैष्णव मन्दिरों के सम्पन्न वातावरण में बड़े-बड़े पंडितों और ब्राह्मणों द्वारा परिपोषित होने के कारण शास्त्रीय तत्वों से भारी-भरकम हो गई हैं, फिर भी उनका प्रस्तुतीकरण का ढंग और दर्शकों की अभिरुचि को देखते हुए वे अभी भी लोकनाट्य की श्रेणी में ही आती हैं। उड़ीसा की उड़ीसी नृत्यनाट्य-शैली, जिसका विकास अनेक उड़ीसी यात्राओं तथा कुचपुड़ी शैली के नाट्यों के रूप में पिछले वर्षों में हुआ है, पुरी के मंदिरों में आचार्यों के संसर्ग से शास्त्रीय तत्वों को अपनाने लगी है। इसके लोकतत्व बड़ी तेजी से लुप्त हो रहे हैं। आज तो ये नृत्यनाट्य न तो लोकशैली ही में शुमार हैं न शास्त्रीय शैली में ही।

लोकनाट्य का समाजीकरण एवं व्यवसायीकरण

लोकनाट्यों का सृजन सर्वदा ही एक प्रबल सामाजिक प्रक्रिया है। किसी विशिष्ट सामुदायिक प्रसंग पर उनका अभिनय होता है। अनेक सामाजिक प्रतिभाएं उनका मिलकर प्रदर्शन करती हैं। उनके लिये विशिष्ट रंगमंच बनाया जाता है तथा प्रदर्शन संबंधी सभी सामग्रियां जुटाई जाती हैं। अभिनेता अपनी पोशाकें स्वयं लाते हैं। संगीतकार अपना सार्वजनिक कर्तव्य निभाने के लिये साजों के साथ अपनी सेवाएं देते हैं। गाँव का रंगरेज निःशुल्क पोशाकें रंग देता है। दर्जी निःशुल्क कपड़े सीता है। रोशनीवाला नाई निःशुल्क रोशनी का प्रबन्ध करता है। गाँव का हलवाई अपनी तरफ से निःशुल्क जलपान का आयोजन करता है। गाँव का खाती रंगमंच बनाने में अपनी निःशुल्क सेवाएं प्रदान करता है। गाँव के भंगी, भिश्ती आदि भी सफाई तथा छिड़काव में किसी से पीछे नहीं रहते। सामाजिक स्तर पर इन नाटकों का प्रदर्शन होता है। इसलिये सभी कलाकार खुलकर अपना प्रदर्शन करते हैं और उनकी अभिनयात्मक दुर्बलता की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता। यदि कोई अभिनेता गाने में कमजोर है तो दर्शक तुरन्त गाकर उसकी कमजोरी को छिपा देते हैं। यदि किसी नृत्यकार की नृत्य-अदायगी ठीक नहीं है तो दर्शकों में से कोई प्रवीण कलाकार रंगमंच पर चढ़कर उसकी कमी को पूरी कर देता है। इस तरह नाटक के समस्त गुण-दोष जनता के गुण-दोष बन जाते हैं और दर्शक-प्रदर्शकों के बीच एक भारी सहानुभूति का वातावरण परिलक्षित होता है।

इस तरह सामुदायिक स्तर पर प्रदर्शित होनेवाले नाटकों में कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं, जो जनरुचि को सर्वाधिक पकड़ लेते हैं। उनकी रचना तथा गीतनृत्य-विधि में एक विशेष आकर्षण होता है। उनके सफल प्रदर्शन में कभी-कभी प्रवीण गायक तथा नर्तक की आवश्यकता होती है तो गाँव के लोग स्वयं किसी निकटवर्ती गाँव या शहर से किन्हीं प्रवीण कलाकारों को रंगमंच पर लाते हैं और उनकी सेवाएँ निःशुल्क या सशुल्क उपलब्ध करते हैं। ऐसे कलाकार कुछ ही समय में अपनी कलात्मक अदायगी के कारण चमक उठते हैं और गाँव-गाँव, नगर-नगर में होनेवाले ऐसे प्रदर्शनों में वे बुलाये जाते हैं। उनके बिना वे प्रदर्शन फबते भी नहीं हैं और जनता भी उन्हीं का नाम सुनकर कोसों दूर से दर्शनार्थ उमड़ पड़ती है। धीरे-धीरे लोकरुचि तथा जनता का आग्रह देखकर ही ये विशिष्ट कलाकार अपनी नाट्य मंडलियाँ स्वयं बना लेते हैं और पूर्वप्रचलित लोकनाट्यों में नानाप्रकार के रंग भरकर उनको अत्यधिक चमत्कारिक बनाते हैं। प्रचलित नाट्य गीतों को वे अत्यन्त आकर्षक ढंग से गाते हैं और उनकी स्वररचनाओं को अत्यधिक मनोरंजक बनाते हैं। नृत्यों को वे अत्यधिक चमत्कारिक करके प्रस्तुत करते हैं। उनके स्वयं के सान्जिंदे होते हैं जो अत्यधिक चमत्कारिक ढंग से बजाते हैं और प्रवीण कलाकारों की अदायगी में चार चाँद लगाते हैं। इस तरह के व्यवसायिक प्रयोग से नाट्य अत्यधिक परिपुष्ट होता है और जनरुचि को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया से नाटक का कलेवर भी बढ़ता है और उसके अनेक अंग, जो सामुदायिक स्तर पर परिपुष्ट नहीं होते हैं, परिपक्व हो जाते हैं। इन नाटकों की प्रदर्शन-विधि अधिक पुष्ट बनती है और समाज में बिखरे हुए अनेक प्रवीण कलाकार नाटक को अपना व्यवसाय बना लेते हैं। इस तरह अनेक नाट्य मंडलियाँ कुछ ही समय में निखर पड़ती हैं और पारस्परिक होड़ के कारण नाटकों में भी अधिकाधिक रंग भरने लगता है। सामाजिक स्तर के नाटकों की तरह ये व्यवसायिक नाटक बिखरे हुए नहीं होते। उनमें पर्याप्त मात्रा में कसावट आ जाती है। नाटकों के गीत, नृत्यों में जो पुनरावृत्ति का दोष रहता है वह दूर हो जाता है और उनकी जगह नवीन गीत, नृत्यों का समावेश होता है।

ये नाटक भी रात-रात भर चलते हैं, क्योंकि मीलों चलकर दूर-दूर गाँवों से आने वाले दर्शक अपनी सारी रात इन्हीं प्रदर्शनों में लगाना चाहते हैं ताकि बची हुई रात में विश्राम के लिये उन्हें कोई स्थान नहीं ढूंढ़ना पड़े और सवेरा होते ही वे सीधे अपने घर लौट जावें। दर्शकों के इस आग्रह के कारण प्रदर्शकों को विवश होकर नाटक के कलेवर को बढ़ाना पड़ता है और

इस तरह अनेक अप्रासंगिक प्रसंग भी मूलनाटक के साथ जुड़ जाते हैं जिनका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण अपने नाटकों को अधिक आकर्षक बनाने के लिये उन्हें रंगमंचीय साधनों आदि में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। इन लोकनाट्यों में रंगीन पर्दों तथा नाटकीय सामग्री का प्रयोग इसी प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप होने लगा है। यह प्रतिस्पर्धा कभी-कभी इतना ईर्ष्यात्मक और विकराल रूप धारण कर लेती है कि इन मंडलियों को अपने प्रदर्शन-क्षेत्र तथा जातिगत मनोरंजन के लिये परिवार बाँटने पड़ते हैं। इस बँटवारे से प्रदर्शनों का समय, पारिश्रमिक की रकम तथा जातियाँ निर्धारित हो गई हैं। ये प्रदर्शन अब कई जगह जाति तथा क्षेत्र के जीवन में एक परम्परा के रूप में प्रविष्ट हो गये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई नाट्य मंडलियाँ इसी तरह जातिगत परिवारों के साथ जुड़ गई हैं, जिन्हें वे निश्चित पारिश्रमिक पर मनोरंजित करती हैं। ये भवाई मंडलियाँ इस तरह विविध परिवारों के लिये विभक्त होकर अनेक समस्याओं से बच गई हैं।

राजस्थान का गवरी नाट्य भी एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में परिपुष्ट हुआ है, जो विधिवत् विशिष्ट मंडलियों द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों और परिवारों के लिये विशिष्ट समय पर प्रदर्शित होता है। भारतवर्ष में यही एक ऐसी नाट्य परम्परा है, जो व्यवसायिक नहीं होते हुए भी प्रदर्शन की दृष्टि से क्षेत्रीय और जातीय आधार पर विभक्त होती है और किसी भी आर्थिक प्रलोभन के बिना ही डेढ़ माह तक पूरे समय की मंडलियों की तरह गठित होकर अनुष्ठानिक रूप से गाँव-गाँव प्रदर्शन करती फिरती हैं। इन व्यवसायिक मंडलियों के प्रसार के कारण सामुदायिक नाट्य प्रदर्शनों को आघात अवश्य पहुँचा है। सर्वसुलभ नाट्यप्रदर्शन यदि बिना किसी परिश्रम के ही उपलब्ध हो जावें तो गाँव के लोग स्वयं क्यों प्रदर्शन करें? आज से ५० वर्ष पूर्व जब देश में सामुदायिक नाट्यों का बाहुल्य था, तब इन नाटकों के लिये विशेष स्थान था, उनके विशेष रंग-मंच तथा चबूतरे निर्मित होते थे, विशिष्ट नाट्य-सामग्री एक जगह सुरक्षित रहती थी, वर्ष भर में कम से कम एक बार नाटक करने के लिये विशिष्ट समितियाँ बनती थीं, उनके विशिष्ट चंदे एकत्रित होते थे, सामूहिक भोज होता था, सब परिवारों को एक बृहत् सांस्कृतिक आयोजन के रूप में मिलने का अवसर मिलता था। वह एक प्रकार से गाँव का महत्वपूर्ण सार्वजनिक त्योहार था। गाँव के अनेक उदीयमान कलाकारों को रंगमंच पर आकर अपनी प्रतिभा दर्शाने का अवसर मिलता था। गाँव में कुछ वयोवृद्ध लोग ऐसे होते थे जो इन सैकड़ों वर्ष पुराने नाटकों के अलिखित गीत-संवादों के पोथड़े सुरक्षित रखते

थे। वे नाट्य की परम्पराओं के रक्षक समझे जाते थे। उनके लिये नाट्य रंगमंच पर एक विशिष्ट आसन निश्चित रहता था तथा समस्त गाँव उनको पूज्य दृष्टि से देखता था। लोकनाट्यों के इस व्यवसायीकरण से निश्चय ही नाट्यों के सामुदायिक तत्त्वों को क्षति पहुँची है।

दक्षिण भारत तथा महाराष्ट्र के लगभग सभी लोकनाट्य सामुदायिक स्तर से ऊपर उठकर व्यवसायिक स्तर पर पहुँच गये हैं। इसके मूल में केवल यही कारण है कि जनसाधारण का कलात्मक स्तर औसत से ऊपर उठ गया है और सामुदायिक तथा व्यवसायिक नाट्यविधियों में बहुत कम अन्तर रह गया है। महाराष्ट्र का तमाशा जब सामुदायिक स्तर पर था तो उसका प्रारम्भिक रूप गम्मतों के रूप में विद्यमान था, उसका सामुदायिक रूप 'गोंधल,' 'स्वांग' तथा 'ललित' के रूप में आज भी परिलक्षित होता है। पहले ये ही तमाशे 'मुरलिया' 'सोनाड़िया' नर्तकों की सहायता से गीतिकथाओं के रूप में विद्यमान थे, बाद में शायरों तथा कवियों की विशिष्ट प्रतिभाओं ने और पेशवाओं तथा राजा-महाराजाओं के विशिष्ट संरक्षण ने इनको उच्चकोटि के व्यवसायिक तमाशों में बदल दिया और लावणियाँ आदि प्रचलित धुनों ने उन पर गजब का रंग चढ़ाया। आज तमाशा महाराष्ट्र के गाँवों से बाहर निकल कर शहरों के बड़े-बड़े थियेटरों की शोभा बन गया है। महाराष्ट्र के दक्षिणपूर्व के कोंकण क्षेत्र में दशावतार जैसा सामुदायिक लोकनाट्य विशिष्ट कलाकारों और शास्त्रों के सम्पर्क से इसी तरह व्यवसायिक नाटक में परिवर्तित हो गया।

दक्षिण भारत का यक्षगान और कथाकली नाटक भी अपने लोकधर्मी स्वरूप को छोड़कर कालान्तर में व्यवसायिक और शास्त्रीय नाटकों के रूप में बदल गया। यक्षगान का सामुदायिक स्वरूप 'कुरवंजु' कभी केवल गीतिकथाओं के रूप में गाँवों में प्रचलित था; धीरे-धीरे उसने भी अनेक पौराणिक कथाओं को अपने में समेटकर व्यवसायिक नाट्यों का स्वरूप पकड़ लिया। १६ वी शताब्दी के राजा-महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त होने से वे सभी नाट्य यक्षगानी स्वरूप में आ गये, जिनकी अदायगी विशिष्ट व्यवसायिक लोककलाकार ही करने लगे। १८ वीं शताब्दी से पूर्व दक्षिण भारत में कथकली नाट्य केवल कथागान के रूप में विद्यमान था, गाँव के लोग नगाड़े, मृदंग, बांसुरी, मजीरे आदि लेकर अपने इष्टदेवों के जीवन संबंधी गीत गाते और नृत्य करते थे, गाँव के खुले वातावरण में लोगों के सहयोग से ये नाट्य अंकुर रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। बाद में यही नाट्य-परम्परा नंबूदरी ब्राह्मणों की सहायता

से शास्त्रोक्त नृत्य-सामग्री प्राप्त कर कथकली जैसे समुन्नत तथा अत्यंत विकसित शास्त्रीय नाट्यों में परिवर्तित हुई, जिसका प्रतिपादन विशिष्ट कलाकारों के अलावा किसी साधारण कलाकार द्वारा एक असाध्य कार्य था।

इन व्यवसायिक तथा शास्त्रीय कोटि के विशिष्ट नाटकों में उच्चकोटि के सधे हुए और परमुन्नत कलातत्त्वों के दर्शन अवश्य होते हैं परन्तु वे एक सार्वजनिक तथा सामुदायिक समारोह का रूप धारण नहीं करते। उनमें सार्वजनिक उत्साह तथा सार्वजनिक सहयोग के दर्शन नहीं होते तथा इन नाट्यों के पात्र जनता के स्नेह और श्रद्धा के पात्र नहीं होते। उत्तर भारत की रास-लीलाओं, रामलीलाओं तथा विशिष्ट सामुदायिक गाथा के पात्रों की जिस तरह नाट्य-समाप्ति पर आरती उतारी जाती है, उनके लिये मिठाइयों और उपहारों के ढेर लग जाते हैं, उस तरह का सार्वजनिक आदर इन व्यवसायिक नाट्यकारों को नहीं मिलता। सामुदायिक नाट्यों के पात्रों को नाट्यारंभ से पूर्व मिरचों की धूनी दी जाती है, काले डोरों से उनके हाथों में गंडे बाँधे जाते हैं ताकि उनको कोई नजर न लगे। नाट्य की समाप्ति पर जनता उनकी आरती उतारती है, घर-घर उनका स्वागत-सत्कार होता है तथा जिन घरों में उनका निवास होता है वहाँ दीप जलाये जाते हैं। व्यवसायिक नाट्य अभिनेताओं को आदर अवश्य मिलता है तथा उनकी उपलब्धियों पर उन्हें पर्याप्त मात्रा में धन भी मिलता है परन्तु वे समाज के हृदय में सदा के लिये स्नेहपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं करते।

सामुदायिक नाट्यों के प्रदर्शन हेतु दूर-दूर से आये हुए दर्शनार्थियों के लिए समस्त गाँव निवास, भोजन, विश्राम आदि का प्रबन्ध करता है तथा उनका गाँव के अतिथि के रूप में स्वागत-सत्कार किया जाता है। लोकनाट्यों के सामुदायिक और व्यवसायिक स्वरूपों में एक सामान्य बात अवश्य है जो इन दोनों को एक ही जाति में शुमार करती है, वह है इनका कथानक। नाट्य के इन दोनों ही स्वरूपों में काल्पनिक कथानकों के लिये कोई स्थान नहीं है। वे ही चरित्र लोकनाट्यों में चलते हैं जिनका परिचय जनता को पहले से होता है तथा जो उनके जीवन के साथ किसी तरह अनुष्ठानिक रूप से जुड़े हुए होते हैं। इन पात्रों में अधिकांश तो ऐसे होते हैं जो जीवनादर्श के रूप में उनको प्रेरणा देते रहते हैं। इनमें से कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं जो कुत्सित एवं घृणित होते हुए भी पूज्य चरित्रनायकों के चरित्र को उभारनेवाले होने के नाते जनता के चिर-परिचित पात्र बन जाते हैं। जनता इन चरित्रों की अदायगी में किसी प्रकार का परिवर्तन या रूपान्तर नहीं चाहती, न उनसे सम्बन्धित गीत, नृत्य

तथा प्रस्तुतीकरण और वेश-विन्यास के तरीकों में कोई भी आजादी पसंद करती है। यदि उनकी आकांक्षाओं और स्वीकृत कल्पनाओं और मूल्यों के अनुकूल उनके पात्र नहीं उतरते तो चाहे वह प्रदर्शन सामुदायिक मंडलियों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ हो या व्यवसायिक, वे उस पात्र को रंगमंच पर एक क्षण के लिये भी नहीं टिकने देते हैं। यही कारण है कि सामुदायिक मंडली के मुकाबले में कोई व्यवसायिक मंडली प्रदर्शन प्रस्तुत करती है तो उसमें किसी प्रकार की कमजोरी जनता बर्दाश्त नहीं करती। इन व्यवसायिक मंडलियों द्वारा काल्पनिक प्रसंगों पर आधारित नृत्य-नाटिका प्रस्तुत करने का साहस इसलिये कोई नहीं करता क्योंकि वे जानते हैं कि जनता उन्हें तुरन्त उखाड़कर फेंक देगी।

लोकनाट्यों का प्रस्तुतीकरण तथा दृश्यविधान

लोकनाट्यों की विशेषता इसी में है कि वे अनौपचारिक ढंग से रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं। उनके लिये व्यवस्थित ढंग के डिबियावाले रंगमंच, बिजली से चलनेवाले दृश्यमय परदे तथा रंगमंच के विविध विधान की आवश्यकता नहीं होती। इन नाट्यों में प्रशिक्षण तथा पूर्वाभ्यास की भी आवश्यकता नहीं होती, न उनके लिये विशिष्ट पोशाकों की ही आवश्यकता होती है। साधारण जीवन में जो स्त्री-पुरुष पोशाकें पहिनते हैं, वे ही रंगमंच पर भी प्रयुक्त होती हैं। पोशाकों का मोटा-मोटा वर्गीकरण केवल लिंगभेद के अनुसार होता है। लोकनाट्यों के पात्र, चाहे पौराणिक हों चाहे ऐतिहासिक, आवरण की दृष्टि से सदा ही आधुनिक बने रहते हैं।

दृश्यावली के संबंध में भी केवल प्रतीकों का सहारा ही लिया जाता है। पूरे परदों का उपयोग लगभग वर्ज्य ही है। स्थल, स्थान तथा समय परिवर्तन के संबंध में पात्रों के वाचन ही में पर्याप्त संकेत रहता है। कभी-कभी जंगल की जगह एक पेड़ की शाखा लेकर खड़ा हो जाना ही केवल पेड़ ही नहीं, समस्त जंगल का भान करा देता है। रंगमंच के आरपार किसी नीले रंग के साफे को हिला देने मात्र से बहती हुई नदी का भान हो जाता है। जिन अट्टालिकाओं और मकानों की छत पर बैठकर दर्शकगण नाटक का आनन्द लेते हैं वे ही नाट्य के विशिष्ट दृश्य-स्थल बन जाते हैं। रंगमंच पर ही, पात्रों द्वारा दस बीस दफा चक्कर लगा लेने से, राम लक्ष्मण सीता की वनयात्रा समझ ली जाती है। रंगमंच की एक छोटी सी छलांग ही हनुमान द्वारा सीता की खोज के लिये सात समंदर की छलांग समझ ली जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह रंगमंच के पात्र अपनी भूमिका की अदायगी में परम

प्रवीणता का परिचय देते हैं, उसी तरह दर्शक भी अपनी विशद कल्पनाशक्ति की अदायगी में पूर्ण पटुता का परिचय देते हैं। उनकी कल्पना तो यहाँ तक कमाल दिखलाती है कि रंगमंच पर अभिनय करते हुए पात्र को एक स्थिति में तो वास्तविक नाट्य का पात्र मान लेती है और उसी समय किसी दूसरी स्थिति में वह दर्शक के समान ही साधारण मनुष्य। भगवान राम जब रंगमंच पर काम करते हुए थक जाते हैं तो तनिक विश्राम भी कर लेते हैं और दर्शकों में से किसी से बीड़ी मांगकर धूम्रपान करते हैं। इस समय दर्शकगण उन्हें भगवान राम का स्वरूप नहीं मानते। वे यही मानते हैं कि जब सच्ची भावना से राम का अभिनय करेंगे तभी वे राम कहलावेंगे, शेष सभी क्षणों में वे साधारण मनुष्य बने रहेंगे, अभिनेता नहीं।

रंगमंच पर प्रवेश आदि के लिये भी किसी विशेष औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती। पात्रों का प्रवेश लोकनाट्यों में जिस विधि से होता है वह अत्यंत मौलिक और हृदयग्राही है। भिखारी का अभिनय करनेवाला पात्र दर्शकों में से ही भीख माँगता हुआ रंगमंच पर चढ़ आता है। राजा का अभिनय करने वाला नाट्यस्थली से किसी निकटस्थ मकान की अट्टालिका से उतरकर रंगमंच पर आता है। यदि किसी कोतवाल को किसी अभियुक्त को पकड़ना है तो वह दर्शकों में से ही किसी को पकड़कर रंगमंच पर ले आता है। ये रंगमंच पर लाये जानेवाले असंबंधित व्यक्ति भी इस तरह रंगमंच पर आने में में अपना गौरव समझते हैं। दर्शक-प्रदर्शकों का यह समन्वीकरण लोकनाट्यों का प्राण है।

लोकनाट्यों का अपना कोई विशिष्ट पोशाकघर भी नहीं होता। बहुधा तो पात्र अपने घरों से ही पोशाक पहिनकर आते हैं और दर्शकों में बैठ जाते हैं। कुछ पात्र अपनी पोशाकें दर्शकों में बैठकर ही बदल लेते हैं। चलते नाट्य में पात्र-परिवर्तन के प्रसंग में पोशाकों का आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यदि किसी पुरुष-पात्र को तत्काल ही किसी स्त्री की भूमिका अदा करनी है तो वह तुरन्त ही अपने शरीर पर चादर लपेटकर स्त्री का अभिनय करने लगता है। इसी तरह राजा का अभिनय प्रस्तुत करनेवाला पात्र अपने सिर पर एक चमकदार पगड़ी रख लेने से ही राजा मान लिया जाता है।

लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शकों की पारस्परिक सहानुभूति, वचा-संवेदन आदि बहुत ही मार्के के होते हैं। राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शकों का पारस्परिक योग नाट्यप्रदर्शन को बहुत ही जानदार बना देता है। भवाई नाट्य में प्रासंगिक-अप्रासंगिक अनेक ऐसे दृश्य आते हैं, जिनमें सौदा बेचनेवाला

बनिया तथा नाई के प्रसंग प्रधान रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब उन्हें नाई और बनिये के प्रसंग रंगमंच पर प्रस्तुत करने होते हैं तो दर्शकों में से किसी असली नाई और बनिये को रंगमंच पर ले आते हैं और अपना वांछित अभिनय उन पर आरोपित करते हैं। दर्शकगण, गाँव के इन दो दुष्ट तथा शोषक तत्त्वों की अच्छी बेइज्जती देखकर, हँस-हँस कर लोटपोट हो जाते हैं। देश का कोई नाट्य-प्रकार ऐसा नहीं है जिसमें इस प्रणाली का प्रतिपादन नहीं होता हो। उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के भगवान राम और कृष्ण असली भगवान के स्वरूप ही समझे जाते हैं। प्रदर्शन के समय जनकपुरी में धनुषयज्ञ के समय समस्त दर्शकसमुदाय जनकपुरी का निवासी समझा लिया जाता है तथा राम वनगमन के दृश्य में जब राम सीता लक्ष्मण रंगमंच से नीचे उतरकर दर्शकों के बीच होकर वन को प्रस्थान करते हैं तो दर्शकगण अपने को अयोध्या की जनता समझकर उनके के चरण स्पर्श करते हैं। उनके वियोग में फूट-फूट कर रोते हैं।

नाट्य प्रस्तुतीकरण की कला में लोकनाट्य बड़े-बड़े उन्नत तथा आधुनिक शैली के नाटकों को भी पाठ पढ़ा सकते हैं। इतने भव्य रंगमंचीय विधान, प्रकाशव्यवस्था तथा खर्चीले नाट्यप्रसाधन के बावजूद भी यह अनुभव किया जाता है कि जनता उनके साथ आत्मसात् नहीं होती। वह उनकी अभिनयात्मक तथा रंगमंचीय व्यवस्था सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म गलतियों को पकड़कर उसे राई से पर्वत बना डालती है। परन्तु लोकनाट्य प्रस्तुतीकरण के हर पक्ष की दृष्टि से अनायास ही दर्शकों के दिल में बैठ जाते है। जिस समय गाँव की नाट्यमंडली गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँव में जाती है तो जनता का दिल फट जाता है, स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोती हैं, बिदाई के समय विशिष्ट स्वरूपों को सिरोपाव, नारियल तथा मिठाई की भेंट देती है। गाँव के वे लोग जो बहुधा नाट्य में हँसी-मजाक तथा सामाजिक कटाक्ष के शिकार बने हों, भी इस बिदाई के समय अपने आपको बड़ा सूना-सूना सा महसूस करते हैं। गाँव का जागीरदार, जमींदार तथा धनाढ्य बनिया, जिनकी इन लोकनाट्यों में बुरी तरह मरम्मत होती है, इन नाट्यों के सबसे बड़े संरक्षक होते हैं।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण की कला में राजस्थान के तुर्राकलगी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उनकी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ जो रंगमंच के दोनों तरफ विशेषरूप से बनाई जाती हैं वे नाट्यप्रदर्शन में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। एक अट्टालिका से स्त्री-पात्र उतरकर रंगमंच पर आता है तथा

दूसरी में पुरुष-पात्र। ये दोनों अट्टालिकाएँ एक तरह से नाट्यमंच की साइड-विन्ग (Side-wings) हैं, जिनमें पात्रों का प्रवेश खुले आम डंके की चोट होता है। प्रथम प्रवेश में ही जब ये पात्र २० फीट की ऊँचाई से अपने गीत-संवादों की अदायगी करते हैं तो जनता के मानसपटल पर उनकी गहरी छाप अंकित हो जाती है। दोनों अट्टालिकाओं के लम्बे फ़ासले के बावजूद भी उनके पारस्परिक संवाद दर्शकों पर तीर की तरह चुभ जाते हैं। उन्हें किसी प्रकार के लाउड-स्पीकर या माइक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि लोकनाट्यों में प्रयुक्त होनेवाले सभी पात्र मीलों दूर प्रसारित होनेवाली बुलन्द आवाज़ में गाने के अभ्यस्त होते हैं।

इस नाट्यशैली में एक विशेष प्रणाली और है जो आकर्षण की वस्तु है। वह है पात्रों द्वारा अभिनय करते समय छड़ियाँ घुमाना। ये छड़ियाँ पात्र अपने हाथों में थामे रहते हैं। उनके सिरों पर कागज़ के अत्यन्त आकर्षक फूल लगे रहते हैं। नृत्य के समय ये छड़ियाँ पात्रों की अंगभंगिमाओं के साथ घूमती रहती हैं और अत्यन्त मनमोहक दृश्य उपस्थित करती हैं। हज़ारों की संख्या में दूर-दूर बैठी हुई जनता को ये छड़ियाँ अभिनेताओं के अंगों की ही अंश प्रतीत होती हैं और दूरी के बावजूद भी पात्रों की क्रियाएँ स्पष्ट दिखलाई देती हैं। मेवाड़ की रासधारियों में भी मूल रंगमंच के साथ ही एक महल या अट्टालिका ऐसी बनाई जाती है जिसमें नाट्य के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य-कलाप दिखलाये जाते हैं। मध्यप्रदेश के माच ज़मीन से आठ फीट ऊँचे बाँधे जाते हैं जिन पर पात्र अपने कार्य-कलाप दिखलाते हुए अत्यन्त प्रभावशाली मालूम होते हैं। ये माच इतनी ऊँचाई पर प्रदर्शित होते हैं कि कभी-कभी जनता अपनी छतों पर बैठकर ही उनका श्रव्य और दृश्य लाभ ले लेती है। उनके नृत्यों व गीतों में इतनी ताकत होती है कि पनघट पर पानी भरती हुई स्त्रियाँ उन्हें सुनकर आत्मविभोर हो जाती हैं और रोटी पकाती हुई गृहिणियाँ अपना हाथ जला बैठती हैं। पानी भरती हुई स्त्रियाँ उन्हें सुनकर ठिठकी हुई खड़ी रह जाती हैं। ये माच-प्रदर्शक अपनी कलात्मक अदायगी के कारण अनेक स्त्रियों को मंत्रमुग्ध कर लेते हैं और उन पर ऐसा वशीकरण मंत्र छोड़ देते हैं कि कभी-कभी वे अपनी हरीभरी गृहस्थी को छोड़ इन माचवालों के साथ हो लेती हैं। यही कारण है कि माच-प्रदर्शन के समय आज भी पुलिस को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है।

मेवाड़ के भीलों के गवरी नाट्य में तो उत्साह और आवेग का एक समुद्र ही देखने को मिलता है। नाट्यप्रदर्शन के समय जब उसका प्रमुख अभिनेता

बुढ़िया रौद्र रूप धारण कर लेता है तब दर्शकों में बैठी हुई स्त्रियाँ भावोद्रेक के कारण कम्पायमान हो जाती हैं। लौकिक दृष्टि से उनमें देवताओं का प्रवेश हुआ समझा जाता है। आराध्यदेव बुढ़िया जब अपनी मोर पंखी से उन्हें झाड़ता है तभी वे चैतन्य अवस्था में आती हैं। उसी भावोद्रेक में गवरी के प्रदर्शक तीन-तीन मंजिल से जमीन पर कूद पड़ते हैं तथा पेड़ों पर चढ़े हुए बाकू-अभिनेता फूल की तरह जमीन पर लटक जाते हैं। ये सब चमत्कारिक घटनायें नाट्य को आकर्षक बनाने में समर्थ होती हैं। कभी-कभी बंजारे की बालद गाँव के एक छोर से गाती नाचती हुई रंगस्थली में प्रवेश करती है। कभी बादशाह की सवारी में सारा गाँव शरीक हो जाता है। कभी-कभी गाँव की झोपड़ियाँ ही कंजरों के डेरे बन जाती हैं। ये गवरी-नाट्य, जो कि दिन में सुबह से शाम तक अभिनीत होते हैं, मूल ग्रामीण जीवन के अंग बन जाते हैं। कभी-कभी यह भी भान होना कठिन होता है कि नाटक कौनसा है और दैनिक जीवन की मूल क्रियाएँ कौनसी हैं? नाटक-पात्र अपना अभिनय करने के उपरान्त वहीं पास के किसी घर में जाकर सुस्ता लेते हैं और पुनः अभिनय में शामिल हो जाते हैं। इसी तरह दर्शक भी कुछ देर प्रदर्शन देखकर अपना खेत संभालने चले जाते हैं और विशिष्ट प्रसंग में पूजा आदि के लिए पुनः लौट आते हैं। नाट्य का नायक बुढ़िया जब थक जाता है तो अपना मुखौटा (mask) किसी दर्शक के मुँह पर बांध देता है और वह दर्शक बुढ़िया की भूमिका अदा करने लगता है। गवरी नाट्य इसी धार्मिक अनुष्ठान के रूप में सैकड़ों वर्षों से हो रहा है और दर्शक भी उसे अनेक बार देख चुके हैं, फिर भी वह चिरनवीन ही रहता है और दर्शक-प्रदर्शक अपना दैनिक कर्म करते हुए भी पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय से इसे सफल बनाते हैं। दर्शक-प्रदर्शकों का यह अद्वितीय समन्वय भारतवर्ष में किसी भी नाट्य में परिलक्षित नहीं होता। सारा गाँव ही प्रदर्शन-स्थल बन जाता है। इस नाट्य में सभी दर्शक प्रदर्शक हैं और सभी प्रदर्शक दर्शक भी।

गवरी नाट्य की संवाद-विधि भी अद्वितीय है। देश के किसी नाट्य में उसके दर्शन नहीं होते। इस नाट्य में किसी प्रकार के औपचारिक शब्द या गीत-संवादों का प्रयोग नहीं होता। नृत्य, अंगभंगिमाओं तथा भावमुद्राओं से ओत-प्रोत यह नाट्य दर्शकों के मन पर स्थायी प्रभाव डालता है तथा रौद्र, बीभत्स, वीर, शृंगार और हास्य रसों के परिपाक द्वारा उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि करता है। नाटक का सूत्रधार कुटकड़िया ही इस नाट्य का प्राण है। वही समस्त नाट्य के कथानकों को अपनी विशिष्ट संवादशैली में सुलझाता

है। वह पात्रों से स्वयं प्रश्न करता है और उनका उत्तर भी एक विचित्र शैली में खुद ही देता है। गवरी नाट्य में कुटकड़िया के माध्यम से समस्त कथा का रहस्योद्घाटन स्वयं में एक अत्यन्त रोचक और आकर्षक प्रक्रिया है।

लोकनाट्यों की भावाभिव्यंजना में अतिरंजना और प्रतीकात्मकता की प्रधानता रहती है। गद्य-संवादों की अनुपस्थिति में गीत-नृत्यों के माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोजन, अतिशयोक्ति और प्रतीकों का आधार ग्रहण नहीं करें तो वे भी सार्थक नहीं हो सकते। क्रोध और आवेश प्रकट करने के लिए लोकनाट्यों का अभिनेता अपने पाँवों की नृत्य-चालें अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम बना देता है और आंगिक मुद्राओं को अतिरंजित कर एक विचित्र-से तनाव की सृष्टि करता है। पृष्ठभूमि में गाये जाने वाले गीत-संवाद की समाप्ति पर उसकी विशिष्ट चालें दर्शकों पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती है। यक्षगान, दशावतार तथा कथकली नाट्यों में पहाड़ पर चढ़ने का उपक्रम पात्र अपनी टाँगें विचित्र ढंग से ऊपर से नीचे रखकर करता है तथा बिना किसी पहाड़ या टीले पर चढ़े ही चढ़ने का अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उत्तरप्रदेश की रासलीलाओं में जब वासुदेव भगवान् कृष्ण को कंस की क्रूर दृष्टि से बचाने के लिए जमुना पार करते हैं तो रंगमंच पर अपने कपड़े उठाकर इस ढंग से चलते हैं कि बिना नदी दिखलाये ही नदी का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। राजस्थानी ख्यालों, मध्यप्रदेश के माचों तथा महाराष्ट्र के तमाशों और ललित में अपने गीत-संवादों के प्रयोजन को अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए संवादसंलग्न पात्र एक दूसरे को पार करते हुए विपरीत दिशाओं में तीव्रगति से नाचते हैं और गीतों के मान पर चक्कर खाकर अत्यन्त चमत्कारिक ढंग से खड़े हो जाते हैं। यह पद्धति पूर्वी भारत की जात्राओं, दक्षिण भारत के यक्षगान तथा विख्यिनाट्य कथकली आदि में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त होती है। संवाद-कथन की यह अद्भुत शैली भारतीय लोकनाट्यों की प्राण बन चुकी है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी नाट्य शैली में स्वर प्रधान रहते हैं, किसी में शब्द तथा किसी में ताल। कथकली और यक्षगान में संवादगान के अन्त में ताल-लय-संयुक्त पदचापों की प्रधानता रहती है जबकि राजस्थानी ख्यालों और मालवी माचों में शब्दों की। उत्तर प्रदेश की रासलीलाओं, बंगाल की जात्राओं और बिहार की बिदेसिया में स्वरों का लालित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। संवादगान के छंदबद्ध शब्द दर्शकों पर चुभ जाते हैं। कभी स्वरों की रसधार अमृतपान कराती है और कभी तालबद्ध नृत्य की पदचापें दर्शकों को चकित कर देती है।

अभिनेता के व्यक्तित्व की छाप इन्हीं विशिष्ट स्थितियों में दर्शकों पर अंकित होती है। लोकनाट्यों की यह परम प्रभावकारी युक्ति किसी भी आधुनिक नाट्यों में परिलक्षित नहीं होती। ये परिस्थितियाँ संवाद तथा नृत्यमय गीतों द्वारा पल-पल में उपस्थित होती हैं। दर्शकों की भावभूमि पर बार-बार चोट पड़ने से वे स्वयं आत्मविभोर हो जाते हैं और नाट्य के अन्य सभी दोषों को भूलकर इन स्वर, ताल तथा आंगिक भंगिमाओं की चमत्कारपूर्ण अदायगी के कायल हो जाते हैं।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनकी अदायगी में रंगमंच, रोशनी, सजावट, दृश्य-विधान, वेश-विन्यास आदि कोई महत्त्व नहीं रखते। उनके प्रस्तुतीकरण की समस्त कला अभिनेताओं की नृत्य-गायन, अदायगी तथा स्थिति, स्थान, प्रसंग-वेशभूषा, चरित्र तथा प्रयोजन की प्रतीकात्मकता में है। जो अभिनेता इन कलाओं में प्रवीण नहीं होता उसका रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है। लोकनाट्यों के अभिनेता सैकड़ों में एक होते हैं। किसी औसत आदमी का उसमें काम ही नहीं है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य के विशिष्ट पात्रों के अभिनय के लिये कुछ ही विशिष्ट कलाकार होते हैं। या तो वे अपनी आजीविका के लिये व्यवसायिक नाट्यमंडलियों में शरीक हो जाते हैं या सामुदायिक नाट्यों में बुलावे पर काम करते हैं। ऐसे कलाकार उस विशिष्ट क्षेत्र में चमक जाते हैं और दर्शकों के हृदय के हार होते हैं। उनके रंगमंच पर आने से जनता के दिल हरे हो जाते हैं और प्रदर्शन में चार चाँद लग जाते हैं। ऐसे कलाकार जीवनपर्यन्त यही काम करते हैं। वे दैनिक जीवन में भी कलाकार बनकर ही रहते हैं। कोई दूसरा धंधा करने में वे असमर्थ रहते हैं और गाँव-गाँव बुलावे पर जाकर अपना जीवन धन्य समझते हैं। ये लोक-कलाकार अपने इस काम को आजीवन बिना किसी आर्थिक आकांक्षाओं के शौकिया ढंग से करते हैं और द्रव्य सदा ही उनके पीछे-पीछे दौड़ता है। जनताजनार्दन उनको हथेलियों पर उठाकर रखती है और उन्हें अपनी आजीविका के लिये एक क्षण भी कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

लोकनाट्यों में नारी

भारतीय लोकनाट्यों में नारी का अभिनय पुरुषों के ही जिम्मे रहता है। स्त्री को यह अवसर कभी प्राप्त नहीं होता, चाहे स्त्रियाँ अभिनय के लिये प्रचुर मात्रा में ही क्यों न उपलब्ध होती हों। स्वयं भील जाति के गवरी नाट्य में

भी स्त्रियों का काम पुरुष ही करते हैं जब कि उनके अन्य सभी नृत्यों में स्त्रियों को सम्मिलित होने की पूरी छूट है। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि के यक्षगान, कथकली, कुचपुडी, तमाशा, जात्रा आदि लोक-नाट्यों में पुरुष ही स्त्रियों का भाग अदा करते हैं, जब कि इन क्षेत्रों में सामाजिक दृष्टि से स्त्रियाँ प्रत्येक कलात्मक कार्य में अग्रणी रहती हैं। परन्तु फिर भी नाट्य की सफलता तथा प्रभावोत्पादकता के लिये स्त्रियों का कार्य पुरुष ही करें तो नाटक में रंगत आती है अन्यथा नहीं। उत्तरप्रदेश की कुछ आधुनिक नौटंकियों में नर्तकियों का प्रयोग होने लगा है, परन्तु यह देखा गया है कि जनता कुछ अंशों में तो उन्हें बर्दाश्त करती है परन्तु उनका रंगमंचीय आधिपत्य उन्हें स्वीकार नहीं। किसी भी नाट्य की प्रमुख नायिका, विशेष करके चरित्रवती नायिका, का अभिनय पुरुषों द्वारा किया जाना ही गौरवपूर्ण समझा जाता है। हमारे समाज में ऐसी मान्यता भी घर कर गई है कि रंगमंच पर काम करने वाली अधिकांश स्त्रियाँ चरित्रहीन होती हैं और ऐसी भ्रष्ट नारियों द्वारा सती स्त्रियों तथा सदाचारियों का अभिनय कराना प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। आगरा की एक प्रसिद्ध नौटंकी में सती तारामती का अभिनय आगरा की एक प्रसिद्ध तवायफ द्वारा किये जाने पर एक भयंकर अदावत हो गई थी। इस पुस्तक का लेखक स्वयं दर्शकों में मौजूद था। जब तक उस तवायफ के स्थान पर दर्शकों का मनचाहा बालअभिनेता चिरंजीव स्त्री वेश में तारामती का अभिनय नहीं करने लगा, दर्शकों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। यह बात केवल स्त्रियों के अभिनय तक ही सीमित नहीं है। सच्चरित्र नायकों के चरित्र भी सच्चरित्र पुरुषों द्वारा ही अभिनीत होने चाहिएँ, ऐसी परम्परा भी भारत के लगभग सभी धार्मिक लोकनाट्यों में आज भी प्रचलित है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के राम, कृष्ण, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि चरित्रनायकों की भूमिका उच्चकुलीन, सच्चरित्र तथा सदाचारी बालकों तथा युवकों पर ही निर्भर रहती है।

लोकनाट्यों में स्त्रियों के अभिनय के लिये स्त्रियों का प्रयोग वर्ज्य इसलिये भी है कि वे लोकनाट्यों के ओजपूर्ण और कष्टसाध्य कार्यों के लिये शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी योग्य नहीं समझी गई हैं। राजस्थान के गवाई नाट्य में तो गवाई अभिनेता अपनी स्त्री को उनके द्वारा अभिनीत होने वाले नाट्यों को देखने भी नहीं देते। यदि वे लुक-छिपकर उन्हें देख भी लें तो उसी समय तलवार से उनके गले काट दिये जाते हैं। ऐसी घटनाएँ राजस्थान में अनेक बार हुई हैं और कई गवाइयों को इसी कारण आजीवन

कारावास भी सहना पड़ा है। गवाई लोग अपनी स्त्रियों की सर्वाधिक कद्र करते हैं और उन्हें सोने-चाँदी से भी लादे रहते हैं। उनकी प्रदर्शन-यात्रा में वे साथ भी रहती हैं, परन्तु प्रदर्शन के समय उन्हें अपने खेमों में ही छिपा रहना पड़ता है। ये स्त्रियाँ नाट्य से पूर्व खेमों में ही अपने पतियों की खूब सजावट करती हैं और वेशभूषा तथा अलंकरणों से उन्हें लादकर सम्पूर्ण स्त्री का रूप धारण कराती हैं। इस भावना के पीछे प्रमुख मत यही है कि रंगस्थली में काम करते समय वे अपनी स्त्रियों को देखकर कामातुर नहीं हो जायें और उनकी अभिनयात्मक अदायगी में कमजोरी न पैदा हो। प्रत्येक गवाई कलाकार बीस वर्ष से नीचे की आयु तक ही स्त्री की भूमिका अदा करता है। सच पूछिये तो प्रत्येक गवाई कलाकार स्त्री-पार्ट करने के लिये ही इस संसार में अवतरित हुआ है और गवाई नाट्य में इसीलिये स्त्री-चरित्र पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। बीस वर्ष की आयु के बाद वे पुरुषों का अभिनय अवश्य करते हैं परंतु तब तक तो उनके जीवन का वासन्ती उल्लास समाप्त सा हो जाता है। बीस वर्ष की आयुतक वह सामान्य जीवन में भी खूब सजाव-शृंगार से रहता हैऔर अपने आपको अत्यन्त आकर्षक वेश-भूषाओं से सुसज्जित करता है।

लोकनाट्यों में वास्तव में स्त्रियों का अभिनय स्त्रियोचित है भी नहीं। किसी भी स्त्री की यह सामर्थ्य नहीं कि वह शाम से लेकर सुबह तक रंगमंच के कष्टसाध्य और पौरुषपूर्ण कार्यों को अदा कर सके। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध माच अभिनेता श्रीयुत् फकीरचन्द का कहना है कि – 'मर्द हो तो चढ़े माच पर।' माच के काम में स्त्रियों का काम भी मर्दानगी और पुरुषार्थ का कार्य है। माच को तख्तातोड़ नाच भी कहते हैं। उसकी नृत्य-अदायगी इतनी कठिन और श्रमसाध्य है कि मामूली कार्य करने वाले के तो छक्के छूट जाते हैं। ढोलक की थापों पर पदों का द्रुत संचालन और शरीर की हृदयविदारक उछलकूद बड़े-बड़े बहादुरों को आश्चर्यचकित कर देती है। गवाई नाट्य में, भाले को आकाश में फेंक देने के बाद पूरी रंगस्थली का तूफानी चक्कर लगाकर पुनः ढोलक के मान के साथ उसे उसी स्थल पर पकड़ लेना, किसी जादूगर का ही काम है। कथकली, यक्षनाट्य और दशावतार के अभिनेताओं की गगनस्पर्शी और तूफानी उछलकूद किसी सधे हुए और अनुभवी कलाकार का ही काम है। मेवाड़ के गवरी नाट्य में माता राइयों की भूमिका अदा करने वाले पुरुष यदि स्त्री-पात्र होते तो गवरी की अनुष्ठानिक और तूफानी चकरियों में वे कदापि साथ नहीं दे सकते थे।

उत्तर प्रदेश की नौटंकियों में कोई भी धार्मिक तथा अनुष्ठानिक विशेषता नहीं होते हुए भी वहाँ रंगमंच पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्त्रियाँ बर्दाश्त नहीं होतीं। हर तरह से अपने अभिनय की सफल अदायगी के बावजूद भी वे दर्शकों की आँखों में खटकती है, कारण कि वे न तो सच्चरित्र स्त्रियों की और न कुचरित्र स्त्रियों की भूमिका को वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर सकती है। नौटंकियों में स्वभाव से ही स्त्री-पात्रों के लिये हल्के-फुल्के पदसंचालन की व्यवस्था पहले से ही है। फिर भी दर्शक यह नहीं चाहते कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों की भूमिका अदा करें। वे चाहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय करने वाला पात्र बिना संकोच के वे सभी स्त्रियोचित भाव बतला सके जो आमतौर से एक स्त्री भी नहीं बतला सकती। यही कारण है कि नौटंकियों में स्त्रियों का आधुनिक प्रयोग प्रायः असफल ही रहा है। रात-रातभर असंख्य जनसमुदाय के सम्मुख निरन्तर नाचते रहना और महीनों अपने समस्त परिवार से अलग होकर दिन-रात एक गाँव से दूसरे गाँव को भटकते रहने का कार्य किसी हालत में स्त्रियों के हाथों में छोड़ देना खतरे से खाली नहीं है। यक्षनाट्य, कथकली, विदिसिया, लावणी, माच, तमाशा, दशावतार आदि में अनेक बार स्त्रियों के उपयोग की दृष्टि से प्रयोग हुए परन्तु वे प्रायः असफल रहे हैं। कारण यही है कि इन नाट्यशैलियों की गगनचुम्बी उछलकूद तथा भयंकर चालें उनके लिये असंभव सिद्ध हुई है और गायन में भी उनकी आवाजें पुरुषों की तरह फैल नहीं सकती है।

लोकनाट्यों में आधुनिक नाट्यों की तरह रंगमंचीय व्यवस्था, पोशीदा कपड़े पहिनने की सुविधा, दर्शकों से दूर डिबिया वाले रंगमंच, किसी भी प्रकार के विघ्नबाधा से मुक्त होकर काम करने की सहूलियत नहीं रहती। उनमें दर्शक-प्रदर्शक बहुधा मिलेजुले ही काम करते है। अनौपचारिकता के वातावरण में एक-दूसरे में विशेष भेद भी नहीं रहता। स्त्री-पात्रों के लिये यह अनौपचारिक स्थिति अनुकूल नहीं होती। वेशभूषा, हावभाव, लुकावछिपाव, खुलकर काम करने की स्वतंत्रता आदि की दृष्टि से लोकनाट्यों का यह समस्त वातावरण स्त्रीसुलभ लज्जा और मानमर्यादाओं के लिये अनुकूल नहीं है।

लोकनाट्यों में प्रतीक, अतिरंजना, कल्पना तथा दर्शकों की सूझबूझ का आधार विशेष रहता है। जहाँ महल नहीं है वहाँ भी महलों की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ जंगल नहीं है वहाँ केवल एक डाली को ही जंगल मान लेना पड़ता है। जहाँ एक व्यक्ति, पुरुष की भूमिका अदा करते हुए, एक चादर अपने शरीर पर डालकर हावभाव करने लगता है उसे भी स्त्री समझ लिया जाता

है, वहां किसी लड़के या युवा पुरुष को स्त्री की भूमिका अदा करते हुए स्त्रियोचित सभी गुणों से सम्पन्न मान लेना बिल्कुल ही कठिन नहीं है। यदि वह पुरुष गाने में निपुण, नृत्य में पारंगत है और अपने अभिनय में दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ता है तो उसका भोंडा चेहरा और बेडौल शरीर भी दर्शकों को आकर्षक लगने लगता है। उस भावोद्रेक की चरम स्थिति में वे इन पुरुष-पात्रों में अत्यन्त सुन्दर कोमलांगिनी स्त्री के दर्शन कर लेते हैं। वह पुरुष-पात्र भी अपनी अद्वितीय अभिनयपटुता के कारण एक स्त्री-पात्र की तरह ही लोकप्रियता अर्जित कर लेता है।

लोकनाट्यों में स्त्रियों को रंगमंच पर नहीं लाने का एक कारण यह भी है कि कहीं किसी का गार्हस्थ्य जीवन नहीं बिगड़ जाय। बहुधा लोकनाट्यों में काम करने वाले अधिकांश पात्र दीन दुनिया से बेफिक्र रहते हैं। उन्हें व्यवसायिक मंडलियों में गाँव-गाँव घूमकर प्रदर्शन देने पड़ते हैं, अतः वे सदा ही जनता की आँखों के तारे बने रहते हैं। समस्त पारिवारिक सुख ही इनका भ्रमण में तथा मंडलियों के जीवन में निहित रहता है। स्त्री-कलाकारों को इन मंडलियों में रखने से स्थिति और भी अधिक बिगड़ सकती है। इन मंडलियों के कारण जब दर्शक समुदाय ही के पारिवारिक जीवन क्षत-विक्षत हो सकते हैं तो स्वयं प्रदर्शकों के पारिवारिक जीवन का कहां निर्वाह हो सकता है? मध्यप्रदेश के माच किसी समय सार्वजनिक जीवन के लिये खतरा बने हुए थे। इन माचों से प्रभावित होकर अनेक स्त्रियां घर छोड़कर माच वालों के साथ भागती हुई नजर आई हैं। माच मंडलियों के पीछे पुलिसवालों की सदा ही आँखें लगी रहती हैं। सामाजिक और शृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करने वाली मंडलियों के नैतिक स्तर बहुत ऊँचे नहीं होते। धार्मिक भावना के प्रतिपादन के अभाव में इन्हें अपने शृंगारिक और व्यंग्यप्रधान प्रसंगों से जनता की रुचि को पकड़े रहना पड़ता है। धार्मिक नाट्यों के बोझिल उपदेशों के अभाव में शृंगारिक भावनाएँ अत्यधिक मनोरंजनकारी होती हैं तथा जनता की शृंगारिक प्रवृत्तियों को उभारती हैं। यही कारण है कि धार्मिक मंडलियों से कहीं अधिक समस्याएँ सामाजिक और शृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करनेवाली मंडलियों की हैं। आये दिन घर छोड़कर स्त्रियों के भागने के उदाहरण सामने आते हैं। इसलिये राष्ट्रीय दृष्टि से भी स्त्रियों का लोकनाट्यों में प्रवेश उचित नहीं समझा गया है। आधुनिक ढंग के नाटकों में स्त्रियों के प्रवेश की छूट इसलिये भी दे दी गई है कि ये नाटक अत्यन्त सभ्य तथा नियंत्रित ढंग से होते हैं और अभिनेताओं को लोकनाट्यों के अभिनेताओं की तरह खुलकर घूमना तथा काम नहीं करना पड़ता।

एक विशेष बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि जहाँ लोकनाट्यों में अपनी-अपनी भूमिकाओं की अदायगी का सवाल आता है वहाँ स्त्री-पुरुष का भेद प्रायः नगण्य सा होता है। गीतनृत्यों की तीव्रतम शैली दोनों ही प्रकार के पात्रोंपर समान रूप से लागू होती है। उनकी अदायगी की शैली भी दोनों ही के लिए एक समान है। अतः किसी स्त्री या पुरुष-पात्र के लिए अभिनय संबंधी कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। परम्परा से दर्शकों की रुचि इस तरह से रूढ़ हो गई है कि उसमें कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है। जब तक रात्रि को बुलन्द आवाज़ से नहीं गावें, तीव्रतम गति से नहीं नाचें तब तक समस्त नाटक का रंग फीका ही रहता है। रंगमंचीय अभिनय में पात्रों द्वारा अभिव्यक्त किये हुए गीतनृत्यों के अलावा लगभग सभी रूप-विधान की कल्पना दर्शकों को स्वयं करनी पड़ती है। इन नाट्यों में नाट्यलेखक, गीतगायक और नर्तक का भाग सर्वोपरि रहता है, शेष रंगमंचीय परिस्थितियाँ, चरित्रानुकूल वेशभूषा, हावभाव, साज-सज्जा, रूपस्वरूप की समस्त कल्पना दर्शकों पर ही आधारित रहती है। अतः पात्रों के बुलन्द और सुरीले गले और उनके द्रुतगामी पदसंचालन ही से उनका मतलब रहता है, शेष सभी बातों की पूर्ति वे अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कर लेते हैं। शेखावाटी के चिड़ावा ख्यालों में ५० वर्षीय डढ़ियल दूलिया कुछ ही वर्ष पूर्व तक हीर-रांझा नाट्य के प्रदर्शन में सुन्दर हीर की भूमिका अदा करता था। उसकी अदायगी की समानता करनेवाला राजस्थान में आज तक भी कोई नहीं जन्मा है। राजस्थानी लोकनृत्यों में स्त्री की भूमिका अदा करने वाले पुरुष-पात्र बहुधा अपना मुँह घूँघट से ढककर ही रंगमंच पर उतरते हैं। इसलिए दाढ़ी मूँछ का प्रश्न तो आसानी से हल हो जाता है। राजस्थान में चूँकि आम-तौर से परदे की प्रथा है इसलिए घूँघट में रंगमंच पर उतरने वाले ये पात्र अस्वाभाविक नहीं लगते। हीर-रांझा के अभिनय में ५० वर्षीय दूलिया जब हीर बन कर रंगमंच पर उतरता था और अपनी अत्यंत मर्मस्पर्शी गायकी और नृत्य-गरिमा से दर्शकों पर छा जाता था तो दर्शक ५० वर्षीय डढ़ियल दूलिया की कल्पना नहीं करते। उनके कल्पनाजगत में अत्यंत कमनीय षोड़षी हीर की भव्य मूर्ति प्रत्यक्ष रहती थी।

भारतीय लोकनाट्यों में नारी का प्रवेश यदि कभी हुआ भी तो वह समस्त नाट्य-परम्परा को बदलकर ही होगा। लोकनाट्यों की प्राचीन पृष्ठभूमि तथा गौरवगरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए भारतीय नारी अभिनेता के रूप में लोकनाट्यों में कदाचित कभी भी प्रवेश नहीं पा सकेगी। यदि लोकनाट्य अपने

गेय गुणों को त्याग कर अभिनेय गुणों को अपनाले तो वह कभी भी लोकनाट्य नहीं रहेगा। दक्षिण भारत की कथकली नाट्यशैली, जो कभी अत्यंत प्रबल तथा सशक्त लोकशैली थी, आज अभिनेय गुणों के कारण अपना लोकपक्ष खो बैठी है और शास्त्रीय नाट्य में शुमार हुई है। जिन लोकनाट्यों में हस्त, ग्रीवा, कटि आदि मुद्राओं से गीत तथा वाचनविहीन भावाभिव्यक्ति की परम्परा प्रविष्ट हुई है, वे अब तीव्रगति से शास्त्रीय नाट्यों में रूपान्तरित हो रहे हैं, साथ ही स्त्रियों का प्रवेश भी उनमें अब वर्ज्य नहीं है।

लोकनाट्यों के दर्शक

मनोरंजनात्मक प्रदर्शनों को प्रायः सभी पसंद करते हैं तथा उनके लिए किसी विशेष प्रकार के दर्शकसमुदाय की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु लोकनाट्य ही ऐसा विशिष्ट मनोरंजन है जिसमें किसी विशेष प्रकार के दर्शक-समुदाय की आवश्यकता होती है। लोकनाट्यों के प्रदर्शक और दर्शक विशेष प्रकार के होते हैं। बचपन से ही उन्हें नाटक करने और देखने का शौक होता है। उनमें विशेष प्रकार के संस्कार पड़े हुए होते हैं। ये नाटक उनके जन्मभरण के साथी हैं तथा उनके साथ उनकी विशेष आत्मीयता है। दर्शकों की सदा ही यह आकांक्षा होती है कि उन्हें नाट्य-प्रदर्शन के समय कभी भी रंगमंच पर चढ़कर अभिनय करने का अवसर प्राप्त होगा। रंगमंच पर काम करनेवाले किसी थके हुए अभिनेता को विश्राम देने का कार्य दर्शकगण ही करते हैं। कोई भी उत्साही दर्शक इस महत्त्वपूर्ण काम को करने में अपना गौरव समझता है। जब वह रंगमंच पर चढ़ता है तो जनता तुमुल करतलध्वनि से उसका स्वागत करती है। उत्साह और सहानुभूति की इन घड़ियों में इस स्थानान्तरित अभि-नेता के कमजोर अभिनय में भी जनता एक उत्कृष्ट अभिनय की कल्पना कर लेती है। कलाकारों का यह आदान-प्रदान लोकनाट्यों की अत्यन्त स्वस्थ पर-म्परा है जो दर्शक-प्रदर्शक के बीच प्रगाढ़ आत्मीयता कायम रखती है। लोक-नाट्यों के दर्शक हॉकी या फुटबाल मैच के उन दर्शकों के समान हैं जो अपने दल को विजयी बनाने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणास्वरूप करतलध्वनियाँ करते रहते हैं और खेल की समाप्ति तक जिनकी नसें तनी रहती हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे वे स्वयं क्रीड़ांगण में खेल रहे हैं।

लोकनाट्यों के दर्शकों की ये मनोभावनाएँ बरसों में तैयार होती हैं। निरन्तर नाट्य देख-देख कर वे उनकी गहराई तक पहुँच जाते हैं और उनकी वृत्तियाँ उनके अनुकूल बन जाती हैं। कोई नव आगन्तुक इन लोकनाट्यों को

पसन्द नहीं कर सकता। बिना गहरी सहानुभूति और समझ के उसे ये नाट्य अत्यन्त प्राथमिक लगते हैं। यह भी मार्के की बात है कि इन नाटकों में बाल-दर्शकों की संख्या बहुत ही कम रहती है क्योंकि उनका मानसिक स्तर उन्हें समझने के लिए पर्याप्त नहीं होता और न उन नाट्यों की अत्यधिक लम्बाई के अन्दर से कोई सार निकालने की उनमें क्षमता रहती है। माता पिता स्वयं भी अपने बच्चों को इन नाट्यों से दूर रखते हैं।

इन नाट्यों के प्रति दर्शकों की रुचि इसलिए भी तीव्र बनी रहती है कि उनके आत्मीयजन, नाती, पोते, सगे, सम्बन्धी तथा मित्र उनमें काम करते हैं। उन्हीं के घरों की पोशाकों तथा जेवरों का उनमें प्रयोग होता है। उन्हीं के घरों की छतें, झरोखे तथा अट्टालिकाएं उन नाट्यों की विविध रंगस्थलियाँ बनती हैं। सामुदायिक नाट्यों में इस प्रकार उत्साह की पराकाष्ठा रहती है कि जनता बिन माँगे ही अपने घरों से श्रेष्ठतम पोशाकें लेकर नाट्यस्थल पर आती है। यदि कोई उनका आत्मीय कलाकार ठीक पोशाक पहिन कर काम नहीं कर रहा है तो चलते नाट्य ही में वे उसकी पोशाक बदल देते हैं। उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं और बंगाल की यात्राओं में तो धार्मिक पात्रों की समस्त पोशाकें दर्शकों द्वारा ही भेंट दी हुई होती हैं। चलते प्रदर्शन में अनेक दुपट्टे तथा अंग-परिधान सिरोपाव के रूप में भगवान् को समर्पित किये जाते हैं।

दर्शकों में सभी लोकनाट्य संस्कारवत् ही प्रविष्ट होते हैं। कोई नया नाट्य वे बर्दाश्त नहीं करते। जिस तरह जनता के जीवन में होली, दिवाली, दशहरा जैसे त्यौहार वृहद् अनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं और उनके साथ उनकी भावनाएँ जुड़ जाती हैं, उसी तरह ये लोकनाट्य भी उनके जीवन में महान् अनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं, चाहे वे व्यवसायिक नाट्य ही क्यों न हों। दर्शकों की सदा ही यह वृत्ति रहती है कि ये नाट्य गाँव की घनी बस्ती में ही हों और गाँव के बीचों बीच अनेकों घरों से आवृत्त चौराहों पर ही उनके मंच बनें ताकि उनके घरों के चबूतरे, झरोखे, आंगन तथा उनकी समस्त सामग्री नाटकों में काम आ सके और उनका घर ही उनका रंगस्थल बन सके।

जैसे किसी भोजन-व्यंजन के पीछे संस्कारवत् कोई विशेष स्वाद रहता है जो जन्म से ही जुबान पर चढ़ जाता है, उसी तरह का स्वाद दर्शकों में इन नाटकों के प्रति भी होता है। प्रत्येक क्षेत्र के नाट्य-स्वाद अलग-अलग होते हैं। वहाँ के वेश-विन्यास, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार तथा गीत-नृत्यों के आकार-प्रकार और धुनों में विशेषता रहती है। उनके प्रति

वहाँ की जनता का लगाव रहता है। वहाँ के लोकनाट्यों की पदावली में भी क्षेत्रीय विशेषताएं होती हैं, एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद होता है जो उसी क्षेत्र के लोगों को विशेष पसंद होता है। अतः दर्शकों की मनोवृत्ति भी उसी के अनुरूप बन जाती है।सामाजिक और सामुदायिक नाटकों को तो दर्शक हर माने में अपने अनुकूल बना लेते हैं परन्तु व्यावसायिक नाट्यमंडलियाँ भी इस बात को भली प्रकार जानती हैं। उनमें इतने सहजबुद्धि कलाकार होते हैं कि वे अपने नाटकों में क्षेत्रानुकूल ही वेशभूषाएँ पहिनते हैं और उन्हीं की धुनों में अपने गीत गाते हैं।

लोकनाट्यों के प्रदर्शनों की आगे की पंक्ति में बहुधा वे ही दर्शक बैठते हैं जिनको अभिनेता खूब जानते हैं। यह जान-पहिचान और मित्रता इन प्रदर्शनों को जानदार बनाती है। अभिनेता यदि दर्शकों से पूर्व परिचित न हों तो प्रदर्शनों में जो प्रेक्षक-अभिनयीकरण (Public Participation) का मज़ा रहता है उससे जनता वंचित रह जाती है। चलते प्रदर्शनों में प्रदर्शक दर्शकों को संबोधित करता है तथा उनकी तरफ केन्द्रित होकर अनेक वाद-संवाद करता है। दर्शक-प्रदर्शकों का यह पारस्परिक तारतम्य मूल नाटक को आघात पहुँचाये बिना ही अभिनय का जाल गूँथता रहता है। कभी-कभी इसी आत्मीयता के कारण अभिनेता एक पद का उच्चारण करता है और दर्शकगण मूल पदों में ही उनका जवाब देते हैं। इस तरह प्रश्न-उत्तर की झड़ियाँ लग जाती हैं तथा लोकनाट्यों का कलेवर भी बढ़ता जाता है। सामुदायिक नाटकों के अलावा नौटंकी, माच तथा राजस्थानी ख्यालों के व्यावसायिक स्वरूपों में यह परम्परा अत्यंत स्वस्थ रूप धारण कर चुकी है। नौटंकियों की गायकी तो इसी तरह रात-रात भर बढ़ती जाती है। अभिनेता जो पद नहीं गाते वे दर्शक गाकर सुना देते हैं और पद-पद पर उनके लोकप्रिय गीतों की पंक्तियों में अभिवृद्धि होती जाती है। राजस्थान तथा मालवा के तुर्रा कलंगी के खेलों की रचना तो प्रेक्षक-अभिनयीकरण की परम्परा से ही होती है। लोकनाट्यों की इस विशिष्ट रचना-विधि को समझे बिना तथा उन नाट्यों में दर्शकों का कितना शक्तिशाली योग है, इसको जाने बिना कोई भी आगन्तुक दर्शक इन नाट्यों का मज़ा नहीं ले सकता।

इन नाट्यों के वास्तविक दर्शक वे ही होते हैं जिनमें कई दिनों तक रात भर जागने और दिन भर काम करने की सामर्थ्य होती है तथा जिन्हें समस्त नाटक कंठस्थ याद रहते हैं। नाट्य की समाप्ति पर जब आरती फिरती है तो

वे रुपया, पैसा, सोनेचांदी की अंगूठियाँ थाली में रखने को तैयार रहते हैं। कई दर्शक इन नाटकों के इतने रसिक होते हैं कि नाट्यमंडलियों के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते ही रहते हैं। बंगाल की जात्राओं में आज से ५० वर्ष पूर्व अनेक भक्तजन धार्मिक अनुष्ठान के रूप में साथ-साथ चलते थे। जब इन जात्राओं का यह यात्राकृत्य रईसों और धनिकों द्वारा आश्रय पाकर केवल मात्र व्यवसायिक मंडलियों का रूप ही रह गया तो उसके साथ ही उसका धार्मिक स्वरूप भी नष्ट हो गया और दर्शकों का लगाव भी उनसे धीरे-धीरे कम होता गया। बाद में बंगाल में १८ वीं शताब्दी में ऐसी परम्परा चल पड़ी कि स्त्री-पात्रों का अभिनय भी स्त्रियाँ ही करने लगीं। शिक्षित और धनिक समाज को पुरुषों का स्त्री बनना रुचा नहीं इसलिये केवल मनोरंजनार्थ ही स्त्रियाँ जात्राओं में प्रविष्ट होने लगीं। इस प्रकार से जात्राओं का रहा-सहा धार्मिक स्वरूप भी खत्म हो गया और जात्राएँ केवल कुछ धनाढ्य लोगों के मनोरंजन का साधन बन गईं। प्रदर्शक और, दर्शकों के बीच जो पावन संबंध पहले विद्यमान था वह बिल्कुल ही नष्ट हो गया तथा अनेक भक्तजनों तथा दर्शकों की रुचि इनसे हट गई। जात्रा का एक स्वरूप कीर्तनिया है जो केवल भक्तजनों द्वारा ही प्रदर्शित होता है। इसमें भक्तदर्शक अपने को कीर्तनियों का एक अंग ही मानते हैं और प्रदर्शकों के साथ ही भावोद्रेक में गाते नाचते हैं; परन्तु १९ वीं शताब्दी में कीर्तनियों का स्वरूप भी व्यवसायिक हो गया और दर्शक स्वयं इस शैली से घृणा करने लगे।

उत्तर प्रदेश की अनुष्ठानिक रामलीलाओं में तो दर्शकगण परिस्थिति के अनुसार स्वयं ही नाट्य के अंग बन जाते हैं। सीता-स्वयंवर में दर्शक ही जनकपुरी के सभासद होते हैं। राम की बरात में समस्त दर्शक बराती बनकर जनकपुरी को प्रस्थान करते हैं। भगवान राम की वानरसेना में वे ही दर्शक बंदरों के चेहरे लगाकर लंकापुरी पर धावा बोलते हैं तथा लंका-विजय के उपरान्त भगवान को सीता लक्ष्मण सहित अयोध्या में लाते हैं। जिस नगरी में यह लीला रची जाती है उसके समस्त निवासी अयोध्यावासी बनकर अपने घरों में दीपक जलाकर भगवान का स्वागत करते हैं। काशी नरेश की रामलीला में दर्शक-प्रदर्शकों का विचित्र योग आज भी देखा जा सकता है। राजस्थान के तुर्रा कलंगी के खेलों में भी दर्शक नाटक में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। वृन्दावन की रासलीलाओं का दर्शक परम भक्त होता है। वह रास के राधाकृष्ण को भगवान का असली रूप समझता है। रास समाप्त होने के उपरान्त दैनिक जीवन में भी वह इन स्वरूपों की भक्तिपूर्वक आवभगत करता

है। मध्यप्रदेश के माच-दर्शक माच-प्रदर्शकों को अपना परम गुरु मानते हैं। दर्शक ही प्रदर्शक बन जाएँ, इसकी कल्पना माचों में नहीं की जा सकती। दर्शक माच-प्रदर्शकों का खूब सम्मान करता है परन्तु किसी भी परिस्थिति में वह उनके अतिशय कठिन और कष्टसाध्य काम को अदा नहीं कर सकता। अनेक दर्शक इन माच-प्रदर्शकों की अद्वितीय कला से प्रभावित होकर उनके इशारों पर चलते हैं परन्तु वे कभी भी माच-प्रदर्शक बनने के योग्य नहीं बनते। दक्षिण भारत के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शक सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ नहीं है क्योंकि वहाँ के लगभग सभी लोकनाट्य व्यवसायिक बन गये हैं।

आमतौर से सभी भारतीय लोकनाट्यों में दर्शकगण नाट्यावलोकन के लिये रंगस्थली पर जाते हैं; परन्तु भारत के बहुरूपी नाटक ही ऐसे हैं जो स्वयं दर्शकों के पास जाते हैं। दर्शकगण अपने-अपने घरों और दुकानों पर अपने काम में व्यस्त रहते हैं और ये बहुरूपी नाटककार स्वांग बनाकर घर-घर और दुकान-दुकान पर अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। ये लीलाएँ कई दिनों तक चलती रहती हैं और प्रत्येक दर्शक के सम्मुख एक ही दिन में बार-बार प्रदर्शित होती हैं। इस तरह अनेक लीलाएँ महीनों तक चलती हैं और उनकी समाप्ति पर अपने दर्शकों से ये पर्याप्त इनाम प्राप्त करती हैं। दर्शकों के इस विशृंखल समुदाय की विभिन्न रुचियों को ये बहुरूपिये खूब जानते हैं। अतः प्रत्येक दर्शक के सामने इनका एक ही अभिनय विविध रूप ग्रहण करता है। दर्शकों की इस विभिन्नता ने इन बहुरूपियों को अतिशय चतुर और गुणी बनाया है। अपनी आश्चर्यजनक कला के माध्यम से ये अपने दर्शकों पर अतिशय कटाक्ष करके भी लोकप्रियता अर्जित करते हैं।

महाराष्ट्र के परंपरागत तमाशे भी किसी समय दर्शकों के दरवाजों पर फिरा करते थे और एक ही रात में उनका मनोरंजन करके धन और कीर्ति दोनों ही प्राप्त करते थे। तमाशे के दर्शक अभी भी बड़ी रुचिपूर्वक इन तमाशों को देखते हैं और किसी भी शर्त पर उनके साथ स्वयं नाचने भी लगते हैं। उनका कोई विशेष स्वरूप नहीं होता। तमाशे का स्नेह जन्म से ही उनके साथ चलता है तथा तमाशों के साथ ही वे अपना स्थान भी बदलते रहते हैं।

लोकनाट्यों के दर्शकों पर किसी प्रकार का आरोपण कारगर नहीं होता। आधुनिक नाट्यों में टिकट लगाकर जो दर्शकों को प्रविष्ट करने की पद्धति है वह लोकनाट्यों में नहीं चल सकती। टिकट खरीद कर नाटक देखने जाना दर्शक अपना घोर अपमान समझता है, जैसे वह अपनी ही धरोहर को पैसा

खर्च करके पा रहा हो। वैसे अनौपचारिक रूप से दर्शक इन नाट्यों की तैयारी में सैकड़ों रुपया खर्च करते हैं परन्तु टिकट खरीदकर प्रदर्शन देखना इनको कभी नहीं रुचता। संसार में यही एक नाटक-प्रणाली है जो बिन पैसा खर्च किये देखी जा सकती है। नाट्य की अदायगी को दर्शक-प्रदर्शक कभी भी पैसों से नहीं आंकते। व्यवसायिक मंडलियां भी आर्थिक दृष्टि से अपने दर्शकों पर ही निर्भर रहती हैं; परन्तु दर्शक यह कभी नहीं चाहेंगे कि यह रकम उनसे भी टिकटों के रूप में वसूल की जावे। लोकनाट्यों के शौकीन दर्शक अपनी तरफ़ से अधिक से अधिक खर्च करके हज़ारों को निःशुल्क दिखाने में अपना गौरव समझते हैं। अतः लोकनाट्यों का वास्तविक दर्शक अपना हृदय देकर नाट्य देखता है, पैसा देकर नहीं। भारतवर्ष के जो नाट्य टिकटों से प्रदर्शित होते हैं वे लुप्तप्रायः ही हैं। बिना टिकट जहाँ नाट्य होते हैं वहाँ चाहे दर्शकगण अपनी तरफ़ से टिकटों पर एक भी पैसा खर्च न करते हों परन्तु फिर भी लोकनाट्यों की समाप्ति पर वे खाली जेब ही घर लौटते हैं। नाट्य स्वयं में इतने प्रसंग आते हैं जब दर्शकों की जेबों से अनजाने ही पैसा प्रदर्शकों की जेबों में जाने लगता है। भावोद्रेक की यह परम स्थिति बिरले ही भाग्यशालियों को प्राप्त होती है। इस तरह श्रद्धापूर्वक जमा किया हुआ धन नाट्य की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयुक्त होता है।

लोकनाट्यों की विशिष्ट संगीत तथा नृत्यपद्धति

साधारणतया दैनिक जीवन के प्रसंगों में गाये जाने वाले नृत्यगीत लोक-नाट्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीतनृत्यों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। इन गीतोंकी बन्दिशें तथा शब्दरचनाएँ एक दूसरे से बिल्कुल अलग होती हैं। दोनों के गायक-नर्तक भी अलग-अलग होते हैं। रंगमंच पर नाट्यप्रदर्शन के समय गानेवाला कलाकार साधारण जीवन में उसी गीत को फटे बाँस की तरह गाता है जब कि उसकी रंगमंचीय अदायगी अत्यंत मधुर ढंग से होती है। इसी तरह साधारण दैनिक जीवन में इधर-उधर धक्के खाने वाला दुर्बल कलाकार जब रंगमंच पर उतरता है तो शेर की तरह नाचने-गाने लगता है। इन कलाकारों का कहना है कि रंगमंच पर उतरते ही नाटक की सरस्वती इनकी जिह्वा पर बैठ जाती है। गीतों की रचना में भी संवादवहन की अद्वितीय शक्ति होती है। चूँकि हज़ारों दर्शक इन नाट्यों को देखते हैं और उनमें ध्वनिविस्तारक यंत्र का प्रयोग नहीं होता है इसलिये इन गीतों की स्वररचनाएँ अधिकांश तार सप्तक ही में घूमती रहती हैं। वे इस तरह निर्मित होती हैं कि उनमें स्वर-गुंफन कम

होता है तथा संवादवहन की शक्ति अधिक होती है। ये गीत इन लोकनाट्यों में प्रश्नोत्तर के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन गीतों में स्वर-ताल का जंजाल नहीं होता और ये सीधे दर्शकों के मन पर तीर की तरह चुभते हैं। ये गीत रंगमंच पर ही रुचते हैं और उनको यदि नाटक से असंबद्ध करके गाया जाय तो वे बहुत ही फीके लगते हैं। इन गीतों में भी विविध रसों के अनुसार बंदिशें होती हैं। क्रोधयुक्त एवं आवेशपूर्ण संवादों में इन गीतों की स्वररचनाएँ गेयप्रणाली को छोड़कर तालबद्ध गद्यप्रणाली में उतर आती हैं जिनमें ताल-स्वर अवश्य होते हैं परन्तु गाते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे केवल शब्दोच्चार हो रहा है। इसी प्रकार करुणापूर्ण प्रसंगों के गीतों की बंदिशें धीमी और वक्र चलने वाली झूमरा, तेवरा, दीपचन्दी जैसी तालों में ही बँधी रहती हैं। विलाप के गीतों में कोमल स्वरों की प्रधानता रहती है और बहुधा पीलू, सोहनी तथा कालींगड़ा रागों की छाया से वे आवृत रहते हैं। ये विशुद्ध लोकशैली में ही गाये जाते हैं परन्तु उनकी बंदिशों का प्रभाव जनता को रुला-रुला कर छोड़ देता है। उनकी लय इतनी मंदगति में होती है कि कभी-कभी नक्कारा, ढोलक और तबले की संगत बंद करनी पड़ती है। साधु-संतों के गीत भी इसी तरह शान्त रस संयुक्त होते हैं और इनकी बंदिशें भी मर्म को स्पर्श करती हैं। राग-रंग, हर्ष-उल्लास के क्षणों में ये गीत अपनी कलात्मक पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं। गीत-लय की मस्ती में स्वर-ताल की प्रतिस्पर्धा चलने लगती है और संवादों की लम्बाई भी बढ़ती जाती है। ये गीत दमतोड़ गीतों में शुमार होते हैं।

नाट्यगीतों के स्थायी अंतरे बहुधा एक दूसरे में निहित रहते हैं तथा स्पष्ट तौर से कभी भी बाहर नहीं आते। इनकी धुनें लयप्रधान होती हैं। गीत का प्रथम चरण समाप्त होते ही अभिनेताओं के पाँव थिरकने लगते हैं और वे अपनी पदचापों से अनंत बोलों की सृष्टि करते हैं। उस समय भावोद्रेक और उत्साह के वातावरण में लय-ताल संबंधी अनेक उत्कृष्ट कल्पनाएँ साकार होती हैं जिनका शास्त्रीय संगीत या नृत्य से कोई संबंध नहीं रहता। कभी-कभी ये कल्पनायें साजिन्दों तथा विशिष्ट कलाकार की प्रतिभा पर ही निर्भर नहीं रहतीं बल्कि समस्त नाट्यदल ही अपनी अद्वितीय कल्पनाओं में थिरक उठता है। राजस्थान के गवरी नाट्य में प्रत्येक प्रसंग के बाद समस्त कलाकारों की एक अद्वितीय गम्मत होती है जिसे समस्त नाटक की टेक या स्थायी समझनी चाहिये। इस टेक में सब कलाकार मांदल व थाली की झंकार पर अद्वितीय अंगभंगिमाओं की सृष्टि करते हैं। गवरी नाट्य की यह सामूहिक गम्मत समस्त नाटक की प्राण है तथा उसका विशेष स्वरूप निर्धारित करती है।

मध्यप्रदेश के माच तथा उत्तर प्रदेश की नौटंकियों में यह टेक अद्वितीय पद-संचालन तथा ढोलक-नगाड़ा-वादन में परिणत हो जाती है। टेक के समय नाट्य के मूलगीत या नृत्य कहीं धरे रह जाते हैं और कलाकार तथा वाद्यकार की सहज उपज ही सर्वोपरि रहती है। महाराष्ट्र के तमाशे में यह टेक तमाशे की नर्तकी को अपने कलाप्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता दे देती है और उसे अपने नृत्य-गीत-प्रदर्शन द्वारा पूर्व अभिनीत समस्त नाट्यप्रसंग को सार रूप प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। भवाई तथा राजस्थान की रासधारियों में यह टेक ढोलक की अद्वितीय ताल पर कलाकारों को समस्त प्रेक्षकस्थली में घूमकर नृत्य दिखलाते हुए पुनः मूल रंगस्थल पर आने को बाध्य करती है। कथकली और यक्षगान में यह टेक कलाकारों को धरती से गज-गज भर ऊपर उछलने और अपनी अंगभंगिमाओं तथा पदसंचालन के अद्वितीय प्रदर्शन का मौका देती है। उत्तर प्रदेश के रास में प्रत्येक प्रसंग की समाप्ति पर यह टेक गोप-गोपिकाओं के बीच कृष्ण को अनेक सामूहिक रास-महारासों में अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर देती है। उस समय गोप-गोपिकाओं के बीच कृष्ण अनेक कृष्ण बन जाते हैं। वे कभी गोपियों की बगल में नज़र आते हैं, कभी राधा के गले में लिपट जाते हैं तथा कभी घुटनों के बल समस्त रंगस्थली का चक्कर लगाते हैं।

गीतों की इस गेयपद्धति की दृष्टि से मध्यप्रदेश के माच और महाराष्ट्र के तमाशे सर्वोपरि हैं। माच और तमाशों में नृत्य से भी अधिक गीतों की प्रधानता है। अभिनय करते समय नृत्यकार गीत की एक अद्वितीय धुन उठाता है और टीप पर जाकर आलाप बाँधता है। ये आलापें बहुधा तीन-चार स्वरों में संचरित होती हैं और अंत में जाकर किसी एक स्वर पर टिक जाती हैं। मध्यप्रदेश के माचों में ये धुनें रंगतों का स्वरूप धारण करती हैं और 'दोकड़ी', 'इकहरी' और 'लंगड़ी' में इनका स्वरूप निखरता जाता है। इन टेकों के उपरान्त माचों में साधारण और सरल धुनों में संवादों की व्यवस्था होती है जिनकी रचना दोहापद्धति से होती है। प्रत्येक संवाद के बाद फिर टेकें दोहराई जाती हैं। महाराष्ट्र के तमाशों में, जब सुरतिये गा-गा कर दर्शकों का अभिवादन करते हैं, उसके बाद ही नर्तकी सोलह शृंगार में अपने नाट्य-अभिनेताओं के साथ प्रवेश करती है। बहुधा शृंगार में डूबी हुई लावणी की धुन में नर्तकी अपना चमत्कार बतलाती है और फिर नाटक के पात्र पवाड़ा छंद में संवाद कहते हैं और अंत में नर्तकी पुनः उनकी टेक पकड़कर समस्त नाट्याभिव्यक्ति को चार चाँद लगा देती है।

दक्षिण भारत के यक्षगान तथा कुचपुड़ी नाट्यों में भी प्रायः यही महाराष्ट्र की पद्धति अपनाई जाती है। उनमें एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक अभिनेता गीतों में पद गाता है और उनको अंगभंगिमाओं द्वारा अभिनीत करता है। गीत के प्रत्येक शब्द के अर्थ को वह अपने अंगों से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की यह सूक्ष्म पद्धति भारत के किसी लोकनाट्य में नहीं है। अर्थ निकालने की इस पद्धति में इन अभिनेताओं का अंग-प्रत्यंग काम आता है और अंगों की पूर्वनिश्चित मुद्राओं से वह अर्थ और भी अधिक सार्थक होजाता है। उत्तर भारत की अन्य सब नाट्यशैलियों में अंग-प्रत्यंगों द्वारा अर्थ निकालने की इतनी सूक्ष्म प्रणाली का प्रतिपादन कभी नहीं होता। उनमें संवाद-गीतों की समाप्ति पर नृत्य-गीतों की लयदारी में और उनकी पेचीदगियों में अभिनेता इतने उलझ जाते हैं कि कभी-कभी उनका अभिनयपक्ष दुर्बल हो जाता है। दक्षिण भारत के प्रायः सभी लोकनाट्यों में नाट्याभिनय तथा संवादात्मक गीतों की प्रधानता रहती है तथा नृत्य गौण होते हैं। उत्तर भारत की लगभग सभी नाट्यशैलियों में गीत और नाच नाट्य को दबा देते हैं और ऐसे अप्रासंगिक प्रसंगों को दर्शकों के मनोरंजनार्थ बीच में लाना पड़ता है कि समस्त नाट्य की आत्मा ही मरने लगती है।

हरियाना के स्वांगों में गीतों की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। उनमें हरियानी गीतों की गंगा बहती है तथा नृत्यों की न्यूनता रहती है। इन स्वांगों में अधिकांश प्रसंग प्रेमाख्यानों पर आधारित रहते हैं। अतः प्रेम-गीतों की रचनाएँ उनमें प्रमुख होती हैं। ये गीत बुलन्द आवाजों में गाये जाते हैं और अंत में लम्बी-लम्बी आलापें उनके साथ जुड़ जाती हैं। अभिनेता एक दूसरे के सामने दल बनाकर खड़े हो जाते हैं। संवादों में समस्त दल ही गा उठता है। उसमें मूलपात्र का पता लगाना बहुत मुश्किल हो जाता है। ये धुनें इतनी मार्मिक होती हैं कि दर्शक रात-रात भर उनको सुनकर मर्माहत हो उठते हैं।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के गीतों में एक विशेषता रहती है। ये लोकनाट्य तुलसीकृत रामायण और भागवत जैसे ग्रंथों पर आधारित रहते हैं। अतः इन नाट्यों के गीत अलग से नहीं रचे जाते हैं। इन ग्रंथों के प्रति जनता की इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि कोई अन्य गीतकार इन नाट्यों के लिये अलग से संवाद गीत लिखने की धृष्टता नहीं करता है। ये गीत नाट्यपद्धति के अनुकूल नहीं होते हुए भी इन्हें समाज ने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया है।

तुलसीकृत रामायण के दोहों तथा चौपाइयों की गायन-विधि नाट्योचित नहीं होने के कारण उनका अर्थ अभिनेताओं द्वारा गद्य में उलझाने की परम्परा डाली गई है जिससे इस समस्त नाट्य-प्रणाली में जान सी आ गई है। रामलीलाओं में कहीं भी संगीत और नृत्य की प्रधानता नहीं है। उनके रामायण-पाठी का रामायण पाठ ही सर्वोपरि है। रामजीवन संबंधी कथानक समस्त हिन्दू-समाज के लिये श्रद्धा का विषय होने के कारण यह लोकनाट्य नाट्य-गुणों के अभाव के बावजूद भी अत्यन्त लोकप्रिय बन गया है। इसकी लोकप्रियता में विशेष स्थलों का दृश्य-विधान, पात्रों की वेशभूषा तथा कथानक की विविधता ने चार चांद लगा दिये हैं। मथुरा शैली की रंगमंचीय रामलीला, जिसका प्रादुर्भाव पारसी नाटक की प्रेरणा से हुआ है, तुलसीकृत रामायण की गेय-प्रणाली के साथ अपनी स्वतंत्र गायन-विधि के कारण भी लोकप्रिय बन गई है। इसका मूलपाठ तुलसीकृत रामायण की चौपाई तथा दोहों के माध्यम से होता है परन्तु बीच-बीच में तुलसीकृत गीतावली के रागबद्ध गीतों की गायकी से इस प्रणाली में प्राणों का संचार हुआ है। धौलपुर, भरतपुर में पिछले पचास वर्षों में रामलीला की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास हुआ है, जिसमें तुलसीकृत रामायण की चौपाइयों को अक्षुण्ण रखते हुए बीच की कड़ियों को विशिष्ट गीतों से जोड़ा गया है। इन गीतों में लोकगायकी का एक बहुत ही स्वस्थ स्वरूप परिलक्षित होता है। इस विशिष्ट रामलीला का एक सार्वजनिक संगठन आज भी इन क्षेत्रों में विद्यमान है, जिसके पास पचास वर्ष पूर्व लिखित इस विशिष्ट रामलीला का स्क्रिप्ट (script) है। इस विशिष्ट प्रणाली पर निश्चित ही नौटंकियों और राजस्थानी ख्यालों की गायकी का प्रभाव स्पष्ट है। इस रामलीला में लावणी के प्रकार में कालिंगड़ा तथा भैरवी की धुनों की विशेषता है। नौटंकियों के बहरेतवील के ढंग के छंदबद्ध गीत भी इस रामलीला में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होते हैं। हाथरस निवासी श्री नत्थाराम के चौबोलों के ढंग के गीत भी इसमें प्रवेश कर गये हैं। राजस्थान के पूर्वी क्षेत्र की इस विशिष्ट रामलीला में निश्चित ही उत्तर प्रदेश की सभी रामलीलाओं की गायनपद्धति का समन्वय हुआ है। भरतपुर की स्थायी रामलीला समिति के भवन में आज भी दशहरे के एक माह पूर्व इस विशिष्ट गायकी में रामलीला के भावी पात्र प्रशिक्षित किये जाते हैं और रामलीला के विविध दृश्यस्थल नगर के चारों ओर निर्मित होते हैं।

ब्रज की रामलीलाएं भी प्रसिद्ध भक्तकवियों की रचनाओं पर आधारित रहती हैं। इन लीलाओं का प्रचलन अधिकांश मंदिरों तथा भक्तजनों के प्रांगण

में होने के कारण उनका लगाव पंडितप्रवरों, प्राचार्यों तथा शास्त्रज्ञों से बहुत रहा है। इसीलिये इन लीलाओं में शास्त्रीय ध्रुपदों, शास्त्रीय नृत्यों तथा शास्त्रोक्त कथानकों की त्रिवेणी बहती है। प्रसिद्ध भक्तकवि नन्ददास, ध्रुवदास तथा व्रजवासीदास की रचनाओं तथा गायकी का इन रासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन लीलाओं की ध्रुपद गायकी मुस्लिम घरानों की ध्रुपद गायकी से भिन्न है तथा उसके साथ जो रास बाँधे गये हैं, उनकी नृत्यमुद्राएँ कत्थकनृत्य से प्रभावित होते हुए भी प्राचीन नटवरी शैली का भान कराती हैं। जहाँ रामलीलाओं में नृत्यों का नितान्त अभाव रहा है वहाँ रासलीलाएँ नृत्यगीतों से भरपूर होती हैं। रामलीलाओं के चरित्रनायक भगवान् राम के गम्भीर तथा नीतिज्ञ जीवन के साथ नृत्य मेल नहीं खाते परन्तु भगवान् नटवर कृष्ण की जीवनलीलाएँ नृत्य-प्रधान होने के कारण ये रास भी नृत्यमय हो गये हैं। रासलीलाओं की नृत्यप्रणाली में जहाँ शास्त्रीय नृत्य की छाप है, वहाँ लोकशैली के डांडिया नृत्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन लीलाओं के संवादों के साथ जो गीत जुड़े हुए हैं उन पर शास्त्रीय संगीत का प्रचुर प्रभाव होने पर भी उनमें संवादों को परिपुष्ट करने की प्रबल शक्ति है।

रासलीला की एक पुष्ट परम्परा मणिपुर में भी विद्यमान है, जिसके समस्त गीतनृत्य लोकशैली से अनुप्राणित हैं। इसमें मणिपुरी गीतों के साथ मणिपुरी नृत्य की अनुपम छटा निखर आई है। व्रज की रासलीला और मणिपुर की रासलीलाओं में गीतनृत्य की दृष्टि से कोई साम्य नहीं है। व्रज की वर्तमान रासलीलाओं में सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों की कवित्तमय गायकी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। परन्तु इन गीतों की बंदिशों में कहीं भी अभिनयात्मक पक्ष नहीं है। ये गीत संगीतमंडली द्वारा अलग से गाये जाते हैं तथा अभिनेता उनके अर्थ उलथाता है। प्रत्येक प्रसंग की समाप्ति पर समस्त रासमंडली सामूहिक रूप से नाचती है। चरित्रनायक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं से सभी भक्तजन परिचित होते हैं अतः इन लीलाओं के लिये अन्य लोकनाट्यों की तरह प्रसंग से संवादात्मक गीतों की आवश्यकता नहीं होती है। जहाँ संवादों की आवश्यकता होती है वहाँ गद्य का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में होने लगा है।

बंगाल की यात्राओं में भी संवादात्मक गीतों का नितान्त अभाव होने के कारण अधिकांश जात्राएँ आधुनिक नाटकों की तरह गद्य-संवादों में अभिनीत होती हैं। जात्राओं का वह पुरातन, धार्मिक तथा गेय स्वरूप प्रायः लुप्त ही

हो गया है। अब ये ख्यालें अलग से लिखी जाने लगी हैं, जिनमें गेयपक्ष की प्रधानता रहती है तथा उनका गीतनृत्य-पक्ष नाट्य से बहुधा असंबद्ध सा रहता है। वह संवादों का भार वहन नहीं करता। वह केवल मनोरंजन के लिये ही प्रयुक्त होता है।

भारतवर्ष में गीतनृत्यों की अनुपम बहार जितनी राजस्थान के ख्यालों में परिलक्षित होती है उतनी किसी भी शैली में नहीं। राजस्थान के ख्याल नाट्यतत्त्वों से जितने दुर्बल होते हैं उतने ही गेयतत्त्वों से परिपुष्ट हैं। यही कारण है कि राजस्थानी ख्यालों में ख्यालियों का सर्वोपरि गुण गायन, वादन तथा नर्तन है। मध्यप्रदेश के माच भी लगभग-लगभग इसी श्रेणी में आते हैं परन्तु उनके नाट्यतत्त्व इतने खटकनेवाले नहीं हैं जितने राजस्थानी ख्यालों के। मीरा मंगल, ढोला-मरवण, मूमल-महेन्द्र तथा हीर-राँझा के ख्याल तो जैसे गाने के लिये ही रचे गये हैं। लच्छीरामकृत चंदमिलयागिरी तथा रिड़मल नामक ख्यालों में गेयधुनों की अद्वितीय छटा है। इन धुनों में चिड़ावा के नौटंकी-प्रभावित नानू दूलिया के ख्यालों की तरह छंदप्रधान रंगतों, चौबोलों, दुबोलों, लंगड़ी, इकहरी, दुहरी आदि की ओर विशेष आग्रह नहीं है। मेवाड़ प्रदेश की रासधारियों में भी, जिनमें भक्त हरिश्चंद्र, ध्रुव चरित्र, रुक्मणी-मंगल आदि ख्याल प्रमुख हैं, इन छंदों की कहीं प्रधानता नहीं है। अभिनेता स्वतंत्र रूप से पूर्वनिश्चित तथा परम्परागत धुनों में गाता है और साज उसकी संगत करते हैं। ये धुनें परम्परागत धुनें हैं जिनकी मर्यादा में इस शैलीविशेष के सभी नाट्य खेले जाते हैं। प्रत्येक शैली की धुनें प्रायः निश्चित सी होती हैं। केवल विषय और कथानक बदलते हैं। ये धुनें यद्यपि संवादवहन की दृष्टि से विशेष उपयुक्त नहीं होतीं फिर भी ये मर्मस्पर्शी होती हैं और गायकों को अपनी कल्पना के विस्तार में पूरी छूट देती हैं। इन धुनों का तालपक्ष मध्यप्रदेश के माचों, चिड़ावा के ख्यालों तथा उत्तर प्रदेश की नौटंकियों से कहीं सरल और सुगम होता है। इन ख्यालों का नृत्यपक्ष भी उक्त लोकनाट्यों से अपेक्षाकृत सरल और दुर्बल होता है। राजस्थान के तुर्राकलंगी के खेलों में तो नृत्यपक्ष प्रायः है ही नहीं। उनका गेयपक्ष भी बहुत ही दुर्बल है। सारा खेल प्रायः एक या दो धुनों में बँधा रहता है जिन्हें बार-बार सुनकर दर्शक ऊब से जाते हैं। यदि तुर्राकलंगी का साहित्यिक तथा दर्शनीय पक्ष प्रबल न हो और नाट्य के सामुदायिक गुण चरमसीमा तक न पहुँचे हों तो यह प्रकार नाट्य की दृष्टि से कमजोर सिद्ध होगा।

लोकनाट्यों में प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों का प्रतीकीकरण

लोकनाट्य प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों के प्रतीक होते हैं। सामाजिक चिन्तन, आचारविचार, रीतिनीति, निष्ठा तथा पारम्परिक विश्वास लोकनाट्यों में अत्यंत छद्म रूप में प्रकट होते हैं। नाट्य के कथानक, उनकी घटनाएँ, प्रसंग, पात्र आदि कितने ही प्राचीन क्यों न हों, जीवन-व्यवहार की दृष्टि से वे सोलह आना आधुनिक हैं क्योंकि वे किसी शास्त्र, विशिष्ट परम्परा तथा परिपाटी का अनुशीलन नहीं करते। अतः परम्परा-प्रतिपादन की उनसे आशा भी नहीं रखी जा सकती। उनके संवादगीत पुरातन होते हुए भी नवीन इसलिये हैं कि उनका प्रवाह गंगा की तरह पावन तथा निर्मल है। गंगा सहस्रों वर्षों से इस पावन धरती पर बह रही है परन्तु प्रतिपल उसमें नवीन जल का संचार हो रहा है। इसी तरह जो गीत-संवाद परम्परा से प्रचलित हैं उनमें प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है और चिरनवीन सामाजिक प्रतिभा का चमत्कार उन्हें चमत्कृत कर रहा है। पारम्परिक आदर्श, कथानक, विचारधारा तथा जीवन-व्यवहार का निभाव उनमें बिलकुल आवश्यक नहीं है। मौलिक आदर्श और मूलभूत व्यवहार की विशेषताओं का निभाव तो होता है परन्तु उनको आधुनिक जीवन में ढालने की प्रवृत्ति इन नाट्यों में बराबर बनी रहती है।

उदाहरणार्थ परम पावन भगवती सीता अपने पतिव्रत धर्म को निभाने के लिये भगवान् राम के साथ वनगमन करती है। उनके साथ कष्ट सहती है। अपने पति के साथ भारतीय आदर्शानुकूल बराबरी का दर्जा पाती है। उसके हरण पर भगवान् राम विरहव्यथा से व्यथित हो जाते हैं। राम अपनी पत्नी के आग्रह पर स्वर्णमृग का चर्म लेने के लिये शिकार को जाते हैं परन्तु लोकनाट्यों में वही सीता प्रचलित लोकाचार की दृष्टि से राम के चरण दबाती है, कुटिया में राम, लक्ष्मण के लिये भोजन बनाती है, जंगल से कंडे और लकड़ी बीन कर लाती है, कपड़े धोती है, बर्तन माँजती है और प्रतिपल पति से दबकर रहती है। राजस्थानी रासधारियों में सीता राम का घूँघट भी निकालती है, रावण द्वारा हरी जाकर जब वह अशोकवाटिका में निवास करती है तो पति की विरहवेदना से कहीं अधिक उसको यह डर है कि उसका पता लग जाने पर राम उसको अवश्य ही पीटेंगे। राजस्थान के इस विशिष्ट लोकनाट्य में रावण के प्रति राम का रुख भी वैसा ही दर्शाया गया है जैसा कि किसी गाँव के ग्रामीण व्यक्ति का अपनी स्त्री के चुराये जाने पर होता है। अपनी पत्नी

के हरण पर राम यही भावना व्यक्त करते हैं कि जिस तरह रावण ने मेरी स्त्री का हरण किया है, उसी तरह मैं भी रावण की स्त्री का हरण करूँगा।

धार्मिक भावनाओं और संस्कारों पर आधारित रामलीलाओं को छोड़कर लगभग सभी रामाधारित लोकनाट्यों में कथाप्रसंग का काफ़ी निभाव होते हुये भी चरित्रचित्रण में लोकाचार की दृष्टि से काफ़ी परिवर्तन दिखाया गया है। रामयुग के सभी पात्र इन लोकनाट्यों में पोशाकें भी वही पहिनते हैं जो आजकल गाँवों में पहनी जाती हैं। यदि वह राजस्थानी लोकनाट्य है और राजस्थानी मंडलियों द्वारा अभिनीत होता है तो सीता उसमें साड़ी, लँहगा पहिनेगी और घूँघट निकालेगी। राम, लक्ष्मण, रावण आदि पात्र राजस्थानी पगड़ियों, राजसी भग्गों, कमरबंदों, ढाल तलवारों, भालों और बरछियों का प्रयोग करेंगे। रावण जब सीता को हरने के लिये आयेगा तो उसकी वेशभूषा आधुनिक फकीर की सी होगी और प्रकट हो जाने पर वह आधुनिक प्रेमी की तरह व्यवहार करेगा। दशरथ महाराज की मृत्यु पर भरत सैकड़ों मन मालपुओं का मौसर (मृत्यु-भोज) करेंगे।

भीलों के गवरी नाट्य में भी माता गौरी शिवजी के घर में साधारण गृहिणी की तरह गोबर के कंडे बनाती हैं। शिव के अवतार बूढ़िया जब अपनी बहिन खेतुड़ी के घर जाते हैं तो वह मक्का की रोटी तथा लहसुन प्याज की चटनी खाते हैं। वृन्दावन की धार्मिक लीलाओं को छोड़कर सभी कृष्णाधारित लोकनाट्यों में कृष्ण गोपियों से उसी तरह छेड़छाड़ करते हैं जैसे आज के मनचले नौजवान रास्ते चलती हुई छोकरियों को छेड़ते हैं। इस तरह लोकनाट्यों के चरित्र, चाहे कितने ही पौराणिक और ऐतिहासिक क्यों न हों, क्षेत्रीय विशेषताएं लिये हुए होते हैं। जैसे राजस्थानी लोकनाट्यों का राम राजस्थानी वेशविन्यास में होता है और राजस्थानी भाषा बोलता है। पंजाबी राम पंजाबी लिबास में पंजाबी वीरों का सा व्यवहार करता है। यही नहीं वह अपनी स्थानीय समस्याओं को अपने व्यवहार तथा अभिनय में प्रयुक्त करता है। यदि किसी क्षेत्र में किन्हीं विशेष त्योहारों, पर्वों, समारोहों तथा धार्मिक विश्वासों का प्रचलन है तो वहाँ के नाटकों में वे सभी त्योहार, पर्व तथा विश्वास महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। यदि किसी क्षेत्र में किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रचलन है तो वही विचारधारा उस क्षेत्र के लोकनाट्यों की विचारधारा बन जाती है। यदि किसी क्षेत्र में भैरव का महत्त्व है तो वहाँ की रामलीलाओं में स्वयं राम भी भैरव की पूजा करने लगते हैं। यदि किसी क्षेत्र

में हरिजनों और शूद्रों के प्रति छुआछूत का प्रचलन है तो वहां के नाटकों के सभी चरित्र उसी प्रकार का व्यवहार पाते हैं। वहां के रामाश्रित नाटकों में भगवान् राम शबरी भीलन के जूठे बेर नहीं खाते, निषाद की नौका में बैठकर गंगा पार नहीं करते। पांच पति वाली द्रौपदी, जो महाभारतकालीन सामाजिक आदर्शों के अनुसार पूजनीय नारी समझी जाती है, लोकनाट्यों में कुत्सित नारी की तरह चित्रित होती है।

लोकनाट्यों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों के महान् आध्यात्मिक आदर्श अधिक चमत्कृत नहीं होते। उनके जीवन के वे व्यवहार, जो प्रचलित जनसमुदाय की परम्पराओं और भावनाओं को अधिक स्पर्श करते हैं, प्रधानता पाते हैं। राजस्थानी ख्यालों के राजा केसरीसिंह और अमरसिंह के वीरता के चमत्कार समाज को जितने स्पर्श नहीं करते उतने उनके प्रेमाचार स्पर्श करते हैं। पारम्परिक धार्मिक रामलीलाओं को छोड़कर सभी रामाश्रित लोकनाट्यों में राम की पितृभक्ति, लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम, सीता का पातिव्रत्य धर्म तथा उनके उच्च मानवीय आदर्शों का जितना चित्रण हुआ है, उनसे कहीं अधिक चित्रण उनकी दैनिक जीवनचर्याओं का हुआ है। जैसे राम क्या खाते हैं? क्या पहिनते हैं? सीता अयोध्या में सास-ससुर के प्रति कैसा व्यवहार करती है? अशोकवाटिका में किस तरह अपना खाना बनाती है? सीता स्वयम्वर में राम अन्य राजाओं के साथ कैसे प्रतिस्पर्धा में उलझते हैं? सीता के विरह में किस तरह छटपटाते हैं तथा वनगमन की आज्ञा पाकर किस तरह दुःखी होते हैं? लोकनाट्यों का राम जब लंका विजय के उपरान्त घर लौटता है तो सर्वप्रथम वह अपना राज्य संभालता है कि कहीं भरत ने कुछ चतुराई तो नहीं की।

इस तरह ऐतिहासिक पात्रों की बड़ी-बड़ी वीरगाथायें तथा त्याग, बलिदान के कारनामे लोकनाट्यों में विशेष महत्त्व नहीं रखते। उन ऐतिहासिक पात्रों के वे जीवन-व्यवहार, जो गार्हस्थ्य जीवन से संबंधित हों या जो प्रचलित दैनिक जीवन-व्यवहार के अनुकूल हों, लोकनाट्यों के आकर्षण बनते हैं। ऐसे ऐतिहासिक पुरुष अपने उच्च जीवनादर्शों से महान् नहीं बनते। यदि उनमें से किसी ने बिच्छू या सांप के काटे हुये को जीवित कर दिया तो वही लोकनाट्यों में देवता की पदवी पाता है। देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने वाला महापुरुष लोकनाट्यों में जितनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं करता उतनी गांव की गायों को कसाइयों से बचाने वाला प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। देश, समाज तथा समस्त जाति को सांसारिक और सामाजिक बंधनों से मुक्त

करने वाला संत लोकनाट्यों में जितना महत्त्व नहीं पाता, उतना गाँव के बच्चों को जादू-टोनों से स्वस्थ करने वाला साधु पा लेता है। देश की महान् आत्माओं के चरित्र यदि लोकनाट्यों में विषय बनते भी हैं तो उनके उच्च चारित्रिक गुण उनके आकर्षण नहीं बनते। उनके व्यावहारिक जीवन के चमत्कारपक्ष ही लोकनाट्यों में स्थान पाते हैं। मीरा-जीवन संबंधी 'मीरामंगल' नामक राजस्थानी ख्याल में मीरा की भक्ति, उनके आध्यात्म तथा उनके त्याग को कहीं महत्त्व नहीं दिया गया है। उसमें केवल मीरा के शृंगार, विवाह तथा उसके लोकाचारों पर ही विशेष बल दिया गया है। 'मीरामंगल' की मीरा अंत में मेवाड़ के महाराणा के साथ अपना विवाह स्वीकार भी कर लेती है। उनके साथ गार्हस्थ्य जीवन भी व्यतीत करती है। उनकी कृष्णभक्ति अपने पति की मृत्यु के उपरान्त वैधव्य की पीड़ाओं को कम करने के निमित्त ही उपजी है।

लोकनाट्यों के नाट्यतत्त्व

ईसा पूर्व ३०० वर्ष के भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि नाट्य की परम्परा इस देश में सहस्रों वर्ष पूर्व थी। यह नाट्यशास्त्र लगभग आठ अन्य शास्त्रों की रचना के उपरान्त लिखा गया अत्यंत परिपक्व शास्त्र है। किसी भी साहित्य तथा कलाप्रसंग का शास्त्र तभी लिखा जाता है, जब उसका विकास चरमसीमा तक पहुँच चुका हो तथा अनेक प्रचलित वाद-विवादों के कारण उसे दिशा-निर्देश की आवश्यकता हो। आचार्यगण ऐसी ही अवस्था में शास्त्र की कल्पना करते हैं और नाट्यों को अनेक नियमों में बाँधकर उनका सीमा-निर्धारण तथा प्रचलित विवादों का शास्त्र द्वारा निराकरण करते हैं। भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र के उपरान्त अनेक नाट्यशास्त्र दसवीं शताब्दी तक हमारे देश में लिखे गये, जिनमें धनंजय द्वारा लिखित दशरूपक सर्वोपरि है। उन्होंने नाट्यशास्त्र को अनेक अंग-प्रत्यंगों में विभाजित करके उसको एक पूरी व्याकरण ही बना डाली। इन शास्त्रों के आधार पर लिखे और खेले गये नाटक लगभग ११ वीं शताब्दी तक हमारे देश में प्रचलित थे जिनमें कालिदास का मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, हर्ष लिखित रत्नावली, शूद्रक का मृच्छकटिक, भवभूति का महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव, भट्टनारायण का वेणीसंहार और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस प्रसिद्ध हैं। यह क्रम सातवीं शताब्दी तक लिखे हुए उन नाटकों का है, जो कला और साहित्य की समस्त सामग्री से सम्पन्न हैं तथा जिनमें नाट्य के समस्त शास्त्रोक्त तत्त्वों का पूर्णरूप से अनुशीलन हुआ है। नवीं

शताब्दी में भी राजशेखर द्वारा लिखित कर्पूरमंजरी तथा बाल रामायण नामक नाटकों की रचना हुई। ११ वीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने प्रबोध चन्द्रोदय जैसे नाटकों की रचना की। यह समय शास्त्रीय नाटकों के पतन का समय माना गया है और अनेक साहित्यिक मीमांसकों ने यह लिखा है कि ११ वीं शताब्दी के बाद लिखे गये नाटक हीन और हेय नाटक हैं। यदि इन सभी शास्त्रकारों की बात हम सत्य मान लें तो ग्यारहवीं शताब्दी के बाद लगभग ३०० वर्ष तक भारत में नाटक का विकास अवरुद्ध हो गया। शास्त्रकारों ने इस ह्रास का कारण राजनीतिक और सामाजिक उथलपुथल बतलाया है। परन्तु सच बात यह है कि शास्त्रकारों ने न केवल नाटकों को बल्कि साहित्य के लगभग सभी अंगों को शास्त्र से ऐसा जकड़ लिया था कि लेखकों तथा रचनाकारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति और रचनाविधि को सर्वाधिक ठेस पहुँची। लोकनाट्यों की अति प्रचलित तथा अत्यंत लोकप्रिय शैली को भी शास्त्रों में बाँधने की कोशिश हुई परन्तु वह कभी भी उनकी पकड़ में नहीं आई।

भारतीय नाट्य-परम्परा के साथ ही यूनान में भी नाट्य की एक बहुत ही स्वस्थ परम्परा प्रचलित थी। परन्तु यूनानी नाटक के इतिहास के अनुसार वह कभी भी किसी शास्त्र में नहीं बँधी। नाट्य की कुछ स्वस्थ परम्पराएँ अवश्य विकसित हुईं जिनको आधार मानकर यूनानी नाटक सैकड़ों वर्षों तक कायम रहा और विकास की चरमसीमा तक पहुँचा। उसके बाद रोम, इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में भी नाटक की अनेक स्वस्थ परम्पराएँ विकसित हुईं। पंद्रहवीं शताब्दी में महारानी एलिजाबेथ का समय इंग्लिश नाटकों का उत्कर्षकाल समझा जाता है जिनमें शेक्सपीयर जैसे नाटककार सर्वोपरि माने गये हैं। उनके सभी नाट्यों में नाटककार ने अपनी स्वतंत्र नाट्यप्रतिभा का परिचय दिया। कहीं भी और किसी भी देश में शास्त्रकारों ने उन्हें शास्त्रीय नियमों में नहीं बाँधा। भारत में भी सैकड़ों वर्षों से जो नाट्य की स्वस्थ परम्परा बन रही थी उसी को कायम रहने दिया जाता तो भारतीय नाट्य का दसवीं शताब्दी तक ह्रास नहीं होता। भारतीय नाट्य की वही दशा हुई जैसी कि भारतीय भाषाओं की हुई। प्रचलित लोकभाषाओं को शास्त्रकारों और आचार्यों ने व्याकरण आदि शास्त्रों से ऐसा जकड़ा कि लोकभाषा और पंडितों की भाषा अलग-अलग होती गई।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में अनेक प्राचीन सूत्र हैं जिनके भाष्य आदि भी हैं। इससे स्पष्ट है कि उससे पूर्व भी अनेक प्राचीन सूत्रों पर भाष्य, कारिकाएँ

आदि लिखी जा चुकी थीं। इसका यह अर्थ है कि नाट्य को ईसा पूर्व कितने ही शास्त्रकारों ने शास्त्रोक्त नियमों से बाँधना प्रारम्भ कर दिया था और नाट्य की व्युत्पत्ति के बाद उसे कितने ही उतारचढ़ाव देखने पड़े। कठपुतली के सूत्रधार आदि की कल्पना को मानवीय नाट्य में प्रयुक्त करने की जो परम्परा है उस पर तथा नाट्य के विकासक्रम पर पूर्व परिच्छेदों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। नाट्य का सूत्रपात तो वैदिककाल ही में हो गया था क्योंकि अनेक नाटकीय संवाद वेदों में मिलते हैं। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी नाट्य के अनेक रूप विद्यमान हैं। उसके बाद के हरिवंशपुराण में कौबेररंभाभिसार नाट्य का उल्लेख है। उसमें अतिशय उन्नत नाटक के तत्त्व मिलते हैं तथा उसके अभिनय में उच्चकोटि की रंगशाला का प्रयोग हुआ है जिसमें आकाशमार्ग में जाते हुये रथ तथा कैलाश आदि पर्वतों के दृश्य अत्यंत सफलतापूर्वक दिखलाये गये हैं। जैन ग्रन्थों में भी अनेक नाटकों का उल्लेख है। महावीर स्वामी के २०० वर्ष बाद हमारे देश में नट-नटियों के नाटकों की भरमार थी। ये नाटक इतने प्रचलित हो चुके थे तथा नट-नटी की इतनी कलाबाजियाँ इनमें दिखलाई गई थीं कि साधु-संतों को उन्हें देखने का निषेध किया गया था। नाट्यों के ये सभी प्रकार लोकनाट्यों के ही उन्नत रूप थे। परन्तु हमारे शास्त्रकारों ने केवल उन्हीं नाटकों को नाटक समझा जो राजप्रासादों तथा विशिष्टजनों के यहाँ आश्रय पाते थे। वे लोकनाट्य जो सड़कों, खेत-खलिहानों, मैदानों, चौराहों तथा गाँव-गाँव, नगर-नगर, डगर-डगर पर होते थे उनको ऐसा जान पड़ता है इन शास्त्रकारों ने कहीं मान्यता नहीं दी। उन्होंने अपने सूत्रों में जो नाटक के अंग-प्रत्यंग, उपांग आदि बताये हैं वे सभी इन प्रचलित लोकनाट्यों की कल्पना से ही ग्रहण किये गये हैं।

उन्होंने जो नाट्य के तत्त्व बतलाये हैं वे इतने एकांगी हैं कि लोकनाट्य उनकी परिधि में आते ही नहीं हैं। इन शास्त्रोक्त तत्त्वों को देखते हुए ये लोकनाट्य उनके केवल कटे हुए अंग मात्र से प्रतीत होते हैं। इन्हीं अंग-प्रत्यंगों को लोकनाट्यकारों ने जनरुचि के आधार पर परिष्कृत एवं विकसित किया है। लोकनाट्यों में नाट्य के सभी अंगों का विशेषीकरण बिल्कुल आवश्यक नहीं है। कथानक के आधार पर जिस अंग के विकास की आवश्यकता होती है उसी का विस्तार किया जाता है। सभी अंगों के निरूपण में लोकनाट्यकार अपनी शक्ति नहीं लगाता तथा अपनी स्वतंत्र कल्पना को नियमों में बाँधकर अवरुद्ध नहीं करता।

प्राचीन शास्त्रों में नाटक के विविध प्रकारों का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ उन्हीं नाटकों को विशुद्ध तथा संपूर्ण नाटक माना है जिनकी कथा इतिहासप्रसिद्ध हो तथा जिनके नायक, उपनायक तथा अन्य पात्र उच्चकुल, उच्चजाति तथा उच्चघराने के हों। जिस नाट्य की कथा निम्नवर्ग से संबंधित हो, उसे शास्त्रकारों ने उपरूपक माना है और उसके अंतर्गत उन्हें प्रेक्षण, संलापक, शिल्पक, हल्लीश, भाणिका आदि से संबंधित किया है। नाट्याचार्यों ने उपरूपक के भी अनेक अंग-प्रत्यंग दर्शाये हैं तथा नायक-नायिकाओं के भी अनेक भेद उपभेद बतलाये हैं। नायिकाओं की विविध प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई हैं, जिनमें कैशिकी जिसके चार भेद नर्म, शृंगार नर्म, आत्मोपक्षेप नर्म, भारती, सात्वत और आरभटी आदि प्रमुख हैं। कथाप्रसंगों के संबंध में भी नाट्याचार्यों ने बाल की खाल खींची है। वस्तु के भी अधिकाधिक प्रासंगिक शीर्षभेद बतलाकर, भेद-उपभेद किये हैं। इन्हीं कथावस्तुओं के प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर होनेवाले अंशों को अर्थप्रकृति बतलाया है तथा इन्हीं अर्थप्रकृतियों को बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य आदि उपांगों में बाँटकर नाट्यलेखकों के सामने विचित्र प्रकार का गोरखधंधा प्रस्तुत किया है।

नाट्यशास्त्र के इन सभी तत्त्वों के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि नाट्याचार्यों ने केवल शास्त्र लिखने के लिये ही शास्त्र लिखे हैं। इन शास्त्रों का अनुशीलन करके किसी भी आधुनिक नाट्यकार ने नाटक नहीं लिखा है। यदि इन्हीं नाट्यतत्त्वों को अंतिम मान लिया जाय तो एक भी नाटक नहीं लिखा जा सकेगा। हर्ष, भास, भवभूति आदि नाट्यकारों ने जो सफलता प्राप्त की है वह शास्त्र के अनुशीलन के कारण नहीं, वह उनकी प्रतिभा के कारण ही है। शास्त्रों में वर्णित बातें नाट्यरचनाओं को और भी अधिक कुंठित बना देती हैं तथा उन्हें गोरखधंधे में उलझा देती हैं। यही कारण है कि चार-पाँच हजार वर्ष की इस स्वस्थ नाट्यपरम्परा के बावजूद भी कुछ ही इनेगिने शास्त्रोक्त नाटकों की रचना हुई है। यदि शास्त्रों की जटिलता से उन्हें नहीं जकड़ा जाता तो आज हमारे इतने बड़े देश में हजारों शास्त्रीय नाटक आँखों के सामने होते, परन्तु वे लोकनाट्य, जिन्होंने शास्त्रों की परम्परा को नहीं माना, आज भी हमारे देश में कई रूपों में विद्यमान हैं।

ये असंख्य लोकनाट्य लोकजीवन में ऐसे व्याप्त हुए हैं कि इन शास्त्रीय नाटकों की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ऐसे नाट्यों के लिये नाट्यशास्त्रों में वर्णित प्रेक्षालयों की आवश्यकता नहीं होती। न उनमें

कथानक, कथोपकथन, पात्र, नायक, नायिका तथा उनके भेद, उपभेद तथा पात्रों में रसनिष्पत्ति के लिये शास्त्रोक्त नियमों का अनुशीलन ही आवश्यक है। इन लोकनाट्यों की सबसे बड़ी बात यही है कि उनमें भाषा, प्रान्त, जाति, परिवार, शिक्षित, मूर्ख, अशिक्षित, पंडित का भेद कतई त्याग दिया गया है। प्रसंग, कथानक, नायक, कथोपकथन, पात्र, चरित्र आदि के चुनाव में उन्होंने सबसे अधिक ध्यान जनरुचि का रखा है, जाति तथा वर्ग-भेद का नहीं। ऐसे नाट्यों के कथानकों के लिये शास्त्र तथा इतिहास की कहीं शरण नहीं लेनी पड़ती। लोकजीवन में जो सर्वाधिक कथा प्रचलित होती है उसीको नाट्यप्रणेता अपना विषय बना डालते हैं। ये प्रसंग अत्यंत संक्षिप्त, पात्र अत्यंत न्यून तथा कथोपकथन अत्यंत सरल और सर्वगम्य होते हैं, इसलिये कुछ लोग भाण, प्रहसन, श्रीगदित, विलासिका आदि शास्त्रोक्त नाटकों के उपभेदों के साथ उनका तालमेल बिठाने की कोशिश करते हैं तथा उन्हें लोकनाट्यों के अनुरूप ही मानकर उन्हें शास्त्र के दायरे में घसीटते हैं। तथ्य यह है कि ये नाट्य स्वतंत्र रूप से ही अनादिकाल से समाज में व्याप्त हैं। समय, स्थिति तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार इनकी रचना होती रहती है। इनकी लोकरंजकता, इनका विस्तृत प्रचारक्षेत्र तथा निम्न समाज में इनका प्रचलन देखकर ही हमारे नाट्याचार्यों ने उच्चवर्गीय समाज के लिये नाट्यशास्त्र बनाये तथा नाट्य की दिशा बदलने की कोशिश की। परन्तु उनसे लोकनाट्य की यह स्वस्थ परम्परा कभी भी विचलित नहीं हुई और वह आगे से आगे कदम बढ़ाती ही रही।

अब प्रश्न यह है कि इन लोकनाट्यों के नाट्यांग पूरी तरह विकसित नहीं होते हुए क्या वे नाट्य की श्रेणी में आते हैं ? अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं जिनमें कथावस्तु का कोई महत्त्व नहीं है, कुछ में कई कथावस्तुएँ मिलकर नाट्य को परिपुष्ट करती हैं। कहीं-कहीं नाट्य का क्रमिक विकास भी नहीं होता और बीच ही में समस्त प्रसंग टूट जाता है। कहीं-कहीं प्रासंगिक वस्तु मुख्य वस्तु को गिराकर प्रधानता प्राप्त करती है। कुछ में नाट्य का नायक गुणहीन, नीच तथा दुश्चरित्र है; इनकी नायिकाओं में भी शास्त्रोक्त नायिकाभेद की दृष्टि से अनेक विरोधी तत्त्वों का समावेश होता है। अनेक लोकनाट्यों में विरोधी रसों का प्रयोग हुआ है जो रसाभास की अपेक्षा उनमें शक्ति का संचार करते हैं। नाट्यव्यवहार की दृष्टि से भी ये लोकनाट्य रंगमंच की सभी परम्पराओं को छोड़कर व्यवहृत होते हैं। उनमें आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन चारों प्रकार के अभिनयों की पूर्ण अवहेलना पाई जाती है।

इन सब शास्त्रोक्त नाट्यतत्त्वों का पूर्ण अभाव इन लोकनाट्यों में रहते हुए भी वे प्रभावोत्पादकता, लोकानुरंजन तथा रसानुभूति की दृष्टि से अत्यंत सफल नाटक हैं। एक विचित्र बात इनमें यह है कि वे पात्रों को उपयुक्त पोशाकों की अपेक्षा विपरीत पोशाकें पहिनाकर भी दर्शकों को मौलिक पात्रों का अनुभव करा देते हैं। वाचिक अभिनय में भी गीत-नृत्यसंवादों को अनावश्यक ढंग से लम्बा बढ़ाकर भी ये पात्र अपना अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट कर देते हैं। आंगिक अभिनय में भी ये पात्र शास्त्रोक्त नियमों का पालन नहीं करते। जहाँ अनुकरण के लिये विशिष्ट अंगमुद्राओं की आवश्यकता होती है वहाँ विपरीत मुद्राओं का प्रयोग करके भी वांछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सात्त्विकी अभिनय में तो पद-पद पर अनियमितता बरती जाती है क्योंकि जहाँ रोना होता है वहाँ पात्र गाकर रोता है और जहाँ हँसना होता है वहाँ वह रो कर हँसता है। भयंकर क्रोध, घृणा तथा रौद्र के भाव भी वे गा-बजाकर प्रकट करते हैं।

इन लोकनाट्यों के वस्तुविन्यास में भी अनेक असाधारण बातें रहती हैं। कभी-कभी समस्त नाटक जुलूस ही के रूप में पूरा हो जाता है। कथाप्रसंग उसमें नहीं के बराबर होता है। उसके संवाद भी प्रायः मूक ही होते हैं। कथावस्तु को मोटे-मोटे तौर पर संगीतवाचन के रूप में व्यक्त कर दिया जाता है। ऐसे नाट्यों की कथावस्तु प्रायः लोकविदित होती है। अतः नाट्यकार उसकी पेचीदगियों में फँसकर व्यर्थ जनता का समय नष्ट नहीं करता। वह इन लोकविदित कथावस्तुओं की पृष्ठभूमि पर नाट्य के मोटे-मोटे तत्त्वों को प्रकट करके समस्त नाट्य का वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होता है। अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं, जिनके पात्र नाट्य की कथावस्तु द्वारा दर्शकों को मंत्रमुग्ध करते रहते हैं। ऐसे नाट्यों के पात्र नाट्यप्रसंग में अवतरित होते हैं, रंगमंच पर आते हैं, अपना करतब दिखलाते हैं और अपना चारित्रिक तथा प्रासंगिक उत्कर्ष बतलाये बिना ही कहीं विलीन हो जाते हैं, फिर कभी प्रकट नहीं होते।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अव्यवस्थित तथा नाट्यतत्त्वों से हीन नाट्यों को नाट्य कैसे मान लिया जाय? शास्त्रीय नाट्यतत्त्वों की दृष्टि से भी वे नाट्य की परिभाषा में नहीं आते। फिर भी जनता को उसमें सम्पूर्ण नाटक का आनन्द मिल जाता है तथा उनसे कथावस्तु, कथोपकथन, पात्रों के चरित्र, उनके उत्कर्ष तथा अभिनयजनित रसों की पूर्ण रसानुभूति हो जाती है।

लोकनाट्यों की कथावस्तु

लोकनाट्य ऐसे ही प्रसंगों पर अवलम्बित रहते हैं जिनसे जनता पहले से ही परिचित रहती है। किसी व्यक्तिविशेष के मन में उपजे हुये काल्पनिक प्रसंग का उपयोग लोकनाट्यों में सर्वथा वर्जित है। ये प्रसंग किसी भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा किंवदंतियों पर आधारित शृंगारिक आधारशिला पर रचे जाते हैं जो दर्शकों के जीवन में संस्कारवत् जुड़ी रहती हैं और जिनके पात्र सर्वदा ही किसी न किसी रूप में उनके प्रेरणा-स्रोत होते हैं। उनमें ऐसे अमर प्रेमियों के कथानक भी सम्मिलित हैं जो युवक-हृदय को आह्लादित करते रहते हैं और कभी-कभी उनमें अवांछित प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं, जैसे राजस्थान के लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद, हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल, ढोला-मरवण, मूमल-महेन्द्र आदि-आदि। धार्मिक प्रसंगों में उच्च शास्त्रीय प्रसंग लोकनाट्यों की कथावस्तु नहीं बनते। उनमें भी ऐसे ही प्रसंग स्थान पाते हैं, जिनके साथ साधारण जन अपने पारिवारिक सुख-दुःखों की उपलब्धि में आधारशिला के रूप में जुड़े होते हैं, जैसे राजस्थान के तेजाजी, गोगाजी, पाबूजी, भैरूंजी, रामदेवजी आदि।

उच्चकोटि के भारीभरकम कथाप्रसंग तथा दर्शनशास्त्र, वेदपुराण, महाभारत, रामायण, भागवत आदि की उच्चादर्श निरूपित करने वाली कथावस्तु से ये नाट्य सदा ही दूर रहते हैं। नाट्य जैसी हलकी-फुलकी, लोकानुरंजनकारी सुखद परंपरा को गंभीर तत्त्वों से बोझिल बनाना उचित नहीं समझा जाता। महाभारत तथा रामायण जैसे लोकप्रिय ग्रंथों के भी ऐसे ही प्रसंग इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त होते हैं जिनमें लोकरुचि तथा लोकादर्श निहित रहते हैं तथा जिनके साथ लोकजीवन की दैनिक तथा लौकिक क्रियाएँ जुड़ी रहती हैं, जैसे राजस्थान के द्रौपदीस्वयंवर, रुक्मणीमंगल, बिल्वमंगल, नलदमयन्ती, भर्तृहरि, सावित्रीसत्यवान, ध्रुवचरित्र, भक्त प्रह्लाद आदि-आदि। इन प्रसंगों में भी उन्हीं अंशों पर जोर रहता है जिनका जनता के पारिवारिक जीवन से लगाव हो। उनके सभी आध्यात्मिक तत्त्व निकाल दिये जाते हैं और वे ही तत्त्व प्रयुक्त होते हैं जिनका संबंध उनके वर्तमान जीवन से हो। उनके सभी अलौकिक पात्र इन नाट्यरचनाओं में लौकिक पात्र की तरह ही अवतरित होते हैं। लोकनाट्य-रचयिता यह प्रबल आधार लेकर चलता है कि ये कथाप्रसंग जनजीवन में पूर्णतः व्याप्त हैं और उनका सांगोपांग प्रयोग, उनकी रचना में आवश्यक नहीं है, उनकी तरफ केवल इशारा ही काफी है।

शास्त्रीय नाट्यों की तरह आधिकारिक और प्रासंगिक कथानक का विचार इन लोकनाट्यों में बिल्कुल नहीं रहता। वास्तव में कथानक का इतना जंजाल लोकनाट्यों की प्रकृति के विरुद्ध भी है। कभी-कभी तो अनेक प्रासंगिक कथाओं में से एक ही कथाप्रसंग शास्त्रीय नाट्यों के छोटे-छोटे वृत्त तथा प्रकरी के रूप में समस्त नाट्य की कथावस्तु बन जाता है। आधिकारिक कथावस्तु को तो कभी-कभी ये लोकनाट्य छूते भी नहीं हैं, वस्तु को क्रमश: विकसित करनेवाली – प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम आदि अवस्थाओं की तो कल्पना ही नहीं की जाती, क्योंकि इन अवस्थाओं का क्रमिक विकास लोकनाट्यों का उद्देश्य नहीं होता है। कथावस्तु की ये सभी अवस्थाएँ पहले से ही दर्शकों में विद्यमान रहती हैं। लोकनाट्यों का रंगमंचीय सार्वजनिक प्रदर्शन तो उस सम्पूर्ण नाटक का अवशिष्ट अंश है जिसके अन्य दृश्य दर्शक पहले ही अपनी कल्पना में देख चुका होता है। इसीलिये कथावस्तु के उसी अंश को रचनाकार स्पर्श करता है जिसके माध्यम से वह नाट्यतत्त्वों को अधिक प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त कर सके। शेष को वह छोड़ देता है। उदाहरण के तौर पर दो प्रेमियों की लोकविदित कथावस्तु को नाट्य में प्रस्तुत करते समय लेखक जानता है कि ये प्रेमी किन के वंशज हैं, किन स्थान, नगर, ग्राम के निवासी हैं? ये अपने प्रेमपात्र की उपलब्धि में किन-किन कठिनाइयों का सामना करते हैं? उनके मार्ग में कौन-कौन व्यवधान आये हैं, तथा अपने प्रेमपात्रों की खोज में वे कहाँ-कहाँ की यात्रा कर चुके हैं? इनका सांगोपांग परिचय जनता को पहले से है, अत: वह अपनी वस्तु को निरर्थक ही इन प्रसंगों में नहीं उलझाता। उसकी अपेक्षा वह अपनी अधिकांश शक्ति प्रेमी और प्रेमिकाओं की प्रेमवार्ता को मनोरम गीतों व काव्य-छन्दों में प्रयुक्त करके रस की गंगा बहाने में लगाता है और वस्तु के उन्हीं प्रसंगों पर जोर देता है जो इनकी प्रेमवार्ता को उद्दीप्त कर सके।

लोकनाट्यों का कथोपकथन

लोकनाट्यों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यदि कोई है तो उनका कथोपकथन ही है। पात्र जो कहते हैं, जिन शब्दों में कहते हैं, जिन भाव-लहरियों में गाते हैं और जिन अंगभंगिमाओं तथा नृत्यमुद्राओं में उनकी अभिव्यक्ति करते हैं, उन्हीं से दर्शकों को मतलब है। कैसा रंगमंच बना, कितनी रोशनियाँ सजावट में लगाई गईं, कितने परदे टँगे, कितने अंकों में नाटक प्रस्तुत किया गया, कैसी वेशभूषा का प्रयोग हुआ, इन सब बातों की

ग्रोर दर्शक ध्यान नहीं देता। उसकी रुचि केवल पात्र के मधुर कंठ तथा उसके गाये हुए मनोरम गीत-संवाद में है। कथावस्तु, चरित्रचित्रण, नाट्य के उत्कर्ष-अपकर्ष, वेशविन्यास, मुखविन्यास से उसको कोई मतलब नहीं है। अधिकांश पात्र तो इन लोकनाट्यों में पोशाक पहिनकर दर्शकों के बीच ही बैठे रहते हैं। कोई-कोई तो अपनी पोशाक भी दर्शकों के बीच ही बदल लेते हैं परन्तु जनता को उनसे कोई मतलब नहीं है। वह उनकी तरफ़ ध्यान भी नहीं देती, क्योंकि रंगमंच पर उतरने पर ही वे नाटक के पात्र समझे जाते हैं। जनता को इससे भी कोई संबंध नहीं है कि नाट्य का प्रारंभ ग्रोर ग्रंत कहाँ है? उसका संबंध तो अपने चिर-परिचित कथानक के उन चिर-परिचित पात्रों से है जो रंगमंच पर दक्षतापूर्वक गाते, नाचते ग्रोर ग्रभिनय करते हैं। इसकी पूर्ति में वह उनसे अत्यन्त सफल ग्रोर प्रभावशाली ग्रदायगी की अपेक्षा करती है। जो प्रसंग ग्रोर कथोपकथन जनता के हृदय पर पहिले से ही ग्राइने की तरह ग्रंकित रहते हैं उनमें रत्तीमात्र भी संशोधन तथा परिवर्तन जनता सहन नहीं करती, चाहे पात्र अपनी भूमिका अदा करने में कितना ही प्रवीण क्यों न हो।

इन नाट्यों के कथोपकथन क्षेत्रीय भाषाओं में ही होते हैं ग्रोर वे उन्हीं में अच्छे भी लगते हैं। दर्शकगण इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि राम, कृष्ण, रावण, सीता ग्रादि ग्राज से हजारों वर्ष पूर्व के पात्र हैं ग्रोर उनका ग्राज के युग से कोई संबंध नहीं है। दर्शकों के राम, कृष्ण तो कुछ ही वर्ष पूर्व के पात्र हैं, जो साधारणतः रोजमर्रा की पोशाकें पहिनते हैं ग्रोर उन्हीं की तरह खाते-पीते तथा व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि इन लोकनाट्यों में राम, कृष्ण, सीता ग्रादि की पोशाकें पौराणिक नहीं होकर उस क्षेत्र की प्रचलित पोशाकें हैं जो ग्राम जनता दैनिक जीवन में पहिनती है। उनके कथोपकथन भी रोजमर्रा की घरेलू भाषा में गाये जाने वाले गीतों ही में होते हैं, जो बहुधा समस्त जनसमाज को कंठस्थ होते हैं। इन गीतसंवादों की ग्रदायगी जब रंगमंच पर होती है उस समय नाट्य की कथावस्तु वहीं रहती है। वह ग्रागे नहीं बढ़ती। एक ही गीतसंवाद यदि ग्रभिनेता चार तरह से ग्रलग-ग्रलग धुनों में व्यक्त करे तो भी दर्शकों को कोई ग्रापत्ति नहीं है। उन्हें इस बात की भी कोई चिन्ता नहीं है कि वस्तु ने ग्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा ग्रादि ग्रवस्थाओं को प्राप्त किया है या नहीं। यही कारण है कि लोकनाट्यों की सबसे बड़ी शक्ति उनके कथोपकथन ही

में है। अन्य सब तत्त्व प्रति गौण हैं। इसीलिये नाटयकार उन्हें शब्दों तथा स्वरों से खूब सजाता सँवारता है। कथोपकथन की इतनी महत्ता के कारण ही लोकनाटय साहित्य, संगीत तथा लयकारी की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण होते हैं। वे विशुद्ध नाटकीय संवादों के रूप में नहीं होते जिससे उनके क्रम का पता नहीं लगता।

लोकनाट्यों के पात्र

लोकनाट्यों में शास्त्रीय नाट्य की तरह पात्रों के उच्चादर्श या लक्ष्य-पूर्ति की ओर ध्यान नहीं रहता। कथावस्तु के चुनाव में भी इस ओर कोई विशेष लक्ष्य नहीं रहता। नायक, नायिका तथा पात्रों में भी उच्च चरित्र तथा उच्चादर्शों का होना आवश्यक नहीं समझा गया है, न जाति, परिवार तथा सामाजिक स्तर की दृष्टि से ही उनका चुनाव होता है। लोकनाट्य का नायक उच्चादर्शी भी हो सकता है और चोर, लम्पट और दुराचारी भी। वह शूद्र भी हो सकता है और ब्राह्मण भी। वह राजा भी हो सकता है और रंक भी। लोकनाट्यों में नाट्यवस्तु, कथोपकथन, पात्र, चरित्र तथा दर्शकों की दृष्टि से भी ग़रीब, अमीर, वर्ण, सवर्ण, जाति, कुजाति तथा ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं रहता। उनका प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन प्रदान करना है, जनता को शिक्षित करना नहीं है। अत: जिस नाट्य से दर्शकों को अधिक से अधिक मनोरंजन प्राप्त हो सके, वही सफल नाटक समझा जाता है। ऐसे नाटकों में राजस्थान के दयाराम धाड़वी, रिसालू लुटेरा, बदमाश आशिक आदि हैं जिनको देखने में जनता कोई ऐतराज नहीं करती। इनमें कई नाटक अश्लील भी होते हैं। इनमें एक विशेष बात यह है कि दुश्चरित्र पात्रों का अंत में अपकर्ष और सत्यवादी तथा न्यायपरायण पात्रों का उत्कर्ष बतलाया गया है। सत्य की विजय और असत्य की पराजय होती ही है। इन नाटकों में अतिरंजित, मनोरंजनात्मक तथा अश्लील तत्त्वों का बाहुल्य होते हुए भी संगीत, नृत्य की दृष्टि से वे सफल लोकनाट्य माने जाते हैं। उनमें शृंगारिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति निम्नस्तर की अवश्य होती है परन्तु बीच-बीच में ऐसे अहितकारी, शोषक और असामाजिक तत्त्वों पर बहुत ही गहरा कटाक्ष होता है जिससे वे तत्त्व सबके सामने प्रकट होते हैं और समाज में उनके प्रति अश्रद्धा और अवहेलना की भावना जागृत होती है। ऐसे नाट्यों में राजस्थान तथा गुजरात का भवाई अत्यन्त लोकप्रिय है। कुशल भवाई कलाकार जब अपने दल के साथ अपने यजमान (आश्रयदाता) के यहाँ प्रदर्शनार्थ जाता है

तो गाँव के सभी असामाजिक तत्त्व भयभीत हो जाते हैं क्योंकि इन भवाई प्रदर्शनों में उनके कुकृत्यों तथा दुराचारों का भंडाफोड़ होने वाला होता है। कभी-कभी तो प्रदर्शन के पूर्व ही ये तत्त्व, जिनमें गाँव का शोषक बनिया तथा जमींदार जागीरदार ही प्रमुख होते हैं, इन भवाइयों को बिना प्रदर्शन के ही, इनाम देकर विदा करते हैं। इन मनोरंजन प्रधान लोकनाट्यों में कथावस्तु, पात्रपरिचय तथा उनके चरित्रचित्रण पर अधिक जोर नहीं होता। इन सब नाट्यतत्त्वों को संगीत, नृत्य तथा अन्य चमत्कारिक खेल-तमाशे इस तरह ढक लेते हैं कि उनमें नाट्य का स्वरूप ही नजर नहीं आता। इन नाट्यों में वाचिकी और सात्विकी तत्त्वों की पूर्ण अवहेलना होती है और आहार्य पर विशेष जोर रहता है।

इन नाट्यों में एक विशेष बात यह है कि नाटक के पात्र कथावस्तु के क्रमिक विकास के अनुसार रंगमंच पर नहीं आते। उनके प्रवेश के साथ ही दर्शकों को उनकी पहिचान (Identity) नहीं हो पाती। अतः रंगमंच पर अपने प्रथम प्रवेश के साथ ही उन्हें स्वयं अपना परिचय देना पड़ता है। यह शास्त्रीय नाट्य परम्परा से बिल्कुल विपरीत है। जो पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण दिलचस्प पात्र है तथा जिसका अभिनेता अपने गेय कथोपकथन को अतिशय रुचिकर ढंग से गाने का अभ्यस्त है, वही रंगमंच पर आवश्यकता से अधिक टिक जाता है। कभी-कभी वह अपनी तथा अपने स्वजनों की प्रशंसा में ही सारा समय लगा देता है। अन्य पात्र उसके पास इसलिये नहीं टिकते क्योंकि उनमें कोई विचित्रता नहीं होती। लोकनाट्य इस दृष्टि से वस्तुप्रधान नहीं होकर पात्रप्रधान होते हैं। कभी-कभी ये पात्र रंगमंच पर अवतरित होते हैं और शीघ्र ही लुप्त हो जाते हैं। उनमें से किसी का भी चारित्रिक विकास नहीं होता और कुछ तो फल तथा परिणाम तक पहुँचने से पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं। उनका अंत में क्या परिणाम होता है इसका भी पता नहीं लगता। इन नाट्यों के नायक और उनकी नायिकाएँ बहुत अधिक देदीप्यमान होते हैं, चाहे वे भले व्यक्ति हों या बुरे। अन्य पात्रों से उनका विलगाव बहुत ही आसानी से हो जाता है। वे अपनी वंशपरम्परा तथा सामाजिक और शासनिक स्तर की दृष्टि से चमत्कृत नहीं होते। वे अपने अवगुणों के कारण भी चमत्कृत हो सकते हैं और गुणों के कारण भी। यदि कोई चोर-लुटेरा नायक है तो वह प्रथम श्रेणी का चोर-लुटेरा होगा। यदि वह प्रेमी है तो इस दिशा में वह सर्वोपरि प्रेमी होगा। यदि वह व्यभिचारी

है तो अभिचार में वह पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ होगा। गुणी नायकों में भी उनके गुण सर्वव्यापी होंगे। यदि नायक साधु है तो उसका साधुत्व और त्याग का व्यक्तित्व अत्यंत अनूठा होगा।

लोकनाट्यों में अनेक पात्र एक साथ रंगमंच पर नहीं आते, क्योंकि उनकी पहिचान दर्शकों के लिये कठिन हो जाती है। बहुधा दो ही पात्र एक साथ रंगमंच पर आते हैं और वे भरपूर संवाद कहते हुए गीतों की वर्षा करते हैं। दो से अधिक पात्र यदि रंगमंच पर आते भी हैं तो वे केवल मूक मुद्रा में रंगमंच पर खड़े रहते हैं। वार्तालाप केवल प्रमुख पात्र ही करते हैं। इन्हीं गीतसंवादों से पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष-अपकर्ष का पता लगता है। नाट्य की कथावस्तु भी इन्हीं गीतसंवादों से विकसित होती है। नाट्यतंत्र में कथावस्तु का निमाव लगभग नहीं के बराबर है। ये ही कथोपकथन कथा को आगे बढ़ाते हैं और उसे चरम सीमा तक ले जाते हैं। समस्त पात्रों में नायक-नायिका ही प्रमुख पात्र हैं। उपनायक तथा उपनायिकाओं की अवस्थिति लगभग नहीं के बराबर है। नायक-नायिका का शासन ही सर्वोपरि रहता है क्योंकि समस्त नाट्य में पात्र ही कम होते हैं। कुछ लोक-नाट्य तो ऐसे भी हैं जिनमें नायक-नायिका के अलावा अन्य कोई पात्र ही नहीं होता। जैसे राजस्थान का मूमल-महेन्द्र तथा हीर-रांझा। वस्तुयोजना इन ढिपाली ख्यालों में इस तरह संगठित होती है कि गीत-संवादों ही में वस्तु के अंकुर छिपे रहते हैं। नायक-नायिका अपने पारस्परिक संवादों ही में अपने वंश, राज्य, परिवार तथा देश काल की सभी स्थितियों का परिचय अत्यंत मनोरम ढंग से दे देते हैं। उसी परिचय में उनके विरुद्ध जो षड्यंत्र होते हैं या उनके पक्ष में सहानुभूतिपूर्ण तथा सहयोगात्मक कृत्य होते हैं उनका भरपूर समावेश हो जाता है। इन पात्रों के चरित्र उनके कृत्यों से परिलक्षित नहीं होते। वे उनके संवादों से ही जाने जा सकते हैं। लोकनाट्य कृत्यप्रधान नहीं होते, अतः संवादों से ही पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष-अपकर्ष का पता लगता है।

विश्व के लगभग सभी नाट्यों में कुपात्रों के लिये अवहेलना की दृष्टि और सुपात्रों के लिये सहानुभूति होती है। परन्तु लोकनाट्यों में यह प्रक्रिया आवश्यक नहीं है। यदि कोई कुपात्र अपनी मनोरंजनात्मक तथा हास्यविनोद की अभिव्यक्ति में परम पटु होता है तो जनता का आकर्षण अनायास ही उसकी तरफ हो जाता है। क्योंकि उसके कुकृत्य व्यवहारिक रूप से रंगमंच पर नहीं

आते। वे मनोरंजनात्मक गीतसंवादों में अत्यंत आकर्षक ढंग से प्रकट होते है। अतः दुश्चरित्र पात्र भी जनता के मित्र बन जाते है। सुसंगठित शास्त्रीय नाट्यों में अभिनय करने वाले अभिनेता का मानवीय स्वरूप प्रायः कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। परन्तु लोकनाट्यों में वह काफ़ी हदतक सुरक्षित रहता है। यदि वह कुपात्र अपने मानवीय जीवन में सुपात्र तथा मान्य कलाकार है तो उसका अभिनेय दुश्चरित्र स्वरूप, प्रायः गौण हो जाता है। उसके मानवीय गुण जनता की सहानुभूति अर्जित करने में पूर्णतः सफल हो जाते हैं। बहुधा इसका विपरीत पक्ष भी सही होता है। यदि नाट्य-पात्र का मानवीय स्वरूप सकलंक तथा अनुचित है तो उसके सच्चरित्र पात्र का अभिनेय स्वरूप जनता की अभि-रुचि नहीं पकड़ता। इसका यह भी तात्पर्य है कि लोकनाट्यों की संगठनात्मक दुर्बलता के कारण उनके अभिनेय पात्रों का आरोपण कम कारगर सिद्ध होता है। यही कारण है कि लोकनाट्यों के पात्र-चुनाव में पात्रों के मानवीय पक्ष का पूरा ध्यान रखा जाता है। पेशेवर नाट्यमंडलियों को छोड़कर सार्वजनिक तथा शौकिया रूप में खेले जाने वाले जनहितकारी नाट्यों में तो इन तत्त्वों को बहुत अधिक प्रधानता दी जाती है। उत्तर भारत में दशहरा पर्व पर सार्वजनिक रूप से होने वाली रामलीलाओं में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है। जो व्यक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, भरत आदि का अभिनय करते है वे सच्चरित्र, उच्च-कुलीय तथा सर्वमान्य व्यक्ति ही होते हैं। यही नहीं रावण, मेघनाद, खरदूषण आदि कुपात्र भी अपने मानवीय पक्ष में प्रतिष्ठित तथा मान्य व्यक्ति ही होते है। लोकनाट्य जब सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्वों से परिपूर्ण थे तब इस विचार की प्रधानता थी। परन्तु जब से इनका व्यवसायी पक्ष विकसित हुआ है इन तत्त्वों का अभाव होने लगा है।

लोकनाट्यों के पात्रों की मानवीय लोकप्रियता तथा उनका वैयक्तिक व्यक्तित्व भी दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त करने में बहुत सहायक होते है। कभी-कभी उनके अभिनय की कलात्मक अदायगी यदि कुछ दुर्बल भी होती है तो उनका मानवीय सद्व्यक्तित्व इनकी इस कमजोरी को ढक लेता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि नाट्य-पात्रों के चारित्रिक गुण अधिक महत्त्व नहीं रखते। उनके वैयक्तिक मानवीय गुणों की छाप पात्रों के चारित्रिक गुणों से अधिक गहरी होती है। यदि कोई दुश्चरित्र, अन्यायी तथा अनाचारी पात्र है परन्तु देखने में सुन्दर, नाचने में पटु तथा गाने में मनोमुग्धकारी है तो वह अनायास ही दर्शकों के दिल का राजा बन जाता है।

लोकनाट्यों के विविध स्वरूप

रंगमंचीय लोकनाट्य – ऐसे नाट्य वस्तुविन्यास, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य की क्रमिक अवस्थाओं की दृष्टि से कमज़ोर अवश्य होते हैं परन्तु वे योजनाबद्ध प्रस्तुत होते हैं। उनमें विधिवत पात्रों का चुनाव होता है। वे व्यवस्थित ढंग से पात्रानुकूल पोशाकें पहिनते हैं तथा रंगमंच पर विधिवत अपनी भूमिकाएँ अदा करते हैं। इन नाट्यों में वस्तु के भी कुछ अंकुर होते हैं तथा पात्र सर्वविदित तथा लिखित कथोपकथन का उच्चार करते हैं। वस्तु किसी निर्दिष्ट दिशा में फल-प्राप्ति की ओर भी अग्रसर होती है। ऐसे नाट्यों में सर्वविदित कथा प्रसंग का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक होता है। नाटयकार तथा अभिनेता उनमें किसी प्रकार की आज़ादी नहीं ले सकते। ऐसे नाटयों में मध्यप्रदेश के माच, राजस्थान के ख्याल, मथुरा की रामलीलाएं, बंगाल की जात्राएँ तथा दक्षिण भारत के यक्षगान उल्लेखनीय हैं।

सर्वविदित प्रसंगों पर आधारित छायारूपी लोकनाट्य – ऐसे नाटय बहुधा राष्ट्रीय देवताओं, महान वीरों तथा चक्रवर्ती राजाओं के जीवन से सम्बन्धित रहते हैं। उनके पात्र जातीय तथा राष्ट्रीय महत्व के होते हैं तथा सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी जनजीवन में महानतम आदर्शों के रूप में विद्यमान रहते हैं। ऐसे महान् नायकों के जीवनादर्श तथा अनुकरणीय कृत्यों से देश का बच्चा-बच्चा अवगत होता है तथा अपने जीवनोत्कर्ष के लिए उनसे शक्ति ग्रहण करता है। उनके जीवनादर्शों तथा महान् कृत्यों से समस्त जाति ही प्रभावित रहती है तथा समस्त समाज की कला और संस्कृति उनसे ओतप्रोत रहती है। ऐसे युगप्रवर्तक व्यक्तित्व के चमत्कारिक पहलुओं को लेकर समस्त समाज धार्मिक तथा सांस्कृतिक अनुष्ठान के रूप में अनुकरणमूलक नाटय-प्रसंग रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। वे रंगमंचीय नाटकों से बिलकुल भिन्न होते हुए भी नाटय के एक विशिष्ट अंग के रूप में प्रस्तुत होते हैं। उक्त नाटय-स्वरूप में यद्यपि किसी कथावस्तु का सांगोपांग प्रयोग तथा विशिष्ठ रंगमंचीय तत्वों का उपयोग नहीं होता फिर भी अनुकरणमूलक ढंग से प्रस्तुत किये जानेवाले ये प्रसंग वस्तुतः नाट्य के ही अंग हैं। ऐसे नाट्य-स्वरूपों में उत्तर प्रदेश की बहुस्थलीय अनुष्ठानिक रामलीलाएँ, राजस्थान की चौकचांदनी तथा हिंडाउ-मेरी की रम्मतें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन तीनों प्रकार के नाट्यों में अभिनेता किसी विशिष्ट पात्र को अपने में आरोपित समझकर उसी के वेश विन्यास, व्यवहार तथा उसी की वाणी में आंगिकी, आहार्य, वाचिकी तथा

सात्विकी अभिनय के ढंग से व्यवहार करते हैं। जनता भी उनमें उन्हीं अतीत के गणमान्य चरित्रों का आरोपण समझकर उनका आदर करती है और उनसे प्रेरणा प्राप्त करती है। इन नाटयों के पात्र रंगमंचीय नाटयों की तरह क्रम से रंगमंच पर आते और जाते नहीं हैं। न उनका कोई नाटकीय प्रवेश ही होता है, न उनके जीवन के विविध पहलू नाटयवस्तु की विविध अवस्थाओं के अनुसार क्रमिक रूप से ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग तो उनको नाटय मानते ही नहीं हैं, केवल स्वांग की ही संज्ञा देकर संतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु वे यह बात भूल जाते हैं कि वेश-भूषा को पहिनकर किसी विशिष्ट व्यक्ति का आभास देना स्वांग है, परन्तु वह पात्र यदि वास्तविक अधिनायक के जीवन के विशिष्ट कृत्यों को व्यवहार में लाता है तथा अपनी भंगिमाओं तथा वाणी से उनका प्रकटीकरण करता है और दर्शकों में वास्तविक पात्र के विशिष्ट कृत्यों की अनुभूति जाग्रत करता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि वह किसी नाटय के एक प्रमुख तत्त्व का ही प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार के नाटयों में उत्तर प्रदेश की सामुदायिक रामलीलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उनमें एक जगह रंगमंच नहीं बनाया जाता। न परदे ही लगाये जाते। पात्र विशिष्ट दिशाओं से औपचारिक ढंग से प्रवेश भी नहीं करते। समस्त रामायण महाकाव्य की घटनाओं का सांगोपांग चित्रण भी नहीं होता। परन्तु विविध स्थलों पर लंका, अयोध्या, जनकपुरी आदि स्थल अनुकरणमूलक ढंग से निर्मित होते हैं। अलग-अलग स्थितियों में पात्र अपना अनुकरणमूलक व्यवहार प्रकट करते हैं। यह व्यवहार कहीं संवादों से, कहीं केवल मूकाभिनय से और कहीं नाटयकार की ओर से परिचयात्मक वाचन (Commentary) तथा रामायण की चौपाई पाठ से व्यक्त किया जाता है। इन नाटयों में सभी कथा-प्रसंगों का नाटयाभिनय आवश्यक नहीं होता। जिन प्रसंगों में नाटय-तत्त्व विशिष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं वे ही प्रसंग अभिनय में शुमार होते हैं। शेष दर्शकों की व्यापक कल्पना तथा पूर्व जानकारी पर छोड़ दि जाते हैं।

इस शैली के कुछ नाटय-प्रयोग राजस्थान के 'नहान' तथा ब्यावर की 'बादशाही सवारी' में परिलक्षित होते हैं। ये दोनों ही प्रयोग अनुकरणमूलक हैं। उनके पात्र वास्तविक चरित्रों की वेशभूषा पहिनते हैं। उनकासा व्यवहार करते हैं तथा उनके जीवन की किसी विशिष्ट झांकी को नाटकीय ढंग से

प्रस्तुत करते हैं। निश्चित ही ये नाट्य-प्रकार रामलीलाओं की कोटि में तो नहीं आते परन्तु उनमें नाट्य के अंकुर अवश्य ही विद्यमान हैं।

बहुप्रासंगिक औपचारिक लोकनाट्य :– ऐसे नाट्य उक्त दोनों ही श्रेणी के नाट्यों से सर्वथा भिन्न होते हैं तथा नाट्य की प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं, जो आज समय की हवा के साथ अपनी प्रारम्भिक अवस्था ही में प्रौढ़ता को प्राप्त कर गये हैं। उनका क्रमिक विकास न होकर उनके प्रारम्भिक स्तर का ही विकास हुआ है। ऐसे नाट्यों में कोई विशेष कथाप्रसंग नहीं होता। अनेक कथाप्रसंग जुड़कर एक विशिष्ट कथाप्रसंग का भान कराते हैं। उनके लिये कोई विशेष रंगमंच नहीं होता न उनमें किसी रंगमंचीय औपचारिकता के ही दर्शन होते हैं। कथावस्तु का कोई भी विशेष स्वरूप उनमें नहीं होता, न नायक-नायिका का ही उनमें कोई अस्तित्व होता है। उनमें आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विकी अभिनय की प्रधानता रहती है। नाट्य में उत्कर्ष, अपकर्ष अनेक बार आते हैं। वस्तु की किसी भी क्रमिक अवस्था का निरूपण उसमें नहीं होता। कथोपकथन में भी कोई व्यवस्था नहीं होती। अनेक रसों का उनमें परिपाक होता है। अनेक बार विरोधी रसों का संयोग होता है जिससे रसाभास एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। दर्शक-प्रदर्शक का भेद इनमें सुस्पष्ट है। दर्शक किसी भी स्थिति में प्रदर्शक नहीं बन सकता। प्रदर्शक अनौपचारिक ढंग से रंगस्थली में आते हैं, वहीं वेशभूषा पहिनते हैं और दर्शकगण उनके चारों ओर गोलाकार बैठ जाते हैं। नाट्य का नायक एक नहीं, अनेक होते हैं। उन सबका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। ऐसे नाट्य में राजस्थानी भीलों का "गवरी" प्रमुख है। यह ऐसा नाट्य है जिसमें आहार्य, वाचिकी, सात्विकी तथा आंगिकी के तत्त्व अत्यंत प्रौढ़ तथा नाट्य के अन्य सभी तत्त्व अत्यंत लचीले तथा ढीले होते हैं। प्रमुख नायक और नायिका के जीवन की अनेक घटनाएँ अत्यंत बिखरी हुई होती हैं। उनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध न हीहोता, न नाट्य-योजना में भी उनका कोई स्थान है। नायक के गुण-दोषों का भी उनमें कोई वर्णन नहीं है। कथावस्तु भी किसी निश्चित अवस्था की ओर अग्रसर नहीं होती।

इस नाट्य-प्रकार की बहुत बड़ी शक्ति उसके अभिनेय गुणों में है। आहार्य की दृष्टि से ये नाट्य अद्भुत हैं। नाट्य के पात्र वेशभूषा संबंधी अपनी तीव्र कल्पना बुद्धि का परिचय देते हैं। उनका आंगिक अभिनय भी बेजोड़ होता है। वाचिक अभिनय में वाचन का विशेष आधार नहीं लिया जाता। नाटक का

सूत्रधार ही समस्त वाचन का भार अपने ऊपर रखता है। उसके वाचन पर पात्र नानाप्रकार के मूकाभिनय में लीन होते हैं। सात्विकी दृष्टि से उनका रस-निरूपण अद्भुत होता है। हास्य, विनोद, शृंगार, रौद्र, वीभत्स तथा वीररस की अभिव्यक्ति में इन कलाकारों को कमाल हासिल है। इस प्रकार के नाट्य वास्तव में अनेक नाट्यों के सामूहिक रूप हैं। कई नाट्यों के तत्त्व इनमें मिले रहते हैं। नाट्य की कथावस्तु केवल प्रारम्भिक अवस्था तक अव-तरित होकर वहीं समाप्त नहीं हो जाती है। कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो नियताप्ति की अवस्था में तो पहुँच जाते हैं, सफलता का निश्चय भी हो जाता है, परन्तु बीच में कोई बड़ा व्यवधान आ जाता है और बात वहीं खत्म हो जाती है। कहीं-कहीं किसी प्रसंग में फलागम बिना पूर्व की अवस्थाओं के भी आ जाता है।

लोकनाट्य तथा शास्त्रीय नाट्य का पारस्परिक सम्बन्ध

इस अध्ययन के उपरान्त अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नाट्य के शास्त्रीय और लोकपक्ष के बीच क्या कोई सम्बन्ध है? शास्त्रीय नाट्य लोकनाट्यों की जननी है या लोकनाट्यों से शास्त्रीय नाट्यों की उत्पत्ति हुई है? या दोनों का आविर्भाव एक ही साथ हुआ है? ऋग्वेद तथा अनेक जैन सूत्रों और पौराणिक ग्रंथों में जो नाटकों का वर्णन हुआ है उनमें निश्चय ही लोक-नाट्यों के अंकुर विद्यमान हैं। शास्त्रीय नाट्यों की उस समय कोई कल्पना नहीं थी। चीन, यूनान, मिश्र, रोम आदि प्राचीन देशों में भी लोकनाट्यों का काफ़ी प्रसार था। उन सब में किसी भी विगत चमत्कारिक व्यक्ति को चिर-स्मरणीय रखने के लिये उसकी जीवन-गाथाओं का अनुकरण एक सामाजिक कर्तव्य समझा जाता था। इन्हीं अनुकरणमूलक कृत्यों से नाटक का प्रादुर्भाव हुआ था। धीरे-धीरे समाज के विकास के साथ ये नाटक भी विकसित हुए तथा सैंकड़ों वर्ष बाद वे शास्त्रकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हुए। उनकी सामाजिकता तथा सामुदायिकता का महत्त्व उनको नहीं मालूम हो सका। वे उन्हें अपरिपक्व तथा अत्यंत प्रारम्भिक समझकर ही शास्त्र की मर्यादाओं में बाँधने लगे और धीरे-धीरे वे नाटक अपने लोकप्रिय तत्त्व खो बैठे। इसकी प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं रही और ये लोकनाट्य प्रारम्भ से ही अपने आपको शास्त्र के चुंगल से अलग रखकर अपने विकास की अलग दिशा पकड़ते रहे। यही कारण है कि इन शास्त्रीय नाटकों का कोई कुप्रभाव उन पर नहीं पड़ा, बल्कि नाट्यनियोजन आदि में उनको परोक्ष-अपरोक्ष रूप से लाभ ही हुआ।

थे लोकनाट्य, क्योंकि लोकभाषाओं में लोकानुरंजन की दृष्टि से लोक-कलाओं पर आधारित रहते थे इसलिये जनसाधारण का ध्यान उनकी तरफ आकर्षित होना अधिक स्वाभाविक था। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन नाट्यों में भाग लेने हेतु किसी प्रशिक्षण, पूर्वाभ्यास तथा प्रवीणता की आवश्यकता नहीं होती थी। वे बहुधा सारे समाज को कंठस्थ होते थे। इसलिये कोई भी व्यक्ति किसी भी पात्र की अनुपस्थिति की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त होता था। इन नाट्यों के सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्व इतने प्रबल होते थे कि प्रदर्शक और दर्शक प्रायः एक ही भावना रखते थे तथा सबके मन में नाट्यों के प्रति अपनत्व की भावना रहती थी। शास्त्रीय नाट्य शास्त्र की दृष्टि से इतने तांत्रिक हो गये थे, उनमें नियमों का पालन इतना कठिन हो गया कि वे साधारणजन की पहुंच के बाहर हो गये। इन नाट्यों की भाषा भी आचार्यों और पंडितों की भाषा थी तथा उनमें अभिनय योग्य पात्रों का भी उच्चकोटि के विद्वान्, शास्त्रज्ञ, भाषाविज्ञ तथा कलाप्रवीण होना आवश्यक था। इन नाट्यों के रंगमंच और प्रेक्षालय की योजना भी इतनी जटिल थी कि सिवाय शासकों, आचार्यों, धनिकों, मंदिरों तथा मठों के सम्पन्न वातावरण तथा उनकी व्यवस्था के बिना वे अभिनीत नहीं हो सकते थे। इनके लेखक, अभिनेता, नर्तक, संगीतज्ञ तथा प्रेक्षालयनियोजक भी परम विशेषज्ञ तथा शासन द्वारा पोषित और संरक्षण प्राप्त थे। ये नाट्य लोकरुचि को पुष्ट तो नहीं करते थे बल्कि वे उनकी पहुंच के बाहर भी थे। सरगुजा रियासत की गुफाओं में जो प्रेक्षालयों के ध्वंसावशेष मिलते हैं उनमें विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र, तीन प्रकार के प्रेक्षालयों की कल्पना साकार हुई है। इन प्रेक्षालयों की योजना भी विभिन्न सामाजिक स्तर के दर्शकों के बैठने के लिये बनाई गई थी, बल्कि विकृष्ट प्रेक्षालय तो केवल देवताओं तथा शासकों के लिये ही था। चतुरस्र प्रेक्षालय मध्यम श्रेणी के दर्शकों के लिये था। इन प्रेक्षालयों में उच्चकोटि की चित्रकारी होती थी। प्रकाश आदि के लिये भी अत्यंत वैज्ञानिक व्यवस्था थी। पोशाकघर, रंगमंच तथा प्रेक्षालय की सजावट भी नाट्योचित ढंग से होती थी। उनमें प्रवेश पाने के लिये भी विशेष सामाजिक स्तर की आवश्यकता थी। इन्हीं तकनीकी तथा सामाजिक कठिनाइयों के कारण ही शास्त्रीय नाट्यों से लोकनाट्यों का विलगाव हुआ। वे उनकी विषम बंदिशों से बाहर निकलकर स्वतंत्र श्वास लेने लगे तथा जनसाधारण की सुखद अभिव्यक्ति के प्रबल साधन बन गये।

लोकनाट्यों का नाट्यशिल्प

आधुनिक नाट्य में कथावस्तु के नाट्योपयोगी प्रसंगों को इस तरह नियोजित किया जाता है कि उनका नाटकीय प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली और कथा का श्रव्यस्वरूप दृश्यस्वरूप में परिणत हो सके। ऐसे नियोजित एवं नाट्यतत्त्वों से संपुष्ट नाट्य में पात्र स्वयं वाचन, संभाषण द्वारा कथाप्रसंग को आगे बढ़ाते हैं, विविध घटनाओं का क्रमिक विकास होता है तथा पात्रों के व्यवहार एवं कृतित्व द्वारा उनके चरित्रों का उत्कर्ष तथा अपकर्ष परिलक्षित होता है। पात्र स्वयं अपने में घटनाओं को सुलझाते हैं तथा नवीन परिस्थितियाँ पैदा करके नाटक को गतिशील बनाते हैं। पात्र स्वयं वाचन की डोरी पकड़कर मानसिक गुत्थियाँ उलझाते-सुलझाते तथा मन की अंततंम दशाओं का दिग्दर्शन कराते हैं। नाट्यवस्तु बीजरूप प्रकट होकर अंकुरित होती है, अपनी शाखाएँ उपशाखाएँ फैलाकर बृहत् वस्तुवृक्ष को विकसित करती हैं। कथावस्तु के इस विकासक्रम में वर्णन, विवेचन तथा परिचयात्मक टिप्पणियाँ समस्त नाट्यतंत्र को अत्यधिक आघात पहुँचा सकते हैं। यही कारण है कि आधुनिक एवं शास्त्रीय नाटक को खंडकाव्य तथा महाकाव्य की श्रेणी में न रखकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को दृश्यकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है।

इन आधुनिक शिल्प के नाट्यों में उनका रचयिता तथा उसका व्यक्तित्व कई जगह छिपा रहता है और उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा नाट्य-पात्रों में प्रकट होकर उनके चार चाँद लगा देती है। वह नाट्य की समस्त गतिविधियों का नियोजन करके पात्रों की भाषा में बोलता है, उनकी धड़कनों के साथ धड़कता है तथा उनकी मनःस्थितियों में निरंतर रमण करता रहता है। वह समस्त घटनाओं को अपनी मुट्ठी में पकड़े रहता है और उनके क्रमिक विकास में पूर्णरूप से सतर्क रहता है। यह रचयिता रंगमंच पर नहीं आता। वह छिपे रहकर भी सबको अपने अस्तित्व का भान कराता रहता है।

परन्तु विपरीत इसके लोकनाट्य अपने वस्तुशिल्प की दृष्टि से निराले ही ढंग से गठित होते हैं। उनमें कथावस्तु की कोई प्रधानता नहीं, पात्रों के उत्कर्ष, अपकर्ष की ओर कोई ध्यान नहीं। केवल अपने मनोरंजनात्मक पक्ष को अक्षुण्ण रखने के लिये वे नाना रूप धारण कर लेते हैं। लेखक अपने उद्देश्य की पूर्ति में कभी सूत्रधार के रूप में प्रकट होकर समस्त नाटक का मंतव्य प्रकट करता है, कभी हलकारे के रूप में नाट्यपात्र एवं घटनाओं का परिचय देता है, कभी नाट्यपात्रों के गीत-नृत्यों के साथ साज बजाने वाले

तथा गाने वाले टेकियों की वाणी में विराज जाता है। कभी वह विदूषक के रूप में प्रकट होकर अनेक अप्रस्तुतनीय एवं जटिल घटनाओं को वर्णन ही वर्णन में पूरा कर लेता है। कभी वह छद्मवेश में भगवान् का रूप धारण करता है तथा विशिष्ट घटनाओं की सृष्टि करके अनेक अप्रासंगिक घटनाओं को उनमें समेट लेता है।

लोकनाट्य, वस्तुप्रधान नहीं होने के कारण, अपने में कथावस्तु का क्रमिक विकास आवश्यक नहीं समझते। लोकगाथाओं के अनियोजित प्रसंगों में जिस तरह कथावस्तु लुकती-छिपती अपने अस्पष्ट स्वरूप को छिपाये रहती है और किसी समय अनायास ही प्रकट होकर कभी रंगत बिगाड़ देती है, कभी जमा देती है, उसी तरह लोकनाट्यों में भी वह कभी अपनी छवि इस तरह दर्शाती है कि नाट्य के आधारस्तंभ स्तंभित हो जाते हैं। उन स्तंभों पर कथा कुछ क्षण रुक जाती है और नाट्यपात्र अपनी प्रतिभा के चमत्कार नृत्यगीतों के माध्यम से दर्शाकर आनेवाली विविध घटनाओं की ओर संकेत करते हैं।

लोकनाट्य महत्त्वपूर्ण, अमहत्त्वपूर्ण घटनाओं में कोई अंतर नहीं समझते तथा उनके समयनिर्धारण एवं वर्गीकरण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। जिस प्रसंग में, चाहे वह अत्यन्त महत्त्वहीन ही क्यों न हो, व्यंग्यविनोद, हास्य-उल्लास तथा कलाप्रदर्शन का भरपूर अवसर हो उसमें सर्वाधिक समय लगाया जाता है। नाट्य-पात्रों में भी कथाप्रसंग की ओर अत्यन्त उदासीनता सी रहती है। वे नृत्य-गीत-अदायगी में ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ लगा देते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि नाट्य निर्धारित समय में समाप्त होगा या नहीं। लेखक की ओर से भी इन पात्रों को किसी भी प्रसंगविशेष में अपनी ओर से जोड़ने, बढ़ाने, घटाने तथा स्थलीय प्रेरणाओं के अनुसार अपनी कल्पनाओं का उपयोग करने की पूरी छूट रहती है।

प्रत्येक लोकनाट्य में लेखक जिस रूप में भी छिपा रहता है उसके माध्यम से वह घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में काट-छाँट करता रहता है। जैसे राजस्थानी शैली के कुचामणी ख्यालों में लेखक हलकारे या फराश के माध्यम से नाटक की उन सब घटनाओं का केवल स्तुति तथा मंगलाचरण के रूप में उल्लेखमात्र करता हुआ दर्शकों को उस प्रमुख परिस्थिति में ले आता है जहाँ खेल का रंगमंचीय स्वरूप शुरू होता है। कभी-कभी पात्र बिना प्रसंग के ही स्वयं रंगमंच पर उपस्थित होकर अपना परिचय देते हुए उन सभी अप्रस्तुतनीय

घटनाओं का दिलचस्प वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा नाट्य को उस प्रमुख स्थिति तक ले आते हैं जहाँ उन्हें स्वयं को किसी विशिष्ट प्रसंग में आना होता है।

लोकनाट्यों में समस्त वस्तु को आधुनिक नाट्यतंत्र की दृश्यविधान-शैली में वर्गीकृत करने की परम्परा नहीं के बराबर है। उनका नाट्यतंत्र ही ऐसा है कि दृश्य के अन्दर ही दृश्य प्रकट होते जाते हैं और दृश्यपरिवर्तन के लिये आधुनिक परदों एवं विद्युत् व्यवस्था के बिना ही बदली हुई परिस्थितियाँ, बदले हुए स्थल तथा बीते हुए समय की कल्पना साकार हो जाती है। कोई दृश्य चल ही रहा है और उसके साथ दूसरा दृश्य चल पड़ता है। उस स्थिति की समस्त परिस्थितियाँ अपने आप में सिमटने लग जाती हैं और तुरन्त अपना संबंध प्रस्तुत होने वाली परिस्थितियों के साथ जोड़ देती हैं। स्थल और समय के अन्तर को दिखलाने के लिये टेकियों की टेक दोनों दृश्यों के बीच परदे की तरह उपस्थित हो जाती है और आने वाले दृश्य की विविध रंगीनियों को पुनः परदे की तरह ही ऊपर उठाकर सबके सामने दर्शाती है। ऐसी विशिष्ट परिस्थितियों में पूर्व घटना का विलीनीकरण आनेवाली घटना में बहुत ही सुन्दर ढंग से हो जाता है।

प्रायः सभी लोकनाट्य प्रचलित लोकगाथाओं पर आधारित रहते हैं। काल्पनिक कथाओं तथा स्वरचित प्रसंगों पर लोकनाट्यों की रचना नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार की रचनाओं पर दर्शकों की आत्मीयता नहीं जुड़ती और उनके काल्पनिक पात्रों एवं परिस्थितियों को उनकी भावनाएँ ग्रहण नहीं करतीं। प्रचलित लोकगाथाओं पर आधारित रहने के कारण ही इन लोकनाट्यों के विविध प्रसंग एवं पात्र परस्पर में बहुत ही कच्चे धागे से बँधे रहते हैं तथा उनकी कथावस्तु के अनेक अंश अत्यंत लचर और कमजोर होते हुये भी दर्शकों की गाथा संबंधी पूर्व जानकारी तथा तत्संबंधी चरित्रों के प्रति उनकी प्रगाढ़ आत्मीयता उन्हें स्वीकार कर लेती है और लोकनाट्य के विभिन्न टूटे हुए और असंबद्ध अंशों को जोड़ लेती है। लोकगाथाओं के असंबद्ध अंशों को जिस तरह लोकमानस अनायास ही स्वीकार कर लेता है उसी तरह लोकनाट्य के भी सभी असंबद्ध प्रसंगों को स्वीकार करने में दर्शकों को कोई भी कठिनाई नहीं होती। यही कारण है कि कुछ विद्वान् लोकनाट्य को लोकगाथा का दृश्य-रूप मानते हैं। लोकगाथा को कुशल गाथाकार अपने श्रोताओं को अत्यंत मनोरम ढंग से सुनाता है और अपनी अतिशय रोचक वर्णन-शैली से उसका मूर्तरूप प्रकट करता है। लोकनाट्य में लोकगाथा का

वर्णित रूप, उसकी शब्दावली और छंदव्यवस्था के अतिरिक्त, प्रायः ज्यों का त्यों रहता है । उसका आदि अंत, मध्यवर्ती विकास, कथा की क्रमिक व्यवस्था, पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष, अपकर्ष आदि भी लोकनाट्यों में यथावत रहते हैं । अंतर केवल इतना है कि गाथा में एक या दो व्यक्ति गाथा के पदों को गाकर या बजाकर सुनाते हैं और लोकनाट्यों में स्वयं पात्र ही मूर्तरूप बनकर गाथाकार का स्थान ग्रहण कर लेते हैं और समस्त गाथा को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करके समस्त अतीत को वर्तमान में ले आते हैं। गाथा के इस नाटकीय प्रस्तुतीकरण से जहाँ संभाषणात्मक पक्ष दुर्बल हो जाता है, वहाँ लोकनाट्य का वर्णनात्मक पक्ष, रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण की सहायता हेतु नाटक के टेकिये तथा हलकारे के माध्यम से, जोर पकड़ लेता है और गाथा के निरंतर प्रवाह को किसी प्रकार मंदा नहीं होने देता ।

राजस्थान की प्रचलित लोकगाथाएँ, जैसे पाबूजी, देवजी, हड़बूजी, गोगाजी, रामदेवजी, तेजाजी, जिन्हें इनके विशेष भोपे तथा दलावंत जातियाँ गा बजा कर सुनाती हैं, राजस्थानी लोकनाट्यों के लिये सर्वाधिक प्रेरणादायी स्रोत रही हैं । इन लोकगाथाओं पर आधारित कई लोकनाट्य इस राज्य में प्रचलित हैं जो नाट्य की विविध लोकशैलियों में कई रचयिताओं द्वारा रचे गये हैं । यद्यपि लोकनाट्य लोकगाथा का दृश्य रूप है फिर भी लोकगाथाओं की पदावली का हूबहू उपयोग किसी भी नाट्य में नहीं हुआ है । लोकनाट्य के प्रचलित नाट्य-शिल्प में, जिसके कई प्रकार प्रत्येक राज्य में आज भी प्रचलित हैं, नाट्य-रचयिता अपनी पदावली स्वयं रचता है तथा प्रचलित लोकगाथा की कथावस्तु तथा उसके वर्ण्य विषय को अपने में समा लेता है । चूंकि लोक-नाट्यों की विशिष्ट पदावली नाट्य एवं नाट्योपयोगी विशिष्ट छंदों में रची जाती है इसलिये भी इन लोकगाथाओं की परंपरागत पदावली तथा उसके छंदों का प्रयोग लोकनाट्यों में नहीं होता । लोकनाट्यकार नाट्यरंगमंच पर इन्हें प्रस्तुत करने की धृष्टता इसलिये भी नहीं कर सकता, क्योंकि ये धार्मिक अनुष्ठानों तथा विश्वासों के साथ जुड़ी रहती हैं और उन्हें किसी निमित्त विशेष के लिये गाने का एकमात्र अधिकार इन विशिष्ट जातियों को ही प्राप्त है । यदि ये पदावलियाँ ज्यों की त्यों रंगमंच पर उतर आवें तो उनसे संबंधित अनुयायियों की भावनाओं को ठेस लगना स्वाभाविक है ।

इन लोकनाट्यों का नाट्य-शिल्प अत्यंत विचित्र होता है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि लोकगाथाओं के वर्णित स्वरूप के शिल्प में और उसके

नाटकीय शिल्प में विशेष अंतर नहीं होता। लोकगाथाओं के वर्णित शिल्प में विविध पात्र एवं प्रसंगों का परिचय देने वाले टेकियों तथा अन्य परिचायकों की भूमिका गाथाकार स्वयं अदा करता है, जबकि गाथा के नाट्य-शिल्प में गाथाकार का कार्य पात्र स्वयं करते हैं। लोकगाथा की कथावस्तु का क्रमिक नियोजन उसके नाट्य-स्वरूप में भी उसी तरह होता है। गाथाकार कथा को वर्णन द्वारा आगे बढ़ाता है और जहाँ पात्रों में वार्तालाप एवं संवाद निहित रहते हैं, वहाँ वह अपने वर्णनकौशल द्वारा स्वयं पात्र बनकर गाथा के वर्ण्य प्रसंग को नाटकीय गुणों से ओतप्रोत कर देता है। लोकनाट्यों में यह कार्य पात्र स्वयं करते हैं और जब वे इस कर्तव्य को पूरी तरह निभाने में अपने को असमर्थ पाते हैं तो नाटक के टेकिये तथा हलकारे उस जिम्मेदारी को स्वयं उठा लेते हैं।

आधुनिक नाट्यतंत्र में दृश्यविधान, वस्तु-प्रस्तुतीकरण तथा पात्र-संभाषण में ही पात्र-परिचय तथा उनका पारस्परिक संबंध निहित रहता है और दर्शकों को कौन पात्र क्या है तथा उसका अन्य पात्रों के साथ क्या संबंध है, इसका भली प्रकार परिचय हो जाता है। लोकनाट्यों के शिल्प में पात्रों का परिचय या तो दर्शकों के पूर्व ज्ञान से उपलब्ध रहता है या वर्णन द्वारा उनका परिचय कराया जाता है। कुछ लोकनाट्यों, जैसे राजस्थान की रम्मतें, महाराष्ट्र के तमाशे आदि में, पात्रों के प्रथम प्रवेश के साथ ही पात्र स्वयं अपना परिचय देते हैं कि वे कौन हैं, कहाँ से आये हैं और उनकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं? इस तरह पात्रपरिचय हो जाने के बाद टेकिये कथावस्तु का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं और मंगलाचरण, ईशवंदना आदि के माध्यम से नाट्य लेखक, अभिनेता तथा नाट्य आयोजकों के गुणानुवाद करते हैं। उस समय पात्र या तो रंगमंच पर ही स्थिरभावी होजाते हैं या बीकानेरी रम्मतों की तरह रंगमंच पर ही अपने निर्धारित स्थानों पर विधिवत बैठ जाते हैं। वर्ण्य विषय की समाप्ति पर वे टेकियों की टेक के साथ तीव्रगति से नाचने लगते हैं या अपने भालों की नोक पर पाँवों की ठोकर लगाकर रंगभूमि में गतिशील होजाते हैं या 'यक्षनाट्य' की तरह यवनिका के पीछे से मुद्राएँ दर्शाते हुए रंगमंच पर उछल पड़ते हैं और अपने विवादी पात्रों के साथ संभाषणों में निरत हो जाते हैं। गीत नृत्यों की गंगा बहने लगती है और दर्शकवृन्द उसमें गोते लगाने लगते हैं। एक ही बात को अनेक प्रकार से तथा ऐक ही गीत-संवाद को नाना प्रकार से धुनें बदल-बदल कर प्रकट किया जाता है। प्रस्तुतीकरण के इस वैविध्य के

कारण ही इन लोकनाट्यों का कलेवर अत्यधिक बढ़ जाता है और घंटों तक एक ही संवाद चलता रहता है, जबकि बात केवल यही कही जाती है कि "तूने मुझे कल अपमानित किया था। मैं इसका बदला ज़रूर चुकाऊँगा।" या "तुझे पहाड़ की चोटी से गिरा दूँगा।" या "तुझे मौत के घाट उतार दूँगा।" इस तरह वाद-विवाद होता है। क्रोध और आवेश की मात्रा के अनुसार धुनें बदलती हैं। नृत्य की भंगिमाओं में तेजी आती है। साजबाज आकाश को फाड़ने लगते हैं। विजय प्राप्त करने पर विजेता छाती तानता हुआ रंगमंच को फाँदकर दर्शकों में घुस जाता है। परास्त व्यक्ति यदि दुष्टात्मा होता है तो उसकी पराजय पर समस्त दर्शकगण तालियाँ बजाने लगते हैं और सर्वत्र हर्ष की लहर दौड़ पड़ती है। यदि वह सज्जन व्यक्ति है तो समस्त जनता द्रवित हो जाती है और इस अनुचित व्यवहार पर विजेता को कोसने लगती है। परास्त हुआ व्यक्ति रंगमंच से कब उठकर भाग गया है, इसका किसी को पता नहीं है क्योंकि परदा नहीं गिरता, रोशनी गुल नहीं होती। आगे की घटना यह है कि परास्त व्यक्ति अपने राजा के यहाँ फ़रियादी होकर जाता है परन्तु रास्ता बहुत विकट है। जिस गाँव में यह घटना घटित हुई है वह राजधानी से काफ़ी दूर है। उसके घायल शरीर पर गाँव के लोग औषधोपचार करते हैं तथा उसे राजधानी तक पहुँचाने में उसकी सहायता करते हैं।

घटनास्थल पर घायल होने के बाद दवा-दारू करने तथा जनता-जनार्दन का प्रेमभाजन बनकर उनकी सहायता से राजधानी तक पहुँचने की महत्त्वहीन एवं अनाटकीय कथावस्तु को टेकिये, सायर, सूत्रधार, विदूषक, हलकारे आदि अपनी मधुर गायनशैली में वर्णन द्वारा पूरा कर लेते हैं। यही वर्णन एक दृश्य से दूसरे दृश्य की कड़ी जोड़ता है तथा बीच की अवधि को पार करके कथा को सक्रिय बनाकर रंगस्थल तक ले आता है।

आगे का प्रसंग मूल रंगमंच के नीचे की भूमि पर संपादित नहीं होता। अब पीछे की भव्य अट्टालिका सक्रिय हो जाती है जिसकी दर्शकगण अबतक बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। ऊपर राजदरबार लगा हुआ है। नर्तकी नाच रही है। गायकवृन्द गा रहे हैं। दर्शकों का मनोरंजन हो रहा है। फ़रियादी पहुँचता है। रागरंग बंद होजाता है। राजा आने का प्रयोजन पूछता है। यह प्रसंग लगने में बहुत छोटा है। फ़रियादी भी कोई विशेष व्यक्ति नहीं है। संभाषण में तीव्रता तो तब आये जब पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, वादी-प्रतिवादी तथा दो चमत्कारिक पुरुषों के बीच संवादों की गंगा

बहती हो। एक साधारण प्रजाजन राजदरबार में पहुँचकर क्या फ़रियाद करे ? वैभव और समृद्धि से लिपटा हुआ राजा एक साधारण व्यक्ति से क्या बात करे ? कथावस्तु के तीव्रतम प्रसंग ही संभाषण को गतिवान बनाते हैं परन्तु यह प्रसंग नाट्यकार ने इसलिये चुना है कि यह फ़रियादी साधारण फ़रियादी नहीं है। उसमें एक रहस्य छुपा हुआ है। राजा ने अपने युवाकाल में अपने दासीपुत्र को लोकलाज के कारण नदी में बहा दिया था तथा उसकी माता को भी देश निकाला दे दिया था। बहते हुए इस बालक को दूर गाँव के किसी कुम्हार ने पालपोस कर बड़ा किया था। पिता पुत्र दोनों को ही परस्पर के इस घनिष्ट संबंध का पता नहीं है।

लोकनाट्यों में इस प्रकार के प्रसंग जब भी आते हैं तो भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुसार संबंधित पात्रों की रक्त-प्रवाहिणी शिराएँ कंपायमान हो जाती हैं। अज्ञात ही अज्ञात में दोनों के हृदय हिलोरें लेने लगते हैं। दोनों के व्यवहार में एक विचित्र सा आवेग उत्पन्न होता है। आत्मीयता अंदर ही अंदर से प्रेरित करती है। दोनों किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एक दूसरे की तरफ़ देखने लगते हैं। चाहते हुए भी एक दूसरे को संबोधित नहीं किया जाता। दर्शकों में उत्सुकता बढ़ती है। भावनाएँ चरम सीमा तक पहुँच जाती हैं। गीतों की धुनें करुण स्वरों से ओतप्रोत होजाती हैं। शब्दावली कोमल-कान्त हो जाती है। राजा कह पड़ता है – मैं विचित्र सा अनुभव कर रहा हूँ, मेरा सिर चक्कर खारहा है। वह मूर्च्छित हो जाता है। फ़रियादी युवक भी विह्वल हो उठता है परन्तु वह रहस्य समझ नहीं पाता।

घटना आगे बढ़ने से रुक जाती है क्योंकि यह वर्ण्य विषय है। दृश्य-रूपक बनने की इसमें क्षमता नहीं है। टेकिये तथा अन्य परिचायकगण उलझी हुई कथा के धागों को सुलझाते हैं। वर्णन द्वारा प्रकट करते हैं कि नदी में बालक बहकर किसी कुम्हार के हाथ लगा। वहाँ पर वह बड़ा हुआ। एक दिन वह बर्तनों के लिये मिट्टी खोद रहा था। खेत के मालिक ने मिट्टी खोदने से मना किया। झगड़ा बढ़ गया। मारपीट हुई। युवक फ़रियादी बनकर राजा के पास गया। उधर दासी पुत्र-वियोग में जंगल-जंगल भटकती रही परन्तु कहीं उसे अपना पुत्र नहीं मिला। एक दिन बर्तन खरीदने के लिये किसी गाँव में कुम्हार के घर पहुँची। वहाँ पर उसने उस प्रौढ़ बालक को देखा। उसका प्रेम अंदर ही अंदर उमड़ आया। परिचय पूछने पर कुम्हार ने बतलाया कि उसने उस बालक को इस नदी में बहते हुए पाया था। दासी

सारा रहस्य समझ गई और उसी कुम्हार के घर नौकर होगई और बालक का अज्ञात में पालन-पोषण करती रही। यही दासीपुत्र राजा के पास फ़रियादी होकर पहुँचा था।

उधर राजा ने दरबारियों को हुक्म दिया कि इस युवक को कुछ दिन राजमहलों में बड़े स्नेहभाव से रखा जाय। कथावस्तु का यह अन्य-प्रसंग टेकियों, शायरों तथा कवियों का वर्ण्य विषय बन गया। पुनः घटनाएँ रंगमंच पर उतर आईं। माच के नीचे जाजम पर भगवाँ वस्त्र पहिने एक ब्राह्मण पूजा-पाठ में निरत था। राजा स्वयं उस स्थल पर आया। समस्त दृश्य महलों से उतरकर ब्राह्मण के आंगन में आगया। राजा ने स्वयं का परिचय इसलिये नहीं दिया क्योंकि जब वह प्रथम बार रंगमंच पर आया था तो नाट्य-परम्परा के अनुसार वह दर्शकों को अपना परिचय दे चुका था। नाट्यकार यह मानकर चलता है कि राजा का परिचय जनता को पहले ही हो चुका है। परन्तु प्रथम बार रंगमंच पर उतरनेवाले ब्राह्मण का परिचय इसलिये आवश्यक नहीं समझा गया, क्योंकि वह एक महत्त्वहीन पात्र था। इसलिये टेकिये द्वारा ही उसका परिचय दिया जाना पर्याप्त समझा गया। राजा तथा ब्राह्मण के बीच संभाषण होने के बाद ब्राह्मण शकुन विचार कर कहता है कि वह फ़रियादी कुम्हार-पुत्र न होकर तुम्हारा ही दासीपुत्र है। लोकनाट्यों में मानवी आदर्शों से कहीं अधिक लोकाचार को महत्त्व दिया जाता है। इस रहस्योद्‌घाटन के बाद ही राजा के दिल में फ़रियादी के प्रति प्रेम नहीं बरा रह गया और वह आवेशपूर्वक घटनास्थल से हट गया।

इस स्थल पर जो दृश्य-परिवर्तन हुआ उसमें केवल ब्राह्मण तथा राजा का ही प्रस्थान दिखलाना पर्याप्त समझा गया। टेकियों तथा पृष्ठगायकों ने शेष प्रसंग को वर्णन में समेटकर यह बतला दिया कि राजा ने बच्चे की फ़रियाद सुनने के बजाय उसे देश निकाला दे दिया और अपनी माँ से वह मिल न पावे इसलिये उस राज्य की समस्त सीमाएँ उसके लिये बंद करदीं।

रंगमंच के प्रमुख माच के नीचे की जाजम अब दृश्य-परिवर्तन के साथ ही जंगल, पहाड़ तथा बीहड़ घाटी बन गई। लड़का देश निकाले के बाद जंगल-जंगल भटकने लगा। टेकिये जंगल की बीहड़ता तथा भयानकता का वर्णन-गान कर रहे हैं और दासीपुत्र जल्दी-जल्दी जाजम के चारों ओर चक्कर लगा रहा है। इसी घुमाव में उसे कई दिन बीत गये, कई रातें बीत गईं, कई वर्ष बीत गये। रास्ते में उसे एक शेर भी मिलता है। उससे वार्तालाप

होती है। लोकनाट्यों के पशु भी इन्सान की तरह बात करते हैं। सिंह उसे रास्ता दिखलाता है। लोकनाट्यों के हिंसक जानवर दुष्टों के लिये घातक होते हैं परन्तु दुखीजनों के सहायक होते हैं। राजस्थान के 'रासधारी' नामक नाट्य में राम और गिद्ध का संवाद अत्यन्त मार्मिक ढंग से दर्शाया गया है और सीता अशोकवाटिका में पशु-पक्षियों से बात करती है।

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय लोकनाट्य घटनात्मक नहीं होकर गाथात्मक होते हैं। आधुनिक नाट्य में नाट्यकार को किसी कथाविशेष को नाट्यरूप देने के लिये उसके समस्त वर्णनात्मक एवं गाथात्मक पक्ष को संवादात्मक रूप देकर तदनुसार उसका दृश्यविधान करना पड़ता है और कथावस्तु को पूर्णता तक पहुँचाने के लिये अनेक नाटकीय तत्त्वों, प्रेरणात्मक प्रसंगों तथा कुतूहलवर्धक स्थितियों का विधान करना पड़ता है, परन्तु लोकनाट्य इस जटिल तंत्र की उलझनों में नहीं फँसता। वह प्रचलित गाथा के समस्त तंत्र को ज्यों का त्यों अपना लेता है और उसे अपने ढंग से रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं तथा रासलीलाओं में प्रचलित गाथात्मक तत्त्वों पर ही नाट्यतत्त्व आधारित रहते हैं। रासलीला में रासधारिये प्रचलित कृष्णलीलाओं के गीत गाते हैं और अनेक दर्शनीय प्रसंगों को उनमें लपेटकर, उन अभिनेय-घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं जिनमें भगवान् का चरित्रोत्कर्ष दर्शाया गया हो। ये विशिष्ट प्रसंग हैं – कृष्णजन्म, कालियदमन, पूतनावध, गिरिवरधारण, माखनचोरी, चीरहरण, कंसवध आदि। इन प्रसंगों में रासधारिये मूलगाथाओं का गीतवाचन करते हैं और लीला के विविध स्वरूप (पात्र) उनका अर्थ उलथाते हुए कभी गद्य में कभी पद्य में संभाषण करते हैं। यद्यपि ये सभी प्रसंग कथात्मक दृष्टि से एक सूत्र में बँधे हुए नहीं हैं, परन्तु रासधारिये अपने टेक-गायन द्वारा उनके बीच की कड़ियाँ जोड़ते जाते हैं और कथावस्तु भगवान् कृष्ण की विविध लीलाओं का उत्कर्ष बतलाती हुई आगे बढ़ जाती है। इस शैली का रंगमंच रास की गोलाकार समतल भूमि ही है और वही सब घटनाओं की रंगस्थली भी। इस नाट्यशैली में दृश्य, स्थान तथा समय-परिवर्तन की एक बहुत ही सुन्दर प्रणाली विद्यमान है। एक प्रसंग की समाप्ति पर सभी पात्र गोलाकार रास में सम्मिलित हो जाते हैं। यह रास प्रत्येक प्रसंग के महिमागान तथा भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के समापन के रूप में प्रस्तुत होता है। राजस्थानी भीलों के गवरी नाट्य में भी

प्रत्येक प्रसंग के बाद गोलाकार सामूहिक नृत्य की योजना है जो विविध दृश्यों को एक सूत्र में जोड़ता है ।

मथुरा की रंगमंचीय रामलीलाओं में भी कथावाचक रामचरितमानस का पाठ करते हैं । रामलीला के विविध स्वरूप प्रारम्भ में रंगमंच पर बैठ जाते हैं । उनकी आरती उतारी जाती है तथा मंगलगान होता है । तदुपरान्त चौपाई का अक्षुण्ण पाठ प्रारम्भ हो जाता है । कथा के वर्ण्य विषय चौपाइयों में समाहित हो जाते हैं तथा अभिनयस्थलों पर पात्र विविध वेशभूषाओं में रंगमंच पर आते हैं तथा चौपाई-गायन के उपरान्त उनका अर्थ गद्य में उतारते हुए संभाषण करते हैं । दृश्यपरिवर्तन कभी परदे के माध्यम से या कभी अगले आगे वर्ण्य पाठ के साथ संपन्न हो जाता है । तत्काल राजदरबार लग जाता है । राम वनगमन पर पात्रगण रंगमंच पर कई बार चक्कर लगाते हैं । रंगमंच के नीचे, सामने या रंगमंच के किसी एक कोने में पंचवटी का अस्तित्व समझ लिया जाता है । इसी तरह अवधपुरी, जनकपुरी, लंकापुरी आदि भी बीच में छूटे हुए रंगमंच के नीचे बिछी हुई जाजम पर अवस्थित समझली जाती हैं । दृश्यपरिवर्तन के समय कथावाचक जोर-जोर से कथावाचन करने लगते हैं । साजों की आवाज बुलन्द हो जाती है । एक ही दिन में रामलीला को समाप्त नहीं करने के पीछे भी एक विज्ञान है । एक दिन में पूरे होने वाले प्रसंग विशिष्ट अवधियों को समेटते हैं तथा एक ही स्थल पर अधिक से अधिक प्रसंग अभिनीत हों, उसका भी प्रतिदिन के दृश्य की परिपूर्ति के समय पूरा ध्यान रखा जाता है । १५ दिन की रामलीला के १५ प्रसंग या १५ स्थलों का अनुमान लगाकर नाट्य नियोजित किया जाता है ।

अधिकांश लोकनाट्यों में विविध प्रसंग आपस में बहुत ही ढीले-ढाले गुँथे हुए नजर आते हैं । एक दृश्य दूसरे का पूरक हो यह भी आवश्यक नहीं है । बल्कि कहीं-कहीं तो स्वयं नाट्य के पात्र भी एक दूसरे के पूरक नहीं होते । कभी-कभी मनोरंजनार्थ बीच-बीच में आई हुई अप्रासंगिक घटनाएं मूलकथा के सूत्र को तोड़ देती हैं और उनका सम्बन्ध आने वाले प्रसंग से मुश्किल से जुड़ता है । किसी विशेष उद्देश्य से नाट्य में अनेक पात्र ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं जो अपना पूर्ण उत्कर्ष बतलाये बिना ही कहीं छिपे रहते हैं ।

लोकनाट्यों में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो किसी विशेष लक्ष्य से संपादित नहीं होते । वे केवल किसी तात्कालिक महत्ता के लिये प्रयुक्त होते हैं और मूल-कथा को परिपुष्ट नहीं करते । लोकगाथाओं में जिस तरह अनेक प्रासंगिक

अप्रासंगिक गाथाएँ आती जाती हैं और अपनी पूरी झलक दिखाये बिना ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह लोकनाट्यों के प्रसंगों का अप्रासंगीकरण चलता ही रहता है। लोकनाट्यों के व्यवहार-पक्ष में इस तरह के चाहे कितने ही क्षेपक आते हों; परन्तु उनके समापन के समय अधिकांश कथावस्तु भटक कर भी एक जगह आ जाती है तथा किसी शुभ लक्ष्य की परिपूर्ति करती है। खोये हुए प्रसंगों में से वे प्रसंग, जो कथावस्तु के प्रमुख अंग हैं, पुनः माला में गुंथने लग जाते हैं तथा भूलभुलैया में पड़े हुए चरित्र पुनः रास्ते पर आ जाते हैं।

लोकनाट्यों में लोकगाथाओं की तरह ही समस्त कथावस्तु समतल भूमि पर बहनेवाली शान्त स्निग्ध सरिता की तरह अबाध गति से बहती है। ऐसी चमत्कारिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती जिससे श्रोता एवं दर्शकगण में निरन्तर कुतूहल बना रहे। समस्त लोकनाट्य गाथात्मक होने के नाते उनकी कथावस्तु अपने समस्त वैभव को किसी भी रहस्य या चमत्कार में लपेटे बिना ही दर्शक एवं श्रोताओं के सामने प्रस्तुत हो जाती है। लोकनाट्यों का समस्त कलेवर अपने आडम्बर एवं साज-सज्जाहीन खुले रंगमंच की तरह ही खुला रहता है। उसमें कोई भी चीज छिपाने तथा रहस्यमय ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। आधुनिक नाट्य की तरह उसे अपनी वर्ण्य सामग्री को बचाकर केवल दृश्यात्मक सामग्री ही प्रस्तुत नहीं करनी पड़ती और न उस छिपाई हुई वर्ण्य सामग्री को किसी चमत्कार तथा रहस्योद्घाटन की शैली में पेश करने की ही आवश्यकता होती है।

लोकनाट्यों का आधुनिक नाट्यों पर प्रभाव

लोकनाट्यों की स्वस्थ, वैज्ञानिक तथा मानव-स्पर्शी परम्पराओं ने आधुनिक नाट्यों को काफी मात्रा में प्रभावित किया है। वे मानवीय भावनाओं तथा आकांक्षाओं का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें मानवीय अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। रंगमंचीय विधाएँ, तंत्र तथा शास्त्र आदि के नियंत्रण से उनकी आत्मा कुंठित नहीं होती। आधुनिक नाट्यतंत्र ने नाटक को इतना जकड़ लिया है कि वह एक प्रकार से यंत्र सा बन गया है। उसमें से प्राण जैसे निकल गये हैं। आधुनिक दृश्यविधान तथा यंत्र की चमत्कारिक उपलब्धियों ने दर्शकों को आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया है, परन्तु उनकी आत्मा नाटक की आत्मा से आत्मसात् नहीं करती।

आधुनिक विद्युत् के चमत्कारों ने वे स्थितियां रंगमंच पर उपस्थित करदी है जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इन तकनीकी उपलब्धियों से आज मोटर, रेल तथा हवाईजहाज भी रंगमंच पर आ जाते हैं। समुद्र की तूफानी लहरें रंगमंच पर उतर आती हैं। मनुष्य रंगमंच पर ही आकाश और पाताल से बातें करने लगता है। प्रकाश के चमत्कार से आदमी क्षण भर में रंगमंच पर प्रकट होता है और क्षण ही भर में अन्तर्धान हो जाता है। ध्वनिविस्तारक यंत्र के माध्यम से पात्र दर्शकों के कान ही में बोल देता है। वेशविन्यास के आधुनिक चमत्कारों से युवा पुरुष वृद्ध बन सकता है और वृद्ध युवा में परिवर्तित हो सकता है। रंगमंच पर ही वे स्थितियां पैदा की जा सकती है कि दर्शकों को स्वयं किसी भी स्थिति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। रंगमंच पर पात्र इस निपुणता और पूर्णता के साथ पेश किये जाते है कि उनके वास्तविक मानवीय स्वरूप की कल्पना करना ही मुश्किल है। कौन व्यक्ति किसका अभिनय कर रहा है, यह भी पता लगाना नितांत कठिन है। पलक झपने मात्र में दृश्य बदल जाते हैं। क्षणभर में मूसलाधार वर्षा होने लगती है। क्षण में पृथ्वी भयंकर ताप से झुलसने लगती है। आधुनिक नाट्य की ये सब उपलब्धियां मनुष्य को आश्चर्य में डाल देती हैं। फिल्मों के प्रचार ने, जहां इन रंगमंचीय नाटकों को क्षति पहुँचाई है, वहां उनके काम को हल्का भी किया है। फिल्म और नाटक का एक सम्मिलित प्रयोग आज के रंगमंच की विशेषता बन गई है। वास्तविक रंगमंचीय दृश्य के साथ ही फिल्म चल पड़ती है, जिसमें रंगमंच के समस्त पात्र अपनी पूर्व स्थिति से निकल किसी परिवर्तित स्थिति में दृष्टिगत होते हैं। पलक मात्र में वे कहां से कहां पहुँच जाते हैं। जो दृश्य रंगमंच पर असंभव से प्रतीत होते हैं, उनको फिल्म द्वारा इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि वे वास्तविक ही नजर आने लगते हैं।

इन सब विस्मयकारी तकनीकी चमत्कारों में दर्शक की आंखें उलझ जाती हैं और वह नाटक की मूल आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। प्रदर्शनोपरांत दर्शक यही कहते हुए निकलता है—नदियों की भयंकर बाढ़ें रंगमंच पर किस खूबी से दिखलाई गई थी, जमीन पर खड़ा हुआ आदमी बात ही बात में किस तरह आकाश में उड़ गया, भयंकर आग की लपटों ने रंगमंच का बाल भी बांका नहीं होने दिया। विरलों ही के मुंह पर यह सुना जाता है कि अमुक पात्र ने कितना सुन्दर अभिनय किया तथा नाट्य लेखक की कलम ने कितना सुन्दर चमत्कार दिखलाया तथा अमुक पात्र ने कितना सुन्दर गाया! सबको यह मालूम है कि वह गीत पात्र द्वारा नहीं गाया गया था। किसी पार्श्व-

गायक ने अपना कंठ उसे प्रदान किया था। यही कारण है कि पात्र के कंठ से निकली हुई स्वरलहरियां उसकी वेदना के साथ संवेदित नहीं हुईं।

ये सब तकनीकी उपलब्धियां लोकनाट्यों में कहां ? उनका रंगमंच सादा, आडंबरहीन, दृश्यविधान, प्रकाश-व्यवस्था व ध्वनिविस्तारक यंत्र उनके पास कहां ? पात्रों को वेशभूषा बदलने के लिये पृथक् स्थान कहां ? यदि नदी पार करनी होती है तो लोकनाट्य के पात्र अपनी टांगों से कपड़ा ऊपर उठाकर चलते हैं। पहाड़ों पर चढ़ना होता है तो वे ऊँची-ऊँची छलांगें भरते हैं। यदि अभिनय करते समय तत्काल ही किसी दूसरे पात्र की आवश्यकता होती है तो पात्र स्वयं अपने शरीर पर कपड़ा लपेटकर उस व्यक्ति का अभिनय करने लगते हैं तथा कभी-कभी कुछ विशिष्ट प्रसंगों में दर्शकों को ही विवादी पात्र मानकर उनसे संवाद करने लगते हैं। दर्शक स्वयं भी कभी-कभी आत्मविभोर होकर उनसे बातें करने लगता है। रंगमंच पर भावोद्रेक का वातावरण देखकर वह स्वयं भी उत्साहित हो जाता है। वह रंगमंच के पात्रों के साथ रोता है और उनके साथ हँसता है। नाट्य-समाप्ति पर उसे यह भी भान नहीं रहता कि नाटक खत्म हो गया है या चल रहा है।

आधुनिक नाट्यों के उलझे हुए तंत्र से कलाप्रेमी जनता ऊब सी गई है। वह नाटक के मर्म तक पहुँचना चाहती है। वह पात्र से सही माने में मित्रता करना चाहती है। उसकी भावनाओं में अपनी भावनाओं का तालमेल बिठाना चाहती है। वह पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष देखना चाहती है। उसके लिये यह कल्पना बिलकुल कठिन नहीं है कि पात्र महलों में बैठा है या झोंपड़ी में, दूर जंगल में विचर रहा है या शहर की सड़कों पर। वह कल्पनाओं को पात्रों के माध्यम से साकार करना चाहता है, रंगमंचीय तन्त्र के माध्यम से नहीं। वह ध्वनिविस्तारक यंत्र के माध्यम से संगीत का स्वाद नहीं लेना चाहता। वह अभिनेता के कंठ से स्फुरित हुई असली आवाज का रसास्वादन करना चाहता है। दर्शकों की यह अभिलाषा आधुनिक बहुतंत्री नाटकों से कभी पूरी नहीं हो सकती। दर्शकों की यही पिपासा आधुनिक यांत्रिक नाटकों को आमूलचूल परिवर्तन की ओर प्रवृत्त कर रही है। रंगमंचीय नाटक को फिल्म की नकल नहीं बनाकर वास्तविक नाट्यमंच बनाने की चेष्टा सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। यही कारण है कि आज का नाटक लोकनाट्योन्मुखी होरहा है।

आज सर्वत्र यह चेष्टा दीख पड़ती है कि लोकनाट्यों के उसूलों का आधुनिक नाटकों में अनुसरण किया जाय। रंगमंच या रंगस्थली के चारों तरफ

या कम से कम तीन तरफ़ दर्शकों के बैठने की व्यवस्था प्रायः सभी लोकनाट्यों में होती है। दर्शक और प्रदर्शकों के बीच का फ़ासला कम करने की चेष्टा, जो आधुनिक ढंग के नाट्यों में हो रही है, वह लोकनाट्यों की प्रेरणा ही समझना चाहिए। यूरोप में आधुनिक ढंग के थियेटरों में रंगमंच इस प्रकार बनने लगे हैं कि दर्शक-प्रदर्शकों का फ़ासला कम से कम हो गया है। अभिनेतागण दर्शकों के अत्यन्त निकट आकर काम करते हैं। दर्शक अभिनेताओं की भावनाओं में मिल जाता है। उनकी श्वासों में अपनी श्वासें मिलाता है। ध्वनिविस्तारक यन्त्र भी अब आधुनिक थियेटरों से गायब हो गया है। दर्शक-प्रदर्शक का फ़ासला कम हो जाने से अब दर्शकों को प्रदर्शकों की मौलिक आवाज़ का आनन्द मिलता है।

आधुनिक थियेटरों में अब तकनीकी उपलब्धियों पर विशेष आग्रह नहीं है। बक्सनुमा रंगमंच बनाने की प्रथा, जो अब तक प्रचलित थी, अब प्रायः लुप्त सी हो रही है। पात्र पृष्ठभूमि से बाहर निकल कर दर्शकों के बीच फैले हुए रंगमंच पर फैल जाते हैं और अपने करतब दिखलाते हैं। किन्हीं-किन्हीं अत्यन्त आधुनिक थियेटरों में तो अभिनेता के रंगमंचीय प्रवेश का मार्ग दर्शकों के बीच ही बना हुआ होता है तथा बहिर्गमन के लिए अब चमत्कारिक परिस्थितियों की आवश्यकता नहीं है। अब पात्र रंगमंच पर सहज ही आ जाते हैं और सहज ही चले जाते हैं। दृश्यविधान की दृष्टि से भी आधुनिक रंगमंच पर एक क्रान्ति सी आई हुई है। दृश्यावली वाले परदों का समय अब बीत चुका। अब एक रंगीन परदे की पृष्ठभूमि पर ही बड़े-बड़े दृश्यों की कल्पना करली जाती है। जिस तरह लोकनाट्यों में पृष्ठभूमि की दीवार या परदे के सहारे सभी काम सम्पन्न हो जाते हैं उसी तरह आधुनिक नाटकों में भी एक ही परदे पर कई काम हो जाते हैं। लोकनाट्यों में जिस तरह प्रतीक स्वरूप एक पेड़ की डाली को रंगमंच पर ले आने से समस्त जंगल की कल्पना साकार हो जाती है, महलों के लिए केवल एक गुम्बजनुमा दरवाजा खड़ा कर देने से सम्पूर्ण महल समझ लिया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाटक में प्रतीकात्मक संकेतों के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी सांकेतिक वस्तु रख देने से पूरे दृश्य की कल्पना हो जाती है।

आधुनिक नाट्यों में वेशभूषा की दृष्टि से भी पर्याप्त मात्रा में सरलीकरण की ओर आग्रह है। विशेष पात्र के शृंगार में उसकी पोशाक की कोई प्रतीकात्मक वस्तु पहिन लेने या लगा लेने से पूरे पात्र की कल्पना साकार हो जाती है। दर्शकों को चकाचौंध में डालने वाली कोई भी वस्तु या प्रसाधन का उपयोग आधुनिक रंगमंच पर अनुचित समझा जा रहा है। जिस तरह लोकनाट्यों

तथा वाद्यकारों को लोकनाट्यों में खुले ग्राम बिठलाया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाट्यों में भी अब संगीतकारों को छुपाया नहीं जाता, रंगमंच पर सबके सामने बिठलाया जाता है। दृश्य-परिवर्तन के लिए भी लोकनाट्यों की तरह ही आधुनिक रंगमंच पर सबके सामने रंगमंचीय सामग्री लाई या उठाई जाती है। रोशनियों की चकाचौंध अब आधुनिक नाट्यों में विशेष महत्त्व नहीं रखती। आधुनिक नाट्यों में रंगमंचीय विधान, वेशविन्यास, नाट्यरचना आदि में जो प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण किया जा रहा है, वह सब लोक-नाट्यों की ही देन है।

आधुनिक रंगमंच की रचना भी लोकनाट्यों के खुले रंगमंच के अनुसार ही होने लगी है। प्रेक्षालय भले ही चहारदीवारी से आवृत हो, उसकी छत भी चाहे ढकी हुई हो, परन्तु उसका रंगमंच लोकशैली पर ही बनाया जाता है। उसका अभिनय-क्षेत्र अब प्रेक्षालय में दर्शकों की गोदी तक फैल गया है। दृश्य-परिधि भी अब डिबिया जैसी नहीं बनकर लोकनाट्यों के खुले भरोखे की तरह ही बनती है। लोकनाट्यों में विविध स्थलों तथा अट्टालिकाओं से उतर-चढ़कर अभिनय करने की जो शैली है उसका प्रभाव अब आधुनिक ढंग के रंगमंच पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनेक आधुनिक ढंग के प्रेक्षालयों में रंगमंच के पीछे की दीवार पर उतरने-चढ़ने की सीढ़ियों का जो समावेश हुआ है वह इन्हीं लोकनाट्यों का प्रभाव समझना चाहिए। इन्हीं सीढ़ियों से पात्र उतरते-चढ़ते तथा रंगमंच पर आते हैं।

यूरोपीय थियेटरों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। लोकनाट्यों की तरह रंगस्थली के चारों ओर दर्शकों के बैठने की प्रणाली भारत में अनादि-काल से चली आ रही है। आज भी अनेक लोकनाट्य गोलाकार रंगस्थली की शैली में ही प्रस्तुत होते हैं। यूरोप में कई आधुनिक थियेटर इस शैली में ही निर्मित हुए हैं। रंगस्थली समतल भूमि पर गोल आकार में होती है, जिसके चारों ओर दर्शकों के बैठने की गेलेरियाँ हैं। नाट्य-प्रस्तुतीकरण में भी अभि-नेता कोने में बैठे हुए दर्शकों का पूरा ध्यान रखते हैं। अभिनय-स्थल से चारों दिशाओं में निकली हुई गलियाँ होती हैं जिनसे प्रदर्शक रंगस्थली में प्रवेश करते हैं और अभिनयोपरान्त पुनः बहिर्गमन करते हैं। रंगस्थली के ऊपर छत पर लगी हुई रोशनियों का जाल लगा रहता है, जो अभिनेताओं के अंग-प्रत्यंग को आलोकित करता है। यह प्रकाश-व्यवस्था इस चतुराई से की गई है कि रंगस्थली के अलावा प्रेक्षालय के सभी क्षेत्र अंधकारमय होते हैं। कभी-कभी

अभिनेता अपने अभिनय की समाप्ति पर दर्शकों के बीच ही बैठ जाते हैं। दर्शकगण प्रदर्शन में इतने लीन रहते हैं कि उन्हें यह पता भी नहीं रहता कि अभिनेता कहाँ गये, कहाँ से आये और कहाँ बैठे हैं।

जिस तरह लोकनाट्यों में अनेक स्थितियाँ तथा कलाप्रसंग की अनेक बातें दर्शकों की कल्पना पर छोड़दी जाती हैं, उसी तरह आधुनिक नाट्यतंत्र में भी नाट्यप्रसंग की कई बातें दर्शकों की कल्पना पर अवलंबित रहती हैं। आधुनिक नाटकों में परदे तथा दृश्यावलियों की योजना भी दिन-ब-दिन कम होती जाती है और केवल प्रतीकों के सहारे नाटक चलता है। बिना किसी बाह्य उपकरण के नाटक रंगस्थली में शुरू हो जाता है और दृश्य-परिवर्तन के समय रंगमंच को अंधकारग्रस्त कर देना ही पर्याप्त समझा जाता है। इन सब आधुनिक परिवर्तनों से यह परिलक्षित होता है कि आधुनिक रंगमंच को लोकपरम्पराओं ने कितना प्रभावित किया है। रंगमंचीय उपकरणों में जितनी ही सरलीकरण की प्रवृत्ति आई है उतना ही नाटक ताकतवर बना है तथा अभिनय में जान आई है। नाटकीय बनावट तथा नाट्याभिनय की तकनीकी बारीकियों में फँसकर भारतीय शास्त्रीय नाट्य जिस तरह नष्ट हो गया उसी तरह की स्थिति आज आधुनिक तंत्र में फंसे हुए नाटकों की हो रही है। दोनों के ह्रास के पीछे लोकनाट्यों की ही बहुमुखी प्रतिभा का हाथ है। लोकनाट्यों की रचना में जिस तरह सभी नाट्यतत्त्वों के विकास की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसी तरह आधुनिक नाट्य की बनावट में भी सभी नाट्यतत्त्वों के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझी जा रही है। भारतीय आधुनिक नाट्यतंत्र के विकास में लोकनाट्य जितना सहायक हुआ है उतना शास्त्रीय नाट्य नहीं। आधुनिक नाट्यों के कथानक अब शास्त्रीय नाट्यों की तरह उच्चकुलीन तथा उच्चवर्गीय महापुरुषों के जीवन पर ही अवलंबित नहीं रहते। अब निम्नवर्गीय व्यक्ति भी आधुनिक नाटक का विषय बन सकता है। आधुनिक नाटक के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि नाट्य का नायक कोई दुष्ट या खल नहीं हो। यदि उसके जीवनवृत्त में भी नाट्यतत्त्व विद्यमान हैं और कथाप्रवाह चरम तक पहुँच सकता है तो वह भी नाट्यका विषय बन सकता है। लोकनाट्यों की यह परम्परा आधुनिक नाट्यरचना में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतवर्ष में पिछले १०० वर्षों में अनेक नाटक लिखे और खेले गये हैं परन्तु एक भी नाटक ऐसा नहीं है जिसने शास्त्रीय नाटकों का अनुशीलन किया हो।

आधुनिक ढंग के भारतीय नृत्यनाट्यों तथा बेले नाट्यों को भी लोकनाट्यों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय लोकनाट्य यूरोपीय ऑपेरा शैली के बहुत निकट हैं। वे उन्हीं की तरह संगीतप्रधान होते हैं। उनमें भी जीवनवृत्त के रूप में समस्त जीवन का चित्रण अपेक्षित नहीं है। भारत के आधुनिक नृत्यनाट्यों ने तो अपनी समस्त परम्परा भारतीय लोकनाट्यों से प्राप्त की है। आधुनिक भारतीय नृत्यमंडलियाँ अपने नृत्यनाट्य को बेले (Ballet) नाम से नामांकित करती हैं जब कि बेले की कोई परम्परा हमारे देश में विद्यमान नहीं है। इस प्रणाली का उद्भव यूरोपीय देशों में हुआ है। बेले की समस्त भंगिमाएँ मूकाभिनय के रूप में होती हैं जब कि भारतीय नृत्यनाट्यों में मूकाभिनय जैसी कोई परम्परा नहीं है। हमारे देश में वर्तमान नृत्य-विशेषज्ञों द्वारा, जो नृत्यनाट्य प्रस्तुत हो रहे हैं, उनकी समस्त पृष्ठभूमि लोकनाट्यों ही से प्राप्त हुई है। इन नाट्यों के प्रमुख प्रवर्तक हैं श्री उदयशंकर, सचिनशंकर, स्वर्गीय शान्तिवर्धन, नरेन्द्र शर्मा आदि। इन स्वनामधन्य कलाकारों द्वारा रचित लगभग सभी कृतियाँ लोकाधारयुक्त हैं। इनके नृत्यों व नाट्यों के प्रस्तुतीकरण में लोकशैली का पूर्ण रूप से प्रतिपादन हुआ है। खुले रंगमंच की शैली में न्यूनतम दृश्यविधान से ही इनकी कृतियाँ अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत होती हैं। वाद्यकार भी खुले आम सबको दीखते हुए बैठते हैं तथा सादे रंग के परदों की पृष्ठभूमि पर स्थितिविशेष के सूक्ष्म प्रतीकों द्वारा बड़े-बड़े दृश्य-विधानों की कल्पना साकार की जाती है। वेशभूषा तथा साज-सज्जा में भी प्रतीकात्मक स्वरूपों के सहारे कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर लिये जाते हैं। श्रीयुत नरेन्द्र शर्माकृत रामलीला लोकशैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस रामलीला के समस्त दृश्यविधान, वादन, गायन, नृत्य, वेशविन्यास तथा रंगमंचीय उपकरण पूर्णरूप से लोकशैली का अनुशीलन करते हैं। लोकनाट्यों की तरह ही एक ही स्थल पर अनेक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण इस रामलीला की विशेषता है। उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली की आनुष्ठानिक रामलीलाओं ने इस रचना को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इन रामलीलाओं में पात्र जिस तरह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रयाण करते हैं उसी तरह इस रामलीला में भी पात्र प्रयाण करते हैं। दृश्य-परिवर्तन भी अधिकांश लोकशैली में ही होते हैं। समस्त नाटिका में ऊपर-नीचे या अगल-बगल चढ़ने-उतरने तथा खिंचनेवाले परदों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। आधुनिक नाट्यतंत्र के चौखटीय रंगमंच की शैली भी इसमें नहीं अपनाई गई है। दर्शकगण रंगमंच की तीनों दिशाओं में बैठते हैं तथा समस्त रामलीला

के लुप्तप्राय अंशों की पूर्ति रंगमंच के प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण से बड़ी आसानी से कर लेते हैं। रामलीला के समस्त पात्रों की वेशभूषा भी लोकशैली की वेशभूषा से ही प्रेरित हुई है। जनकपुरी, अयोध्या तथा लंका के दृश्य भी बिना विशेष साज-सज्जा के सामान्य प्रतीकों के सहारे बड़े प्रभावशाली ढंग से रंगमंच पर उपस्थित किये जाते हैं। पंचवटी और चित्रकूट के दृश्यों में केवल एक प्रतीकात्मक वृक्ष और पर्णकुटी ही समस्त वनखंड का प्रभाव पैदा कर देते हैं। श्रीयुत सचिनशंकर की रामलीला में यद्यपि लोकशैली का पूर्णरूपेण प्रतिपादन नहीं हुआ है फिर भी नाट्य-विधान तथा दृश्य-विधान की दृष्टि से वह भी पूर्णरूपेण लोकाधारित ही है। इस नृत्य-नाटिका की भावाभिव्यंजनाएँ तथा अंगभंगिमाएँ लोकशैली पर आधारित नहीं हैं फिर भी इसके समस्त लोकनृत्य लोकाधारयुक्त ही हैं। लिटिल बैले ग्रुप की कठपुतली रामलीला भारतीय कठपुतलियों की अंगभंगिमाओं तथा उसके प्रस्तुतीकरण का बहुत ही सुन्दर प्रतिरूप है। श्रीयुत पार्वतीशंकरकृत डिसकवरी आफ इण्डिया (Discovery of India) यद्यपि अनेक शैलियों का एक मिश्रण है, फिर भी प्रस्तुतीकरण और दृश्यविधान की दृष्टि से उसे लोकनाट्य प्रणाली ने काफ़ी प्रभावित किया है। बम्बई के श्रीयुत जोगेन्द्र देसाईकृत राम-शबरी नृत्य-नाटिका भी यद्यपि दृश्यविधान की दृष्टि से आधुनिक नाट्यतंत्र से काफ़ी प्रभावित हुई है परन्तु उसके समस्त लोकनृत्य और उसकी वेषभूषाएँ लोकाधारयुक्त ही हैं। गुजरात के सुप्रसिद्ध भवाई अभिनेता श्रीयुत जयशंकर सुन्दरी कृत मैनागूजरी नामक नृत्य-नाटिका तो लोकनृत्य-नाट्य का एक बहुत ही परिमार्जित और आधुनिक स्वरूप है। इसकी समस्त अभिव्यंजनाएँ और संवाद-गीतों की शैली विशुद्ध लोकनाट्यों की शैली है। प्रस्तुतीकरण में भी लोक रंगमंच की भावी कल्पना के इस नाटिका में बहुत ही सुन्दर दर्शन होते हैं।

श्रीयुत उदयशंकरकृत छोटी-छोटी नृत्य-नाटिकाएँ, जिनका आधार पौराणिक कथाएँ हैं, यद्यपि शास्त्रीय अंगभंगिमाओं और प्रतीकों का सहारा लेती हैं, फिर भी उनका समस्त प्रस्तुतीकरण और दृश्य-विधानों के प्रतीक लोकशैली से ही प्रभावित हुए हैं। श्रीयुत उदयशंकर की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि ने शास्त्रीय और लोकनृत्यों में अत्यंत सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। शान्तिनिकेतन द्वारा प्रस्तुत नृत्य-नाटिकाओं में, जिनमें 'चंडालिका' तथा 'चित्रांगदा' प्रमुख हैं, लोकनाट्य शैली का पूर्ण रूप से उपयोग हुआ है। 'लाहो-रबा' तथा 'थबल चुंगबी' जैसी मणिपुरी नृत्य-नाटिकाओं का उन पर बहुत बड़ा

प्रभाव है। रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तथा दृश्य-विधान तो उनके पूर्णरूपेण लोकाधारयुक्त है। इन नाटिकाओं के समस्त गीत भी लोकधुनों पर ही आधारित हैं।

भारतीय लोक-कला मंडल, उदयपुर की नृत्य-नाटिकाएँ, जिनसे लेखक का सीधा संबंध है, पूर्ण लोकाधार को अपने में समेटे हुई हैं। मंडल इस समय देश में लोकनृत्य और लोकनाट्यों के खोज, शोध और संशोधन की प्रथम संगठित संस्था है। इसकी सभी रचनाएँ गहन अध्ययन और विशद सर्वेक्षण पर आधारित हैं। संस्था के क्षेत्रीय कार्यकर्ता लोकनाट्यों के विविध स्वरूपों का स्थलीय अध्ययन करते हैं और उनकी विविध विधाओं के तुलनात्मक विश्लेषण से अपने प्रयोग-विभाग को सुसम्पन्न करते हैं। लोकनाट्यों के प्रत्येक पक्ष का सर्वेक्षण संपूर्ण होने के उपरान्त ही विशिष्ट परम्परागत लोकनाट्य का आधुनिक संस्करण संस्था में तैयार किया जाता है। इस तरह प्रचलित लोकनाट्यों की सम्पूर्ण धारणा को यथावत् रखते हुए उनके जर्जरित स्वरूप को सप्राणित किया जाता है। लोकशैलीप्रधान प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से ये संशोधित लोकनाट्य जितने प्रभावशाली हैं उतने देश में और कोई नहीं। ये सभी लोकनाट्य खुले रंगमंच की प्रणाली में ही प्रस्तुत किये जाते हैं। रंगमंच के दोनों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। दृश्य-विधान पूर्णरूप से प्रतीकात्मक एवं लोकाधारयुक्त होते हैं। नाट्य की सभी वाक्-सवाक् अभि-व्यंजनाएँ सोलह आना लोकशैली से ही प्रभावित हैं। पात्र लोकशैली ही में प्रवेश करते हैं। संवाद आदि की व्यंजनाएँ लोकशैली में होती हैं तथा नाट्य की सम्पूर्ण बनावट लोकप्रणाली ही का आधार ग्रहण करती है। जिस विशिष्ट लोकनाट्य शैली पर नृत्यनाट्य आधारित रहता है, उसीकी धुनें उसमें गाई जाती हैं। संवादवहन भी उसी शैली में होता है। मंडल द्वारा रचित लोक-नाटिकाओं में यदि कोई बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया है तो यही कि प्रचलित लोकनाट्यों का कथा-प्रसंग, जो कि बहुधा बहुत कमजोर और अपूर्ण होता है, इन नाट्यों में सर्वांगीण बनकर अवतरित होता है। रात-रात भर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रदर्शित होने वाले मौलिक लोकनाट्य, जो अनेक क्षेपकों के प्रवेश से अत्यंत जर्जर और तथ्यहीन होने लगे थे, लोककला मंडल के प्रयास से पुनः नवजीवन लेकर अवतरित हुए हैं। इन लोकनाट्यों में घूमलमहेन्द्र, मीरामंगल, ढोलामरवण नामक नृत्यनाटिकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यों के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये अधिकांश परम्परागत लोक-अभिनेताओं द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन सब उदाहरणों से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तथा रचना-विधान की दृष्टि से आज के अधिकांश भारतीय नृत्य-नाट्य लोकनाट्यों की शैली का ही अनुसरण करने लगे हैं। वेशभूषाएँ, अभिव्यंजनाएँ, संगीत तथा रंगमंचीय विधान सभी लोकनाट्यों से प्रेरित हैं। इन नृत्य-नाट्यों में पात्रों का चुनाव भी लोककलाकारों में से ही हो रहा है। लोकधुनों के साथ झाँझ, करताल, चंग, ढोलक, ढोल, नक्कारे, अलगोजे, पूंगी, मांदल जैसे लोकवाद्यों का भी इन लोकनृत्य-नाट्यों में उपयोग होने लगा है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक नृत्य-नाट्यों की साज-सज्जा तथा रंगमंचीय रचनाओं में लोकनाट्यों का प्रभाव सर्वोपरि है। आधुनिक ढंग के थियेटर में भी, यदि ये लोकाधारित नृत्य-नाट्य प्रस्तुत होते हैं तो उनकी रचना, प्रस्तुतीकरण आदि में लोकनाट्यों की ही रंगत का आनन्द उपलब्ध होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में रात-रात भर प्रदर्शित होने वाले परम्परागत लोक-नाट्य इस यांत्रिक युग में धीरे-धीरे निष्प्राण भी होने लगे थे। अतः लोकनाट्यों की शैलीगत विशेषताओं का आधुनिक नृत्य-नाट्यों में प्रवेश अपने देश के लिये बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ है। निश्चय ही लोकनृत्य-नाट्यों के पुनरुत्थान और युगानुकूल संशोधन के लिये हमारे देश में बहुत ही सुन्दर परिस्थितियों का निर्माण हो रहा है।

लोकनाट्य - संशोधन

लोकनाट्य-संशोधन एक ऐसा प्रश्न है जिस पर आज तक कोई भी विद्वान् एकमत नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् चाहते हैं कि लोकनाट्य की गतिविधियों में कोई बाधा उपस्थित न की जाय। वे जिस तरह चल रहे हैं उसी तरह उन्हें चलते रहने दें। यदि उनमें अपनी स्वयं की ताक़त है तो वे अपनी विविध नाट्य-विधाओं में परिवर्तन स्वीकार करके अपना विकास स्वयं करेंगे। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि यदि उनको समय रहते दिशा-निर्देश न दिया गया तो वे अपनी स्वयं की ताक़त खो बैठेंगे और अनेक आधुनिक मनोरंजना-त्मक साधनों के सामने घुटने टेक देंगे। कुछ महानुभावों का यह भी सोचना है कि आधुनिक मनोरंजन की विविध विधाएँ उन्हें इस तरह पकड़ लेंगी कि वे उन पर स्वभावतः ही हावी होकर उनके मनोरंजनात्मक पक्ष को क्षति प्रदान करेंगी। उनके सोचने का आधार यह है कि लोकनाट्य सदा ही परिवर्तनशील होते हैं। वे युग के अनुसार बदलते हैं और सामाजिक प्रतिभा बिना नियोजन-आयोजन के उनकी रंगत बदले बिना नहीं रहती। बंगाल की

जात्राओं का प्रधान स्वरूप, जिसमें भक्तजनों के कीर्तन-गायन का अंश प्रमुख था, समय की माँग के अनुसार रंगमंचीय स्वरूप बन गया, यहाँ तक कि उसने अपना धार्मिक स्वरूप त्यागकर सामाजिक रूप भी ग्रहण कर लिया है। उत्तर प्रदेश की बहुस्थलीय रामलीलाएँ मथुरा-शैली की रंगमंचीय रामलीलाओं में रूपान्तरित हुई। ब्रज की रासलीलाएँ मंदिरों की सीमाओं से बाहर निकलकर भक्तजनों के आंगनों तथा सामाजिक परिस्थितियों में प्रविष्ट होने लगीं। महाराष्ट्र के तमाशे अब सड़कों, चौराहों एवं सार्वजनिक स्थलों को छोड़कर व्यवस्थित थियेटरों एवं नाट्यगृहों में प्रदर्शित होने लगे तथा ग्राम्य-जीवन में सराबोर हुआ यक्षनाट्य शहरी लोगों के उच्चस्तरीय मनोरंजन का माध्यम बन गया। यही नहीं, उसका विशुद्ध लोकपक्ष भी शास्त्रीय पक्ष के साथ गले मिलने लगा और एक परिपक्व नाट्य-स्वरूप के रूप में मान्यता प्राप्त करने लगा। गुजरात का भवाई जो पहले केवल ग्राम्यजनता के हल्के-फुल्के मनोरंजन का माध्यम था, आज नवीन नाट्यप्रसंगों को अपनाकर नई जुबान, नये परिधान एवं नवीन रंगत के साथ समाज को आह्लादित करने लगा। परन्तु हमारे सामने सबसे बड़ा विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह रूपान्तर देश के सभी लोकनाट्य स्वरूपों में हुआ है या कुछ ही दीखते हुए स्वरूप इस प्रक्रिया के बीच गुजरे हैं ?

हमें यह भी गहराई से देखना है कि ये रूपान्तरित स्वरूप, जिनमें जात्रा, रामलीला, तमाशा, यक्षनाट्य, भवाई आदि हमारी नजर को पकड़ चुके हैं, परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया मात्र से ही परिवर्तित एवं विकसित हुए हैं या इनके पीछे संशोधकों की कोई बड़ी ताक़त है, जिनसे इनको दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ है। जो विद्वान् यह सोचते हैं कि ये लोकनाट्य ज्यों-के-त्यों अपने भाग्य के भरोसे पर छोड़ दिये जाने चाहिये, उनका ध्यान देश की उन विभिन्न लोकनाट्य शैलियों की ओर खींचना पड़ेगा, जो अपनी अन्तिम साँसें गिन रही हैं। उनमें हैं – राजस्थान का कुचामणि ख्याल, तुर्रा कलंगी के खेल, शेखावाटी रंगत के खेल, रावलों, गंधर्वों तथा भीलों के खेल, हरियाणा के स्वांग, महाराष्ट्र का ललित तथा गोंधल, काश्मीर का भांड जश्न, आसाम का अंकिया नट, मध्यप्रदेश के माच, उत्तर प्रदेश की नौटंकी आदि-आदि। ये सब नाट्यशैलियाँ आज केवल नाम मात्र को रह गई हैं। इनका गहराई से अध्ययन एवं अवलोकन करने से यह पता लग सकता है कि उनके प्रतिपालक केवल लकीर पीट रहे हैं। क्योंकि उन्हें रात भर प्रदर्शित करने की

परम्परा है इसलिये वे रात भर ही खेले जाते हैं और यदि उन्हें छोटा करके प्रदर्शित किया जाय तो गाँव की रूढ़िग्रस्त जनता की भयंकर नाराजगी का शिकार होना पड़ता है। इन नाटकों में सारी रात रंगमंच पर क्या प्रदर्शित होता है, यह गहरे अध्ययन की चीज है। इन नाट्यों का केवल ढाँचा मात्र रह गया है। उनमें मूल खेल का अंशमात्र भी शेष नहीं है। जो कुछ भी बचा है वह अप्रासंगिक खेल-तमाशों, हँसी-मजाकों, फिल्मी गीतों एवं नृत्यों से सराबोर है। भारत के अधिकांश लोकनाट्य गीत एवं नृत्यप्रधान हैं। कथोपकथन अपनी विशिष्ट परम्परा के अनुसार छंदबद्ध पदों में गाये जाते हैं और उनकी अदायगी को पदसंचालन एवं विविध अंगभंगिमाओं से उद्दीप्त किया जाता है। अदायगी की इस पारम्परिक शैली में चूँकि अब ताकत नहीं रही है इसलिये रूखे-सूखे गद्य का सहारा लिया जाता है। केवल परिपाटी के रूप में पद गाये जाते हैं और बाद में समस्त कथोपकथन गद्य में निपटाये जाकर उन प्रसंगों में केन्द्रित हो जाते हैं, जिनमें मजाक, नकल एवं हल्के-फुलके हास्य की गुंजाइश रहती है। ऐसे लचीले स्थलों पर अभिनेता खुल-कर आजादी लेते हैं और ऐसे प्रहसन एवं संवाद जोड़ देते हैं जिनका मूल नाटक से कोई संबंध नहीं है और जिनमें चुलबुलाहट, हल्के किस्म की मजाक तथा चुभने वाले गीत और नृत्य के सिवाय कुछ नहीं होता। इस तरह की अदायगी में ढाँचा पारम्परिक लोकनाट्यों का अवश्य है, नक्कारा, ढोलक, तबलावादन वही है, नाट्य शिल्प भी वही है। रंगमंचीय विधान में भी कोई जोड़तोड़ नहीं किया गया है। पात्रों का प्रवेश, परिचय एवं अदायगी का तौर-तरीका भी वही है। मूलगीत आदि भी पारम्परिक धुनों में ही गाये जाते हैं। परन्तु उनका कलेवर कहीं गायब होगया है। पारम्परिक घिसेपिटे कथोपकथन के कुछ अंश गाकर शेष अंशों के अर्थ गद्य में उलझाकर समस्त नाटक ऐसे प्रसंगों पर रुक जाता है जिनका मूलनाटक से कोई संबंध नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन नवीन प्रसंगों के लिये नाट्यपात्र अपनी तैयारी करता है तथा वेशविन्यास आदि भी उसी तरह की बनाता है। अतः पुरातन लोकनाट्य के पात्र पुरातन कथानक का प्रस्तुतीकरण भी नवीन ढंग की पोशाकें पहिनकर ही करते हैं। राजस्थान के कुचामणी ख्यालों में स्त्री-पात्र १०८ कलियों का घाघरा नहीं पहिनकर साटन का चिपकवाँ पेटीकोट पहिनता है। कंचुकी, कुरती आदि नहीं पहिनकर वह आधुनिक ढंग का ब्लाउज का प्रयोग करता है। वह राजस्थान की पारम्परिक कलात्मक वेशभूषा का परित्याग कर यह समझने की गलती करता है कि उसके दर्शकों को वह पसंद है। उसे ज्ञात नहीं है

कि पुरातन शैली के घेरदार घाघरे की पोशाक त्यागकर तथा मुँह पर से घूंघट हटाकर स्त्री-पात्र की भूमिका अदा करने वाला यह पुरुष-पात्र हिजड़े से अधिक और कुछ नहीं लगता। लोकनाट्यों के स्त्री-पात्रों की भूमिका पुरुषों के जिम्मे रखी ही इसलिये गई है कि वे अपनी अदायगी अधिक खुलकर कर सकें और पुरुष होते हुए भी स्त्रियोचित हावभाव प्रदर्शित करके दर्शकों की वाहवाही प्राप्त कर सकें। परन्तु वह उस वाहवाही से वंचित ही रहता है, क्योंकि दर्शकों की प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया उसकी कलात्मक अदायगी के कारण नहीं, उसकी भोंडी पुरुषोचित पोशाक एवं हावभाव से उत्पन्न उसकी कृत्रिमता के कारण है। इन नाटकों में जब १८वीं शताब्दी के राजा ब्रिचिस, बुशशर्ट पहिनकर आते हैं तो अबोध जनता उन्हें इसलिये बर्दाश्त कर लेती है क्योंकि उनके साथ प्रस्तुत होने वाली अन्य अपारम्परिक सामग्री भी उतनी ही आधुनिक है। उनका सिर पर पहिना हुआ साफ़ा ही केवल परम्परा का पालन करता है। आज लोकनाट्यों में जो कुछ भी नवीनता के नाम पर हो रहा है वह उस तरफ केवल इशारा मात्र है।

यदि हम यह मानलें कि लोकनाट्यों में परम्परा जैसी कोई वस्तु नहीं है, वह ज़माने के अनुसार अपने आप बदलती रहती है तो निश्चय ही यह हमारे लिये विचारणीय प्रश्न है। राजस्थान की कुचामणी शैली के एक प्रमुख ख्याल प्रदर्शन में भंगी के घर बिकनेवाली तारामती हावभाव आदि की दृष्टि से किसी मनचली स्त्री से कम नहीं दिखलाई गई थी। मेहतर की पोशाक भी आधुनिक रेल-कर्मचारी के रूप में डिब्बे साफ़ करने वाले मेहतर के अनुरूप ही थी। अपने पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर विलाप करने वाली तारामती भंगी के घर बिक जाने पर भी आधुनिक अलंकरण से अलंकृत थी। वह अपने गेय कथोपकथन में बनावटी सिसकियाँ भरती थी और उसकी नृत्यमय अदायगी में वह असाधारण ढंग से अपने कूल्हे और वक्षःस्थल हिलाती हुई नाच रही थी। इसी कुचामणी शैली के चन्द मलयागिरी खेल में भी चन्द एवं मलयागिर को विश्वामित्र द्वारा ली हुई परीक्षा के फलस्वरूप समस्त राजपाट दान में देकर वन-वन भटकना पड़ा था। उस विपदग्रस्त प्रसंग में जहाँ हृदय को द्रवित करनेवाले प्रसंग आते हैं वहाँ उनका केवल स्पर्श मात्र करके ऐसे प्रसंगों को प्रधानता दी जाती है जहाँ निम्नस्तरीय शृंगार एवं हँसी-मज़ाक को बढ़ावा मिलता है। बीच-बीच में इसी तरह की अनेक अप्रासंगिक बातें जोड़ कर मूल कथा को कोसों दूर फेंक दिया जाता है। ये लोकनाट्य केवल निम्नस्तरीय

जनरुचि को तुष्ट करने के लिये इस तरह निम्नस्तर पर आ जाते हैं कि उन्हें देखने से यह भान होना स्वाभाविक है कि लोकनाट्य केवल निम्नस्तरीय जनता के लिये मनोरंजन का साधन है। वे इस तरह असंयत एवं निरंकुशतापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं कि शिक्षित समाज उन्हें देखकर चिन्तित हो गया है। यदि लोकनाट्यों का यही निम्नस्तर हम स्वीकार करलें तो उनका वह पुष्ट स्वरूप, जिसने अनेक पुष्ट नाट्य-विधाओं को जन्म दिया है, केवल कपोल-कल्पना मात्र है। हमारे देश में लोकनाट्यों के जो भी अनेक पुष्ट स्वरूप विद्यमान हैं, वे या तो लोकनाट्यों की परंपरा ही में नहीं आते हैं या जो अपुष्ट और अशिष्ट तत्त्वों से युक्त हैं, वे ही लोकनाट्य हैं। गहराई से अध्ययन करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि ये परम्परा से विमुक्त अशिष्ट लोकनाट्य अपनी दिशा छोड़ बैठे हैं और ऐसे अशिक्षित और अर्थलोलुप हाथ में चले गये हैं, जिन्होंने उनका स्तर गिरा दिया है। उदाहरणस्वरूप राजस्थान के शेखावाटी शैली के तथा कुचामणी शैली के ख्यालों को ही लीजिये। वे भी दिशा-निर्देश के अभाव में अपना रास्ता छोड़ने लगे हैं। यद्यपि कुचामणी शैली के ख्यालों से शेखावाटी शैली के ख्यालों का रचना-कौशल अधिक पुष्ट और गठा हुआ है फिर भी जनरुचि बदल जाने से उनका कोई पारखी अब नहीं रहा है। उनकी कथोपकथनात्मक शैली में अभिनेता अपने गेय पदों की अदायगी में सारी शक्ति लगा देता है। वह उसकी अत्यधिक और अस्वाभाविक लम्बाई का ख्याल नहीं रखता। परिणामस्वरूप दर्शक-समाज ऊबने लगता है। दर्शकों की अभिरुचि को कायम रखने के लिये वह मूल नाटक के कुछ प्रसंग प्रस्तुत करने के बाद आधुनिक ढंग की नक़लबाज़ी एवं ग़ज़लबाज़ी में उतर जाता है।

यही हाल मथुरा शैली की रामलीलाओं एवं उत्तर प्रदेश की नौटंकियों का भी है। रामलीलाओं में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। मूल तुलसीकृत रामायण का आधार छोड़कर अनेक अप्रासंगिक नक़लों ने उनमें प्रधानता प्राप्त की है। चित्तौड़ के तुर्रा कलंगी के खेलों का तो प्रायः लोप ही हो गया है। वे जहाँ कहीं भी होते हैं उनमें सिवाय लकीर पीटने के और कुछ नहीं होता। मध्यप्रदेश के माचों का भी यही हाल हो गया है। वे इतने अश्लील तत्त्वों से परिपूर्ण हो गये हैं और अपनी परिपाटी का इतना अधिक परित्याग उनमें होने लगा है कि प्रायः वे अब तो होते ही नहीं हैं और यदि होते भी हैं तो उनके द्वारा उत्पन्न दंगे-फ़िसादों के लिये पुलिस का सहारा लेना पड़ता है। तुर्रा कलंगी के खेलों की भी कुछ वर्ष पूर्व यही स्थिति थी

जिससे अब उनका प्रायः लोप ही हो गया है। हरियाणा के स्वांग भी इतने विकृत हो गये हैं कि शिष्टजन उन्हें देखना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता है। ये सभी खेल अपने मूल गीत, नृत्य-प्रसंग एवं तंत्र आदि त्यागकर अश्लीलता एवं निम्नस्तर पर उतर आये हैं। उत्तर प्रदेश की नौटंकियों में भी साजबाज, पोशाक, परिधान, दृश्यावली, नाच, गान आदि में परम्परा का त्याग बड़ी तेजी से हो रहा है। टिकटों से ये प्रदर्शन होने लगे हैं इसलिये दर्शक लोकनाट्य-परम्परा के अनुसार रातभर से कम की अवधि के प्रदर्शन देखना पसंद नहीं करते। स्त्री-पात्रों की भूमिका, परम्परा से विपरीत, अब स्त्रियां करने लगी हैं जिससे अदायगी तो घटिया दर्जे की हो गई है परन्तु उसमें अशिष्ट तत्वों का भी भरपूर प्रवेश हुआ है। समस्त लोकनाट्य-परंपरा में स्त्रियों की अनुपलब्धि के कारण ही पुरुष स्त्रियों की भूमिका अदा नहीं करते बल्कि उनकी गायन एवं नर्तन की बन्दिशें ही इतनी ताकतवर होती हैं कि स्त्रियां उनकी अदायगी में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई हैं। नौटंकियों में जहाँ पुरुष-पात्र अपने कथानक केवल गेय पदों से ही अदा करते हैं, वहाँ स्त्री-पात्र (जो वास्तव में पुरुष ही होते हैं) उनके गेय पदों को क्लिष्ट नृत्य एवं पद-संचालन से सशक्त बनाते हैं। अब चूंकि स्त्रियां ही नौटंकियों में स्त्री-पात्रों की भूमिका अदा करती हैं इसलिये वे उस पेचीदा नृत्य-अदायगी में असमर्थ रहती हैं। उसकी पूर्ति उन्हें फ़रमाइशी गीतों से करनी होती है जिससे नौटंकी का मूल कलेवर तो कहीं धरा रह जाता है और केवल फ़रमाइश ही फ़रमाइश रह जाती है।

राजस्थान के भवाई आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व तक अपने हास्यप्रधान खेलों से जनता का मनोरंजन करते थे। भवाई की गायन, वादन एवं नर्तन कला किसी समय सबको आश्चर्यचकित कर देती थी। प्रत्येक पात्र अपनी सूझबूझ से नवीन प्रसंग बनाता चलता था और दर्शकों को भी अपने अभिनय में शरीक करता था। भवाई नाट्य की यह अत्यंत अनौपचारिक एवं दिखावे से हीन मौलिक शैली नाट्य-कला का सिरमौर थी। उस पर प्रहार हुआ दर्शकों की कुरुचिपूर्ण पसंद का नहीं, समाज-सुधारकों की पैनी तलवार का। उन्होंने उस पर अशिष्टता एवं निम्नस्तरीयता का आरोप लगाकर उसे कड़े नियंत्रण में बाँध दिया। फलस्वरूप भवाइयों ने अपनी इस उत्कृष्ट नाट्य-परम्परा को छोड़ हाथरसी खेलों की नीरस एवं अस्वाभाविक शैली को अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि भवाई के इन निष्प्राण खेलों को स्वयं उनके यजमान भी देखना पसंद नहीं करते। वृन्दावन का रास जो मन्दिरों के स्वस्थ, सुन्दर एवं भक्तिमय

वातावरण में विकसित एवं पोषित हुआ, आज भी अपनी मौलिकता की रक्षा इसलिये किये हुए है क्योंकि इसका व्यवसायिक पक्ष गौण और धार्मिक पक्ष प्रबल है। भक्तजन रासलीला के लीला-स्वरूपों को ईश्वर के रूप में ही देखते हैं। उनको प्रभु का अंश मानकर उसी तरह उनकी आवभगत करते हैं। परन्तु राजस्थान स्थित फुलेरा ही की रासलीलाओं को लीजिये। वे अपनी विकृतावस्था को पहुँच गई हैं। वृन्दावन ही की बात है। राजस्थान के कुम्भावत रासलीलाओं के साथ वाद्यवादन का काम करते थे और स्वरूपनिर्धारण का कार्य ब्राह्मण जाति के रासधारी। इन कुम्भावतों ने मूल रासलीलाओं के विरोध में अपनी स्वयं की रासमंडलियाँ स्थापित कीं और किसी भी जाति के बच्चों को स्वरूपधारण की छूट देदी। इनका मुख्य लक्ष्य आजीविका उपार्जन था और मंदिर के पवित्र वातावरण से उनका कोई सरोकार नहीं था। अतः वे अपनी धार्मिक पवित्रता कायम नहीं रख सके और भगवान् की लीलाओं का वह पावन स्तर भी रसातल को पहुँच गया। परिणाम यह हुआ कि ये लीलायें केवल नकल मात्र रह गईं और धार्मिक पृष्ठभूमि के अभाव में वे जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकीं। अनेक विकृत नाट्य-प्रसंग उनके साथ जुड़कर यह विशिष्ट शैली बिल्कुल ही नष्ट हो गई।

उक्त उदाहरणों से भारतीय लोकनाट्य की आज की स्थिति स्पष्ट है। हम यदि यह मानलें कि उन्हें अपनी दिशा स्वयं पकड़ने की छूट देदी जाय तो वह छूट तो आज है ही। उन्हें दिशा-निदेश देने का जहाँ प्रश्न है वह तो बहुत ही कम लोगों ने किया है और जिन्होंने किया है उनके शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम सामने हैं। परन्तु अधिकांश शैलियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें कभी दिशा-निदेश मिला ही नहीं है और जिनको मिला है उनकी भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वह जिन्हें विद्वानों, कलासेवकों तथा नाट्य-विशेषज्ञों का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है और दूसरी वह जो धनोपार्जन की दृष्टि से निम्नस्तरीय पेशेवर कलाकारों द्वारा रूपान्तरित हुई है। दूसरी तरह के जहाँ भी प्रयास हुए हैं वहाँ इन नाटकों की बड़ी हानि हुई है और जहाँ लोकनाट्य-तत्त्वों की सुरक्षा एवं सेवा हेतु वैज्ञानिक ढंग से काम हुआ है, वहाँ अत्यन्त शुभ परिणाम निकले हैं।

दिशा-निदेश के इस कार्य से हमारे देश में वे लोग सर्वाधिक चिढ़े हुए हैं जो परम्परा को छोड़ना नहीं चाहते, जिन्हें नवीनता से बेहद चिढ़ है तथा जो पुरातन कलाकृतियों को संग्रहालय की दर्शनीय सामग्री के रूप में

ही सुरक्षित रखना चाहते हैं। इस वर्ग में ऐसे महानुभावों की भी कमी नहीं है जो विकृति को विकृति के रूप में ही देखना चाहते हैं तथा परम्परा की रक्षा के लिये सब प्रकार की गंदगी को पचाने को तैयार रहते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करलें तो फिर कला और समाज का संबंध ही टूट जायगा।

लोक कला में कोई चीज पुरानी नहीं होती। वह सदा ही नई बनी रहती है। लोकगीत, जो परम्परा से प्रचलित है, नये-नये अर्थ एवं नये-नये स्वर प्रतिपल ही आत्मसात् करते रहते हैं और फिर भी वे लोकगीत ही रहते हैं। इसी प्रकार लोकनाट्य भी परम्परा को क़ायम रखते हैं। सर्वदा ही नई भावनाओं, नये स्वरूपों तथा नई साज-सज्जाओं को अपनाते हैं। इनके कथा-प्रसंग पुराने होते हुए भी इनके पात्र सब नये रूपों में प्रस्तुत होते हैं। लोकनाट्य के राम मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं। वे आज के समाज के एक साधारण प्राणी हैं। सीताजी आज की गृहस्थ नारी की तरह चित्रित की गई हैं। लंकापति रावण समाज के दुष्ट तत्वों का प्रतीक है। इसी तरह राजा हरिश्चन्द्र भंगी के यहाँ बिक जाने के उपरान्त उसी त्यागशील व्यक्ति का प्रतीक है जो आज भी समाज में कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित करने को उद्यत है। इसीलिये उसके पात्र हजार वर्ष पुरानी पोशाकें नहीं पहिनकर आज से कुछ वर्ष पूर्व की ही पहिनते हैं। लोकनाट्यों के समस्त पुराने कथानक एवं पात्र नवीन समाज के विशिष्ट वर्ग के प्रतीक के रूप में प्रकट होते हैं। अतः लोकनाट्यों की यह वैज्ञानिक पृष्ठभूमि हम स्वीकार करलें तो उनके दिशा-निर्देश से हम किसी को आपत्ति नहीं होगी। लोकनाट्यों का प्रस्तुतीकरण, तंत्र एवं रचना-शिल्प तो परम्परा-संगत रहता है, कथानक भी परम्परा को पूरी तरह निभाता है, परन्तु कथोपकथन चिरनवीन रहते हैं। उसकी अदायगी में नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। दर्शकों की अभिरुचि के अनुकूल उसमें प्रतिपल काट-छाँट होती है। नृत्य-भंगिमाएँ बदलती हैं। धुनें रूपान्तरित होकर नवीन सुरावली ग्रहण करती हैं। पुरातन प्रसंग नवीन वेशविन्यास में प्रस्तुत होते हैं। वे आज की परिस्थितियों के अनुकूल बना लिये जाते हैं तथा आज की समस्याओं के साथ उनका साम्य बिठा लिया जाता है। पात्र अपने कथोपकथन, अपनी सुविधा एवं आवश्यकता अनुसार स्वयं गढ़ता जाता है। दर्शकगण भी इस प्रक्रिया में अपना अत्यन्त सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। नाटिका के मसखरे एवं पिसेपिटे प्रसंग, जो आज

के जीवन से मेल नहीं खाते, अपने आप कटते चले जाते हैं, नये प्रसंग जुड़ते जाते हैं तथा सामाजिक रचना के अनेक जौहर उन नाटिकाओं में पद-पद पर परिलक्षित होते हैं जो समाज का दामन आजतक भी पकड़े हुए हैं तथा जिन्हें समाज की सामान्य बुद्धि स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है।

यह प्रक्रिया लोकनाट्यों की अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो लोकनाट्य इस प्रक्रिया के बीच गुजरे नहीं हैं वे वास्तव में लोकनाट्य नहीं हैं। अतः विद्वानों को इस परिवर्तन को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रक्रिया में बिगाड़ तब होता है जब उसमें किसी व्यक्ति या वर्गविशेष का स्वार्थ निहित होता है और वे उसकी सामाजिक आवश्यकताओं का ध्यान न रखकर उसकी गति बदलने की निरर्थक कोशिश करते हैं। जो नाट्य आज भी समाज के उच्चस्तर पर विराज रहे हैं तथा जिन्हें उच्चस्तरीय समाज का पोषण प्राप्त है, वे हर तरह से सुरक्षित हैं। अतः देश के प्रचलित लोकनाट्यों की वर्तमान स्थितियों, उनकी विविध तात्त्विक परम्पराओं, शैलियों और उन पर होनेवाली सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं परीक्षण विधिवत् होना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य लोकनाट्य विषयक विद्वानों एवं विशेषज्ञों द्वारा ही हो सकता है।

इस जगह यह भी प्रश्न उठ सकता है कि लोकनाट्य यदि विकृत होरहे हैं और उनकी लोकप्रियता नष्ट होरही है तो उन्हें पुनः जीवित करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मनोरंजन की जो नवीन विधाएँ विकसित होरही हैं उनमें समाज की आत्मा के दर्शन नहीं होते। वे समाज को केवल परोक्ष मनोरंजन प्रदान करते हैं और समाज की सामाजिक प्रतिभा का उनमें नितान्त अभाव रहता है। लोकनाट्य की विविध विधाओं में, रचना से लेकर प्रदर्शन तक, सामाजिक रचना-कौशल के दर्शन होते हैं तथा सामाजिक प्रतिभाएँ अभिव्यक्त होती हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपने ही लोगों द्वारा, अपने ही आँगन में तथा अपनी ही प्रिय शैली में मंचा पर आती है। समाज के सर्वोत्कृष्ट कला-तत्त्व उसमें अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। साजिन्दे, गायक, नर्तक, अभिनेता, दर्जी, बढ़ई, हलवाई, कवि, विद्वान्, आदि सभी अपनी प्रतिभा का दान इस लोकप्रिय नाट्य-शैली को सहर्ष प्रदान करते हैं। अतीत के विविध धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं उनके जीवन की अनेक चमत्कारिक बातें हमारे सामने अभिनीत होती हैं। अतः लोकनाट्यों को हम किसी भी

दशा में गलत हाथों में पड़ा हुआ नहीं देख सकते। देश के लोकनाट्य-विशेषज्ञ तथा विद्वान ही अपने अनुभव, अध्ययन एवं परीक्षण से इन प्रचलित लोक-नाट्यों की गतिविधियों तथा उनमें होनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों का पता लगाकर उनकी विविध विकृतियों पर विचार कर सकते हैं। कुछ लोकनाट्य शैलियां तो ऐसी हैं जिनका दर्शक समाज ही गायब होगया है और कुछ ऐसी हैं, जैसे राजस्थान का अलीबक्शी खेल, जिसका कोई व्यवस्थित दल ही शेष नहीं रहा है। कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जो आखिरी सांसें गिन रहे हैं। इन लुप्त, प्रसुप्त, सक्रिय, निष्क्रिय सभी दलों के नाट्यालेख (Scripts) विद्वानों के पास होना बहुत आवश्यक है। तदुपरान्त इन खेलों को विविध मंडलियों द्वारा कई बार विभिन्न परिस्थितियों में भी देखना चाहिये। इस पर्यवेक्षण एवं अध्ययन के दृष्टि-बिन्दु नीचे लिखे अनुसार होंगे :–

लोकनाट्य के लेखक जीवित हैं या नहीं? यदि वे जीवित हैं तो उनसे तुरंत संपर्क साधा जाय और यह पता लगाया जाय कि किस परंपरागत नाट्य-शैली या प्रचलित नाट्य-धुनों से उन्होंने अपनी गायन, लेखन एवं नर्तन सामग्री कहां से प्राप्त की है? क्या उन्होंने अपनी धुनों का आधार कहीं और जगह से प्राप्त किया या वे सोलह आना स्वयं की रचनाएं हैं? यदि लेखक जीवित न भी हों तो उनके निकटस्थ लोगों से यह जानकारी प्राप्त हो सकती है। यह जानकारी भी आवश्यक है कि क्या ये धुनें कथोपकथन में प्रयुक्त शब्दों को उद्दीप्त करती हैं? क्या वे भावानुकूल हैं? क्या समस्त गेय पद परंपरा-गत छंदों में बंधे हैं या स्वरचित छंद हैं? क्या एक ही विषय के विविध प्रचलित लोकनाट्य किन्हीं समान पारंपरिक छंदों में बंधे हैं? क्या उनके गठन में कोई साम्य है? या वे किसी विशिष्ट नाट्य-शैली का अनुसरण करते हैं? बहुधा एक ही क्षेत्र में प्रचलित विविध रंगतों के लोकनाट्य किसी अलक्षित एवं परिपक्व परंपरा का अज्ञात ही अज्ञात में अनुसरण करते हैं। यह परम्परा भले ही नाट्य-कलेवर, कथानक, कथोपकथन एवं रंगमंचीय उपकरणों से परिलक्षित न होती हो, उसमें नाटक के रचयिता का व्यक्तित्व स्पष्ट दृष्टिगत होता हो, समस्त नाटक पर किसी व्यक्ति या दल विशेष की छाप या उसका आधिपत्य स्पष्ट हो, फिर भी लोकनाट्य-प्रस्तुतीकरण, कथित धुनों के मूलाधार, छंदों की पृष्ठभूमि, पात्र एवं चरित्रों के प्रतीकीकरण, घटनाओं एवं प्रसंगों के प्रतिनिधीकरण, नृत्य एवं गायन की विशिष्ट सम्बोधनात्मक एवं नाट्योचित प्रणाली आदि में एक ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्तर्हित रहती है, जिसका प्रतिपालन भारतीय लोकनाट्य-प्रणाली में शाश्वतकाल से हो रहा है। इस दृष्टि को सामने रख

कर प्रत्येक प्रचलित नाट्य का परीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जो लोकनाट्य इन परम्पराओं का पालन नहीं करते या जिनकी समस्त विधाएँ लेखक एवं रचयिताओं की ही सूझबूझ का परिणाम हों, वे ऊपर से चमत्कृत अवश्य लगते हैं परन्तु उनमें दर्शक अपने को आत्मसात् हुआ नहीं समझता। न उनके कथोपकथन ही प्राणवान् होते हैं, क्योंकि समाज की प्रतिभा का वे इतने अल्पकाल में स्पर्श किये हुए नहीं होते हैं। इस कमी की पूर्ति प्रत्येक कलाकार को अपनी सूझबूझ या अप्रासंगिक कथनों, गीतों एवं नृत्यों से करनी पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी नये-पुराने, प्रचलित-अप्रचलित लोकनाट्यों के समस्त कलेवर का आलेखन कर लिया जाय। उनकी समस्त प्रस्तुतीकरण एवं नाट्य-विधाओं का अध्ययन करके यह पता लगाना बिल्कुल मुश्किल नहीं है कि कौन नाट्य परम्पराधारित है और कौनसा उससे परे है। इस परीक्षण के बाद प्रत्येक लोकनाट्य-आलेखों से क्षेपक बाहर निकाले जा सकते हैं। अप्रासंगिक कथनों को प्रासंगिक कथनों से पूरित करके समस्त कथा-प्रसंग को संगठित कर लेना चाहिए। जिन नवीन छंदों या बंदिशों में कथोपकथन को उद्दीप्त करने की शक्ति न हो उन्हें बदलकर परम्परापुष्ट छंदों में ढाल देना चाहिये। यदि ये सब क्षेपक बाहर निकलने पर नाट्य का मनोरंजन-पक्ष ढीला पड़ जाता है तो निश्चय ही समस्त कथा-आलेख की पुनरावृत्ति आवश्यक है। उस पुनरावृत्ति में कथा एवं प्रसंगों का क्रमिक प्रस्तुतीकरण नाटकीय तत्वों के अनुकूल करना भी जरूरी है। उनका व्यवस्थीकरण एवं उनके निरर्थक पक्षों की छंटनी भी परमावश्यक है। इस कार्य-कलाप में यदि इस बात का पता लगाया जाय कि उस नाट्य का पारम्परिक प्रस्तुतीकरण क्या था तथा कौनसे अंश क्षेपक के रूप में आये हैं तो बड़ी आसानी हो जायगी। उस पारम्परिक प्रस्तुतीकरण में जो परिवर्तन आया है, वह दर्शकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आया है या प्रदर्शकों की असमर्थता के कारण। कई बार यह भी देखा गया है कि योग्य पात्र एवं योग्य दर्शकों के अभाव में अनेक ऐसी अयोग्य विधाओं का सहारा लिया जाता है, जो लोक-नाट्य-पद्धति से बिल्कुल विपरीत है। यह बात तो वे ही जान सकते हैं जो लोकनाट्य परम्परा के पक्के पारखी हों। कुछ पक्ष ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका शैलीगत प्रस्तुतीकरण आधुनिक समाज को प्रभावित न करता हो। ऐसे तंत्र को केवल परम्परापोषित होने के नाते ही प्रयुक्त करने का हठ भी नहीं होना चाहिये। यदि वह तंत्र आज के लिये आवश्यक न हो तो उसका परित्याग किया जा सकता है।

जो नाट्य कथोपकथनप्रधान हों उनके कथानक को भी महत्त्व देना आवश्यक है और जो केवल कथानकप्रधान हैं उनमें कथोपकथन को सक्रिय करके पात्रों की कला-कुशलता को बढ़ावा दिया जा सकता है। कई लोकनाट्य ऐसे हैं जिनके विविध प्रसंग एक-दूसरे से कच्चे धागे में बंधे हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध परिपक्व करना नाट्यगठन की दृष्टि से अति आवश्यक है। इन प्रसंगों का एक-दूसरे के साथ जोड़-तोड़ बिठाने के लिये सम्भव है कि पारम्परिक धुनों में नये कथोपकथन लिखने हों। कभी-कभी सही पात्रों को सही भूमिका नहीं मिलने से भी नाटक में शिथिलता आजाती है। कहीं-कहीं एक ही कथन को सांगीतिक वैविध्य की नीयत से कितनी ही बंदिशों में गाया जाता है। इनसे नाट्य की लम्बाई अनावश्यक रूप से बढ़ जाती है और दर्शकों की रुचि को भी अधिक समय तक टिकाया नहीं जा सकता। कई प्रसंग ऐसे भी आ जाते हैं जो नाट्य-प्रवाह को क्षति पहुँचाते हैं और जिनका मूल कथानक से कोई संबंध भी नहीं होता। ऐसे प्रसंगों को काटने-छाँटने में किसी प्रकार की झिझक नहीं रहनी चाहिये। कभी-कभी धुनों में भी हेरफेर करना आवश्यक होगा और कहीं-कहीं पुरातन शैली में नवीन कथोपकथन नई धुनों में भी बांधने होंगे।

सर्वाधिक ध्यान तो इस बात का रखना पड़ेगा कि ये नाट्य अपनी लोक-शैली का परित्याग नहीं करें। उसके साथ जनता का पारस्परिक भावात्मक लगाव तभी तक बना रहेगा जब तक कि उसकी शैली में कोई परिवर्तन नहीं किया जाय। आधुनिक नाट्यों की तरह इन लोकनाट्यों को कड़े नियमों में भी नहीं बांधा जाय। पात्रों को अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की भी पूरी छूट रहनी चाहिए। उन्हें अपनी उपज एवं अन्तःप्रेरणा से कथोपकथन के विस्तार एवं नियोजन की स्वतन्त्रता हो। दर्शक-प्रदर्शक लोकनाट्यों में एक कुटुम्ब की तरह जुड़े रहते हैं। उन्हें प्रायः सभी नाट्यों के कथोपकथन कंठस्थ होते हैं। यदि उनमें आमूलचूल परिवर्तन करके दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जावे तो यह स्वाभाविक है कि दर्शक ऐसे नाटकों में कोई अपनत्व न बतावें। दर्शक-प्रदर्शक का शारीरिक फासला भी बहुत अधिक नहीं रहे। कभी-कभी रंगस्थल और प्रेक्षस्थल में कोई अन्तर नहीं रहता प्रेक्षस्थल ही कभी-कभी रंगस्थल की अनेक परिस्थितियों में परिवर्तित हो जाता है। कभी प्रेक्षक ही प्रदर्शक बन जाता है और कभी प्रदर्शक प्रेक्षक। अतः लोकनाट्य-संशोधन कार्य में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। कई संशोधक उत्साह ही उत्साह में इन पारम्परिक नाट्यों को इतना बदल देते हैं कि उनके स्वरूप-

परिवर्तन के साथ उनकी आत्मा ही नष्ट हो जाती है। नाटक की वे धुनें जो दर्शकों के कंठों पर सदा ही विराजमान रहती हैं, वे गतें जो नक्कारा-वादक अनेक पीढ़ियों से बजाता है, वे कथोपकथन जो जनजीवन को सहस्रों वर्षों से आह्लादित कर रहे हैं, प्रत्यक्ष में आज की परिस्थिति से मेल भले ही न खाते हों परन्तु दर्शकों की भावनाओं में सराबोर हो चुके हैं। उनमें जहाँ तक हो सके आमूलचूल परिवर्तन न हो। राजस्थान के कुछ लोकनाट्यों ही को लीजिये जैसे ढोला पनिहारिन का ख्याल, ढोलामरवण का ख्याल, गोरी का बालमा का ख्याल, नणद भौजाई का ख्याल, खसम का खेल, मूमल महेन्द्र का ख्याल, बनजारा का ख्याल, सेठ-सेठाणी का ख्याल, बूढ़ा बालम का ख्याल आदि-आदि। इनमें से कुछ के प्रसंग तो ऐसे व्यक्तित्व के साथ जुड़े हुए हैं जिनसे आज का समाज कोई प्रेरणा नहीं लेता। परन्तु इन खेलों की धुनें, उनके कथोपकथन तथा उनकी विविध रंगतों से दर्शक भावात्मक दृष्टि से इतना जुड़ा हुआ होता है कि वह उसमें असीम रस लेता है। कुछ प्रसंग तो ऐसे हैं जिनसे समाज को कोई प्रेरणा नहीं मिलती तथा उनसे किसी प्रकार का सामाजिक आदर्श उपस्थित नहीं होता। उनमें जीवन ऐसे असामाजिक तत्वों से जुड़ा होता है कि उनसे समाज का हित होने की अपेक्षा कभी-कभी अहित ही होता है। फिर भी ऐसे लोकनाट्य लोकरुचि की दृष्टि से अत्यन्त सफल समझे जाते हैं। उनका लालित्य, नाटक के गठन, पात्रों के चारित्रिक गुणों तथा चमत्कारिक परिस्थितियों में नहीं है। उनके कथोपकथन और उनकी मनचली धुनें ही इतनी प्रभावशाली होती हैं कि वे दर्शकों को बाँधे रखती हैं। ये नाट्य बहुधा कथोपकथनप्रधान ही होते हैं। उनका कथानक सर्वदा ही पृष्ठभूमि में रहता है। इन नाट्यों के फड़कते हुये गाने, उछलते हुए नृत्य तथा शृंगार-प्रधान व्यवहार एवं व्यापार ही दर्शकों के लिए अत्यधिक आनन्ददायी होते हैं।

अतः लोकनाट्यों के संशोधन-कार्य में सुधारवादी प्रवृत्ति कारगर सिद्ध नहीं होती। लोकनाट्यों का मुख्य लक्ष्य मनोरंजन तथा आनन्द प्रदान करना है, उपदेश देना और सुधार करना नहीं है। उपदेश प्राप्त करने और जीवनोद्धार के प्रसंगों की जीवन में कोई कमी नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो समाज उसकी इतनी अतिरंजना अनुभव करता है कि वह दिन भर के गंभीर कामों के बाद रात तो विशुद्ध आनन्द-मोद प्राप्त करने में ही लगाना चाहता है। वह उस समय सभी सामाजिक बंधनों से मुक्त होकर अपनी वृत्तियाँ ढीली करके बैठता है। वह प्रतिबन्ध नहीं चाहता। अतः संशोधन-कर्ताओं को उन्हें

कुण्ठित करके गंभीर तत्वों से बोझिल नहीं करना चाहिए। कुछ लेखक नवीन विषयों पर लोकनाट्य लिखने की आकांक्षा रखते हैं। यह कार्य सैद्धान्तिक दृष्टि से असंगत अवश्य लगता है, परन्तु यदि वह सावधानी एवं अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया जाय तो उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नाट्यों की धुनों, प्रस्तुतीकरण-तन्त्र, नर्तन, वादन, रंगमंचीय विधान आदि में परम्परा का ध्यान रखकर यदि नवनाट्य-लेखन का कार्य किया जाय तो श्रेयस्कर होगा। नहीं तो ऐसे नाट्य लोकशैली के नाट्यों में शुमार न होकर आधुनिक रंगत के नाटक ही कहलायेंगे, जिनकी आज कोई कमी नहीं है। ऐसे नाट्य परम्परा-पोषित होते हुए भी जमाने को देखते हुए संक्षिप्त तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से चुस्त होते हैं। उनकी गायन, वादन, नर्तन की धुनें एवं चालें दर्शकों के कंठों पर परम्परा से बैठी हुई तथा कानों को सदा से ही रसभावनी होती है। इन विधाओं के साथ यदि कथानक भी समयानुकूल एवं राष्ट्रोपयोगी हो तो फिर इस कार्य में चार चांद क्यों न लगें? ये जनरुचि को पकड़ने में थोड़ा समय अवश्य लेंगे, परन्तु वे जनमानस में उतरने लगेंगे और कालान्तर में लोक-नाट्यों की श्रेणी प्राप्त कर लेंगे। आज हमारे देश में जो भी लोकनाट्य प्रचलित हैं उनका तन्त्र ही पारम्परिक है। वे सदा ही अपनी हर विधा में जमाने के अनुसार रंगत प्राप्त करते रहते हैं। लच्छीराम लिखित राजस्थान के कुचामणी खेल ५० वर्ष पूर्व लिखे गये थे। और भी कई लेखकों ने इस शैली में खेल लिखे हैं परन्तु उनमें कोई भी ३० वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। फिर भी कुचामणी खेलों की गणना लोकनाट्यों में इसलिए होती है कि उनका समस्त तन्त्र लोकधर्मी नाटकों से पोषित है। गुजरात की भवाई-कला में भी इसी तरह के नवीन प्रयोग हुये हैं, जिनमें नवीन प्रसंगों को पुरातन भवाई परिपाटी में ढालकर भवाई नाट्य को नया परिवेश प्रदान किया गया है। इसी तरह के परिवर्तन बंगाल तथा असम की जात्राओं में भी हुए हैं। यदि पुरातन नाट्य-शैलियों में, विशेष करके उनमें जो निष्प्राण हो गई हैं, इस तरह के वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित प्रयोग हों तो वे नाट्य निश्चय ही सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर लेंगे। समाज का लगाव नाट्य कलेवर से नहीं होता। उसका लगाव होता है खेलों की पारम्परिक गायकी से, उसके विशिष्ट अभिनय-तंत्र एवं तौर तरीकों से। यदि ये सब बातें किसी भी खेल में अक्षुण्ण रहें तो धीरे-धीरे वह लोकनाटक की श्रेणी अवश्य प्राप्त कर लेगा।

अतः संशोधन के दो पहलू हमारे सामने हैं।* एक तो प्रचलित लोक-नाट्यों को कतरने, काटने एवं संपादित करने का और दूसरा उसी परम्परा में

नवीन नाट्यालेखन का। ये दोनों ही पक्ष आवश्यक भी हैं और कष्ट-साध्य भी। देश में जहाँ-जहाँ इस दिशा में विधिवत् कार्य हुआ है वहाँ लोक-नाट्य पुनः प्रतिष्ठापित हुए हैं। महाराष्ट्र का तमाशा, आन्ध्र का यक्षगान, बंगाल की जात्रा, गुजरात का भवाई आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं और जहाँ लोकनाट्य-परम्परा को केवल अपने ही आप जीवन-मरण की घड़ियाँ गिनने के लिए निराधार छोड़ दिया गया है, जैसे राजस्थान का तुर्रा कलंगी, शेखावाटी ख्याल, बीकानेरी रम्मतें आदि, वहाँ लोकनाट्य अपनी अन्तिम साँसे गिन रहे हैं। जहाँ-जहाँ विधिवत् संशोधन, परिवर्धन का कार्य विशेषज्ञों द्वारा हुआ है, वहाँ के संशोधित नाट्य चुस्त हो गये हैं। उनमें नवीन प्राणस्फुरण हुआ है। नृत्यों की रंगत बढ़ गई है। उनके निरर्थक अंश कट गये हैं। जानदार अंश रह गये हैं। उनसे थोड़े समय में अधिकाधिक आनन्द मिलने लगा है। ये नाटक अभी भी गाँव और नगर के खुले चौराहों में होते हैं। उनके रंगमंच सब तरफ से खुले रहते हैं। दर्शकगण घेरा बाँध कर बैठ जाते हैं। पात्र पारम्परिक तरीके से ही अपना परिचय स्वयं देता हुआ आता है। गीतबद्ध कथोपकथन में दर्शक-प्रदर्शकों की कल्पना को पूरी छूट दी जाती है। समस्त नाट्य-प्रस्तुतीकरण में अनौपचारिकता का पूरा ध्यान रखा जाता है। स्थल, स्थान एवं अभिनयक्रम में अपनी स्वयं की परम्परा को निभाते हुए भी ये नाट्य कई बातों में छूट ले लेते हैं। ये सामाजिक कल्पना को तुरन्त पकड़ लेते हैं और तनिक से संरक्षण के बावजूद भी उन्हें देखने, खेलने को देश का दर्शक समाज लालायित रहता है।